

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA

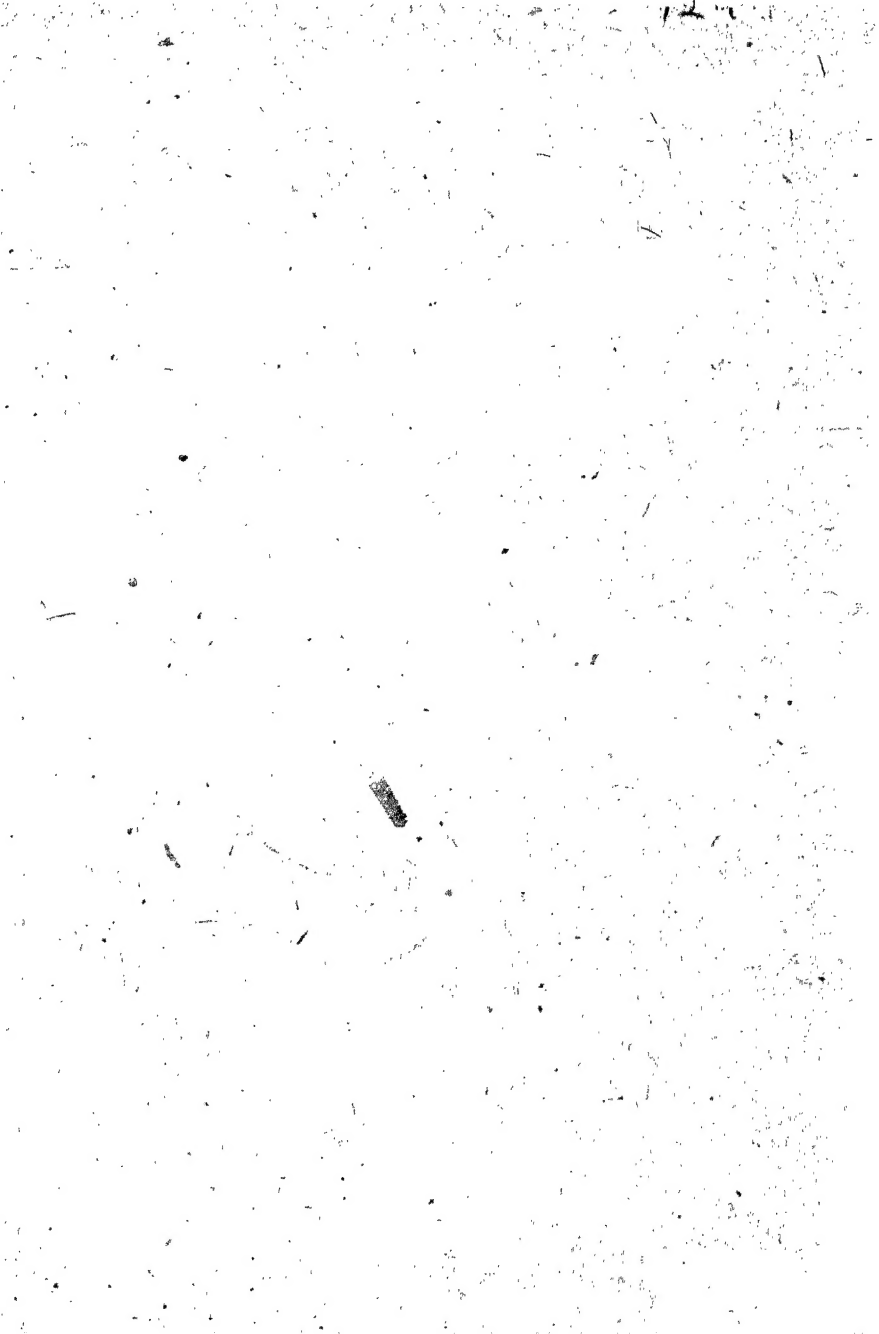
Central Archaeological Library

NEW DELHI

ACC. NO. 72401

CALL NO. Sa2Bh/Sam/Sac

D.G.A 79



श्रीशांकरग्रंथावलि:

CHANDOGYOPANISHAD BHASHYA



SRI SANKARACHARYA

ॐ

श्रीशङ्कराचार्य

COMPLETE WORKS
of
SRI SANKARACHARYA
in the original Sanskrit



72401

VOLUME
IX

CHANDOGYOPANISHAD BHASHYA

SAMATA BOOKS
Madras

CHANDOGYOPANISHAD

BHASHYA

First Published 1910

Samata Revised Edition 1983

72401-24.2-56
Sa 28h
San | Sac
केन्द्रीय पुरातत्व परामर्शालय

© V. Sadanand-1983

Published by V. Sadanand, Samata Books

10 Kamaraj Bhavan, 573 Mount Road, Madras-600 006 India

Printed at All India Press, Pondicherry, India

PRINTED IN INDIA

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्

CHANDOGYOPANISHAD
BHASHYA



॥ श्री शृङ्गेरी श्रीजगद्गुरुमहासंस्थानम् ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य पदवाक्यप्रमाणपारावार-
पारीण यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्य-
ष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्ठ तपश्चक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्न श्रीशङ्करा-
चार्य गुरुपरम्पराप्राप्तषड्दर्शनस्थापनाचार्य व्याख्यान-
सिंहासनाधीश्वर सकलनिगमागमसारहृदय सांख्यत्रयप्रतिपादक
वैदिकमार्गप्रवर्तक सर्वतन्त्रस्वतन्त्रादिराजधानीविद्यानगरमहा-
राजधानीकर्णाटकसिंहासनप्रतिष्ठापनाचार्य श्रीमद्राजाधिराज-
गुरुभूमण्डलाचार्य ऋष्यशृङ्गपुरवराधीश्वर तुङ्गभद्रातीरवासि
श्रीमद्विद्याशङ्करपादपञ्चाराधक श्रीजगद्गुरु श्रीचन्द्रशेखर-
भारतीस्वामिगुरुकरकमलसञ्जात

॥ श्रीजगद्गुरु शृङ्गेरी श्रीमदभिनवविद्यातीर्थस्वामिभिः ॥

अस्मदत्यन्तप्रियशिष्य वेलूरि सदानन्द शर्मविषये नारायण-
स्मरणपुरस्सरं विरचिता आशिषस्समुल्लसन्तु ।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः श्रीमच्छंकरभगवत्पादाचार्याः संसाराम्बुधि-
मग्नानां लोकानां समुद्धरणाय सनातनवैदिकधर्मं सर्वत्र प्रचार्य

प्रस्थानत्रयभाष्यप्रमुखान् ग्रन्थतल्लजान् विलिख्य दिगन्त-
विश्रान्तयशःप्रसरा विरेजिरे ।

भगवत्पादविरचितास्समेपि ग्रन्थाः नैकेनापि प्राकाश्यं नीता
इति हेतोः अस्मत्परमगुरुचरणैराज्ञप्ताः श्री टि के बाल-
सुब्रह्मण्यार्याः श्रीरङ्गस्थ स्वीय वाणीविलासमुद्रणालये
वर्षाणां सप्तत्याः प्राक् शांकरग्रन्थावली नाम्ना सर्वानपि
तान् ग्रन्थान् प्राकाशयन् ।

अधुना पुनस्तेषां ग्रन्थानां दौर्लभ्यमाकलय्य भवान् तानेव
पुनः प्रकाशयितुमिच्छतीति विदित्वा मोदामहे वयम् ।
आशास्महे च भवदीयोयमुद्यमः क्षिप्रमेव साफल्यमेतु लोकाः
भगवत्पादीयान् ग्रन्थानधीत्य औपनिषदं तत्त्वं यथावदवबुध्य
कृतार्था भूयासुरिति ।

शृङ्गगिरिः

दुर्मति चैत्र शुक्ल अष्टमी

रविवासरः

१२-४-१९८१

इति नारायणस्मरणम्



नानाजन्मसु संचितेन तपसा पूतेन चित्तात्मना

मित्रेण प्रतिबोधितेन कुतुकात्सर्वाः कृतीः शांकरीः ।

संमुद्रघ्नं प्रथमं जगद्गुरुपदे भक्त्या मयाद्यापिताः

स्वीकृत्योपहृतिं करोतु गुरुराङ् धन्यं तथेमं जनम् ॥

श्रीमच्छंकरदेशिकेन्द्ररचितान्सर्वान्प्रबन्धान्मुदा

तत्प्रीत्यै परिशोध्य पुस्तकचयैः संमुद्रघ्नं साकं बुधैः ।

तच्छात्रप्रवरालिमध्यविलसच्छ्रीदेशिकेन्द्रेषु ता-

नृत्वाद्योपहृतिं सभक्तिविनयं नूनं कृतार्थोऽस्म्यहम् ॥

सौम्याब्दमाघार्जुनपक्षराजत्सूर्याङ्कतिथ्याश्रितसोमवारे ।

श्रीशंकरार्यप्रतिमाप्रतिष्ठाकाले मयैषोपहृतिर्व्यधायि ॥

श्रीशंकरकृतिमाला गुरुवरतुष्ट्यै समर्पिता मोदात् ।

बालादिमपदभाजा सुब्रह्मण्येन भक्तिनम्रेण ॥ ४ ॥

संप्रदाय परंपरा श्लोकानि

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो वंश-
ऋषिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः । सर्वोपप्लवरहितः
प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि ॥ १ ॥

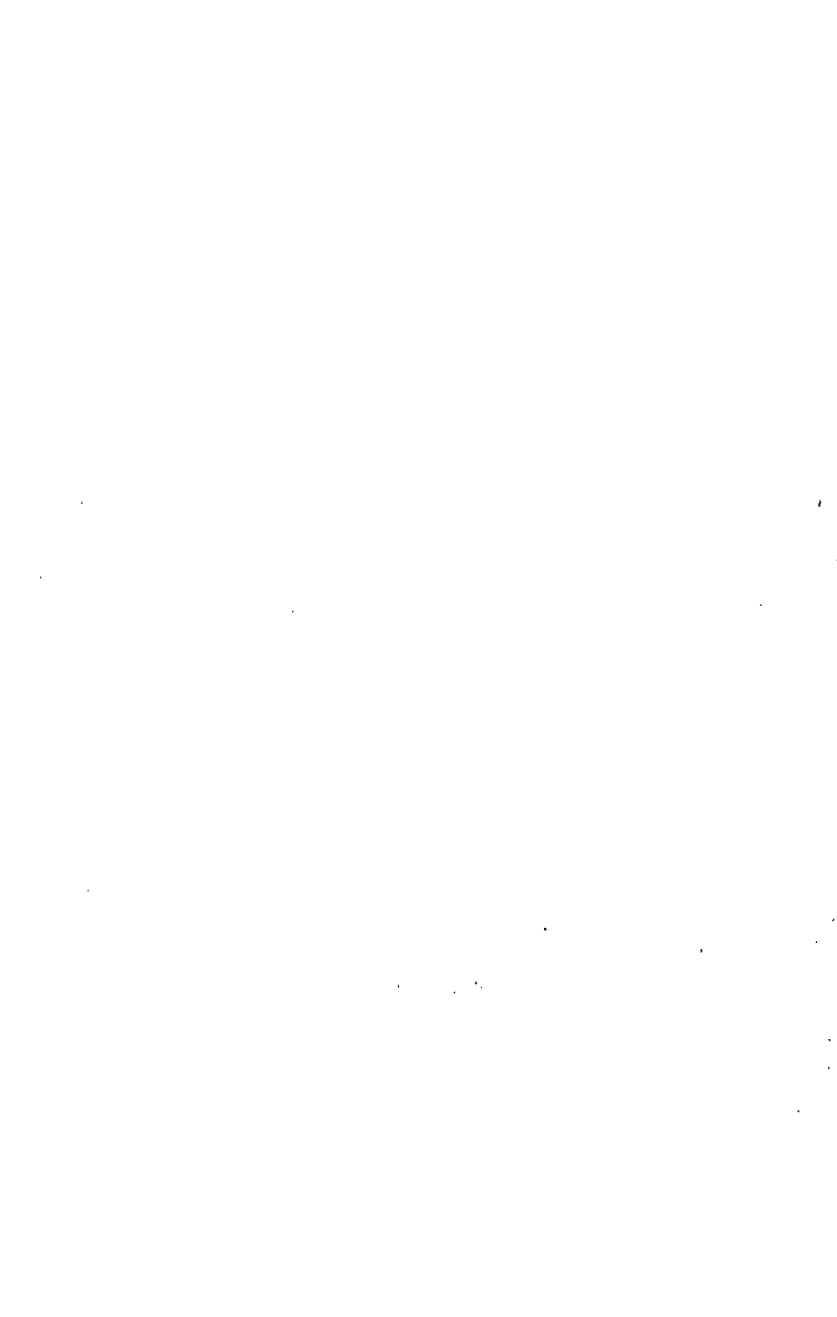
ॐ नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र-
पराशरं च । व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्द-
योगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥ २ ॥

श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च
शिष्यम् । तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरु-
न्संततमानतोऽस्मि ॥ ३ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् । नमामि
भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम् ॥ ४ ॥

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् । सूत्र-
भाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥ ५ ॥

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने । व्योम-
वद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥ ६ ॥



of from Huggins & Co., New Delhi, India. Price Rs. 100/- per 10 vols.

CONTENTS

| | PAGE. |
|-----------------------------|-------|
| CHHANDOGYOPANISHAD-BHASHYA. | |
| CHAPTER 1. | 5 |
| CHAPTER 2. | 81 |
| CHAPTER 3. | 137 |
| CHAPTER 4 | 201 |
| CHAPTER 5 | 257 |
| CHAPTER 6 | 333 |
| CHAPTER 7 | 413 |
| CHAPTER 8 | 469 |

विषयाः

| | | | पृष्ठम् |
|-------------------------|-----|-----|---------|
| छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम् | ... | | |
| प्रथमोऽध्यायः | ... | ... | ५ |
| द्वितीयोऽध्यायः | ... | ... | ८१ |
| तृतीयोऽध्यायः | ... | ... | १३७ |
| चतुर्थोऽध्यायः | ... | ... | २०१ |
| पञ्चमोऽध्यायः | ... | ... | २५७ |
| षष्ठोऽध्यायः | ... | ... | ३३३ |
| सप्तमोऽध्यायः | ... | ... | ४१३ |
| अष्टमोऽध्यायः | ... | ... | ४६९ |



॥ श्रीः ॥

॥ विषयानुक्रमणिक ॥



पृष्ठम्

प्रथमोऽध्यायः

....

५—८०

उपोद्धातः

...

७

ॐकारस्य रसतमत्वासिसमृद्धिगुणानामुक्तिः

...

१०

प्राणदृष्ट्यर्थोकारोपासनम्

...

१९

आदित्यदृष्ट्या प्राणादिदृष्ट्या च उद्गीथस्वरोपासनम्

२९

स्वरशब्दितोकारोपासनम्

....

३७

वागादीनां मुख्यप्राणस्य च रश्मीनामादित्यस्य च अ-

भेददृष्ट्या उद्गीथोपासनस्य निन्दापूर्वकं तेषां पुन-

र्भेददृष्ट्या उद्गीथोपासनम्

...

४१

शिलकदात्म्यजैवलिसंवादः

...

५५

दुर्भिक्षकाले उषस्तेर्देशान्तरगमनं हस्तिपालोच्छिष्टभो-

जनादिप्रस्तावपूर्वकराजयज्ञदर्शनम् ऋत्विक्संवादश्च

६४

राजोषस्ति संवादपूर्वकम् आर्त्विज्यप्रस्तावेन देवताज्ञानम्

७०

कुक्कुरैरुद्गीथोपासनोपदेशः

...

७५

भक्त्यवयवोपासनम्

...

७८

द्वितीयोऽध्यायः

८१—१३६

| | | |
|--|------|-----|
| साधुदृष्ट्या समस्तसामोपासना | ... | ८३ |
| लोकदृष्ट्या हिंकारः प्रस्ताव उद्गीथः प्रतिहारो निधन- | | |
| मिति पञ्चविधसामोपासना | ... | ८६ |
| वृष्टिदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासना | ... | ८९ |
| अबूदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासना | ... | ९० |
| क्रतुदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासना | ... | ९१ |
| पशुदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासना | ... | ९२ |
| प्राणादिदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासना | ... | ९३ |
| वाग्दृष्ट्या हिंकारः प्रस्ताव आदिरुद्गीथः प्रतिहार उप- | | |
| द्रवो निधनमिति सप्तविधसामोपासना | ... | ९५ |
| आदित्यदृष्ट्या सप्तविधसामोपासना | ... | ९६ |
| आदित्यजयेन सप्तविधसामोपासना | ... | १०१ |
| प्राणेषु गायत्रसामोपासना | ... | १०४ |
| अग्नौ रथन्तरसामोपासना | ... | १०५ |
| मिथुने वामदेव्यसामोपासना | ... | १०६ |
| आदित्ये बृहत्सामोपासना | ... | १०८ |
| पर्जन्ये वैरूपसामोपासना | | १०९ |
| ऋतुषु वैराजसामोपासना | ... | ११० |
| पृथिव्यादिदृष्ट्या शक्करीसामोपासना | ... | १११ |
| पशुदृष्ट्या रेवतीसामोपासना | ... | ११२ |

| | | |
|--|------|-----|
| अङ्गदृष्ट्या यज्ञायज्ञीयसामोपासना | ... | ११३ |
| देवतादृष्ट्या राजनसामोपासना | ... | ११४ |
| त्रयीविद्यादिदृष्ट्या सामोपासना | ... | ११५ |
| विनर्दिगुणविशिष्टसामोपासना | | ११७ |
| धर्मस्कन्धेनोक्तारोपासना | ... | १२१ |
| सामोपासनप्रसङ्गेन सामहोममन्त्रोत्थानानि, अज्ञातसा- महोममन्त्रोत्थानस्य कर्मनिषेधश्च | ... | १३१ |

तृतीयोऽध्यायः

१३७—२००

| | | |
|---|------|-----|
| आदित्यादौ मध्वादितृष्टिः | ... | १३९ |
| दक्षिणादिकस्थरश्म्यादौ मधुनाड्यादिदृष्टिः | ... | १४३ |
| पश्चिमदिकस्थरश्म्यादौ मधुनाड्यादिदृष्टिः | ... | १४४ |
| उत्तरदिकस्थरश्म्यादौ मधुनाड्यादिदृष्टिः | ... | १४५ |
| ऊर्ध्वदिकस्थरश्म्यादौ मधुनाड्यादिदृष्टिः | ... | १४६ |
| प्रथमामृतं यद्रोहितादिरूपं वसूपजीवनभूतं तस्योपासनम् | १४८ | |
| द्वितीयामृतं रुद्रोपजीवनभूतं यत्तदुपासनम् | ... | १५१ |
| तृतीयामृतमादित्योपजीवनभूतं यत्तदुपासनम् | | १५२ |
| चतुर्थामृतं मरुदुपजीवनभूतं यत्तदुपासनम् | ... | १५४ |
| पञ्चमामृतं साध्योपजीवनभूतं यत्तदुपासनम् | ... | १५५ |
| भोगक्षये आत्मनि संदृतं सर्वमित्युपासनम् | ... | १५६ |
| गायत्र्या ब्रह्मोपासनम् | ... | १५९ |
| द्वारपालादिगौणोपासनं हृदि मुख्यब्रह्मोपासनम् | ... | १६५ |

| | |
|---|---------|
| सर्वदृष्ट्या ब्रह्मोपासनं मनोमयत्वाद्यारोपेण शाण्डिल्य- | |
| विद्या च | ... १७३ |
| पुत्रदीर्घायुष्ट्वफला विराट्कोशोपासना | ... १७९ |
| आत्मनो दीर्घायुष्ट्वफलात्मयशोपासना | ... १८३ |
| आत्मयशोपासनाङ्गिरसेन देवकीपुत्रायोक्ता अक्षयादि- | |
| फला | ... १८८ |
| मनआदिदृष्ट्या अध्यात्माधिदैविकब्रह्मोपासना | ... १९२ |
| आदित्याण्डदृष्ट्या अध्यात्माधिदैविकब्रह्मोपासना | ... १९६ |

चतुर्थोऽध्यायः

| | |
|---|----------|
| जानश्रुतेर्हंसोक्त्या रैक्निकटे क्षत्तृप्रेरणम् | ... २०३ |
| रैक्काय जानश्रुतेर्धनादिदानम् | ... २०९ |
| आख्यायिकासहिता सर्वोपलब्धिफला संवर्गविद्या | ... २१३ |
| सत्यकामेन ब्रह्मचर्यार्थं गौतमस्य गोचारणम् | ... २१९ |
| बलीवर्दस्य सत्यकामाय ब्रह्मणः प्रथमपादोक्तिः | २२३ |
| अग्नेः सत्यकामाय ब्रह्मणो द्वितीयपादोक्तिः | ... २२५ |
| हंसस्य सत्यकामाय तृतीयपादोक्तिः | ... २२७ |
| मद्रोः सत्यकामाय चतुर्थपादोक्तिः | ... २२९ |
| सत्यकामस्य गुरुकुलं प्रति पुनर्गमनम् | २३१ |
| उपकोसलस्य आत्मविद्या | ... २३३ |
| गार्हपत्याग्निविद्या | ... २३८ |
| अन्वाहार्यपचनाग्निविद्या | ... २४० |

| | |
|-----------------------------|---------|
| आहवनीयाग्निविद्या | ... २४१ |
| अग्नीनामुपकोसलं प्रति वचनम् | ... २४२ |
| अक्षिपुरुषोपासना | ... २४४ |
| यज्ञोपासना | ... २४९ |
| व्याहृत्युपासना | ... २५२ |

पञ्चमोऽध्यायः २५७—३३२

| | |
|--|---------|
| ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणोपासना, इन्द्रियाणां विवादश्च | ... २५९ |
| प्राणस्य अन्नवासोदृष्ट्या उपासनम् | ... २६८ |
| पञ्चाग्निविद्यार्थं श्वेतकेतुप्रवाहणसंवादः | ... २७६ |
| लोकरूपाग्निविद्या | ... २८२ |
| पर्जन्यरूपाग्निविद्या | ... २८५ |
| पृथिवीरूपाग्निविद्या | ... २८६ |
| पुरुषरूपाग्निविद्या | ... २८७ |
| योषिद्रूपाग्निविद्या | ... २८८ |
| योनिद्वारा जातस्य पुनः पुनर्घटीयन्त्रवद्गमनागम- नाय कर्म कुर्वतो मृतस्याग्नये हरणम् | ... २९० |
| आत्मविद्यया उत्तरमार्गः कर्मणा दक्षिणमार्गः | ... २९२ |
| औपमन्यवादिभिः पञ्चभिरुद्दालकेन सहितैः कैके- यस्य संवादः क आत्मा किं ब्रह्मेति | ... ३११ |

| | |
|--|-------------|
| औपमन्यवकैकेयराजसंवादः | ... ३१६ |
| सत्ययज्ञकैकेयराजसंवादः | ... ३१८ |
| इन्द्रद्युम्नकैकेयराजसंवादः | ... ३१९ |
| जनकैकेयसंवादः | ... ३२० |
| बुडिलकैकेयसंवादः | ... ३२१ |
| उद्दालककैकेयसंवादः | ... ३२२ |
| सर्वैः सह कैकेयसंवादः | ... ३२३ |
| विदुषोऽग्निहोत्रसिद्ध्यर्थं प्राणाय स्वाहेति प्रथमाहुतिकथनम् | ३२६ |
| व्यानाय स्वाहेति द्वितीयाहुतिकथनम् | ... ३२८ |
| अपानाय स्वाहेति तृतीयाहुतिकथनम् | ३२८ |
| समानाय स्वाहेति चतुर्थाहुतिकथनम् | ३२९ |
| उदानाय स्वाहेति पञ्चमाहुतिकथनम् | ... ३२९ |
| एवंविदोऽग्निहोत्रफलम् | ... ३३० |
| षष्ठोऽध्यायः | ... ३३३—४१२ |
| श्वेतकेतमुपदिशत्यारुणिः | ... ३३५ |
| अन्यपक्षनिरसनपूर्वकं सर्वस्य जगतः सन्मात्रत्वकथनम् | ३४१ |
| भूतसूक्ष्मात्प्रपञ्चसृष्टिक्रमः | ... ३५२ |
| एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम् | ... ३५७ |
| अन्नाद्यशितं त्रेधा भवतीति | ... ३६३ |

| | |
|--|---------|
| भक्ष्यमाणस्याणीयभागो मनआदिर्भवतीति | ... ३६६ |
| षोडशकलपुरुषोपदेशः | ... ३६८ |
| सुषुप्तिकालस्थित्युपदेशः | ... ३७३ |
| सुषुप्त्यादौ सत्संपन्नानां सत्संपत्तिज्ञानाभावे दृष्टान्तः | ... ३८६ |
| नदीदृष्टान्तेनोपदेशः | ... ३८९ |
| वृक्षदृष्टान्तेनोपदेशः | ... ३९१ |
| न्यग्रोधफलदृष्टान्तेनोपदेशः | ... ३९४ |
| लवणदृष्टान्तेनोपदेशः | ... ३९६ |
| गन्धारदेशादानीतपुरुषदृष्टान्तेनोपदेशः | ... ३९९ |
| सुमूर्षुपुरुषदृष्टान्तेनोपदेशः | ... ४०४ |
| चौरपरशुग्रहणदृष्टान्तेनोपदेशः | ... ४०६ |

सप्तमोऽध्यायः ... ४१३—४६८

| | |
|--------------------------|----------|
| नारदाय सनत्कुमारोपदेशः | ... ४१५ |
| वाक् नाम्नो भूयसीति | ... ४२१ |
| मनो वाचो भूय इति | ... ४२३ |
| संकल्पो मनसो भूयानिति | ... ४२५ |
| चित्तं संकल्पाद्भूय इति | ... ४२९ |
| ध्यानं चित्ताद्भूय इति | ४३१ |
| विज्ञानं ध्यानाद्भूय इति | ... ४३३ |

| | |
|--|---------|
| बलं विज्ञानाद्भूय इति | ... ४३५ |
| अन्नं बलाद्भूय इति | ... ४३७ |
| आप अन्नाद्भूयस्य इति | ... ४३९ |
| तेज अद्भ्यो भूय इति | ... ४४१ |
| आकाशस्तेजसो भूयानिति | ... ४४३ |
| स्मरणम् आकाशाद्भूय इति | ... ४४४ |
| आशा स्मरणाद्भूयसीति | ... ४४६ |
| प्राण आशाया भूयानिति | ... ४४९ |
| सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः | ... ४५३ |
| विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः | ... ४५४ |
| मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ... ४५५ |
| श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ... ४५६ |
| निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ... ४५६ |
| कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ... ४५७ |
| सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः | ... ४५७ |
| भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इत्युपदेशः | ... ४५८ |
| भूम्नः स्वरूपकथनम् | ... ४५९ |
| सर्वत्र स एवेत्युपदेशः | ... ४६२ |
| एवंविदः फलोपदेशः | ... ४६५ |

अष्टमोऽध्यायः

... ४६९—५५३

| | |
|---|---------|
| दहरपुण्डरीके ब्रह्मोपासनम् | ... ४७१ |
| दहरब्रह्मोपासनफलम् | ... ४८१ |
| असत्यापिहितसत्योपासनं सत्यमिति नामाक्षरोपासनं च | ४८४ |
| सेतुरूपात्मोपासना | ... ४९० |
| यज्ञादौ ब्रह्मचर्यदृष्टिः | ... ४९३ |
| हृदयनाडीसूर्यरश्मिपथोपासना | ... ५०० |
| इन्द्रविरोचनयोः प्रजापतिसकाशं गमनम् | ... ५०६ |
| इन्द्रविरोचनयोरुदशरावे आत्मदर्शनम् | ... ५१२ |
| इन्द्रस्य पुनरागमनम् | ... ५१९ |
| इन्द्राय स्वप्नपुरुषोपदेशः | ... ५२३ |
| सुषुप्तपुरुषोपदेशः | ... ५२७ |
| मर्त्यशरीराद्युपदेशः | ... ५३१ |
| श्यामाच्छबलमिति जपार्थमन्त्रः | ... ५४७ |
| कारणत्वेन आकाशाख्यब्रह्मोपदेशः | ... ५४९ |
| परम्परागतमात्मज्ञानमित्युपदेशः | ... ५५१ |

॥ ॐ ॥

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादैः
विरचितम् ।

ॐ

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वा-
क्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बल-
मिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।
सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म
निराकुर्यां मा मा ब्रह्म नि-
राकरोदनिराकरणमस्त्वनि-
राकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि
निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते
मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः





॥ छान्दोग्योपनिषत् ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितेन
भाष्येण सहिता ।



मित्येतदक्षरम्' इत्याद्यष्टाध्यायी
छान्दोग्योपनिषत् । तस्याः संक्षेपतः
अर्थजिज्ञासुभ्यः ऋजुविवरणमल्पप्र-
न्थमिदमारभ्यते । तत्र संबन्धः—
समस्तं कर्माधिगतं प्राणादिदेवतावि-

ज्ञानसहितम् अचिरादिमार्गेण ब्रह्मप्रतिपत्तिकारणम् ; केवलं
च कर्म धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकप्रतिपत्तिकारणम् ; स्वभाव-
वृत्तानां च मार्गद्वयपरिभ्रष्टानां कष्टा अधोगतिरुक्ता ; न

च उभयोर्मार्गयोरन्यतरस्मिन्नपि मार्गे आत्यन्तिकी पुरुषार्थ-
सिद्धिः— इत्यतः कर्मनिरपेक्षम् अद्वैतात्मविज्ञानं संसारगति-
त्यहेतूपमर्देन वक्तव्यमिति उपनिषदारभ्यते । न च अद्वै-
तात्मविज्ञानादन्यत्र आत्यन्तिकी निःश्रेयसप्राप्तिः । वक्ष्यति
हि—‘अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भव-
न्ति’; विपर्यये च—‘स स्वराङ् भवति’—इति । तथा—द्वैत-
विषयानृताभिसंधस्य बन्धनम्, तत्स्करस्येव तत्प्रपरशुग्रहणे
बन्धदाहभावः, संसारदुःखप्राप्तिश्च इत्युक्त्वा—अद्वैतात्मसत्या-
भिसंधस्य, अतस्करस्येव तत्प्रपरशुग्रहणे बन्धदाहभावः, सं-
सारदुःखनिवृत्तिर्भोक्षश्च—इति ॥

अत एव न कर्मसहभावि अद्वैतात्मदर्शनम्; क्रिया-
कारकफलभेदोपमर्देन ‘सत्...एकमेवाद्वितीयम्’ ‘आ-
त्मैवेदं सर्वम्’ इत्येवमादिवाक्यजनितस्य बाधकप्रत्यया-
नुपपत्तेः । कर्मविधिप्रत्यय इति चेत्, न; कर्तृभोक्तृस्वभा-
वविज्ञानवतः तज्जनितकर्मफलरागद्वेषादिदोषवतश्च कर्मवि-
धानात् । अधिगतसकलवेदार्थस्य कर्मविधानात् अद्वैतज्ञान-
वतोऽपि कर्मेति चेत्, न; कर्माधिकृतविषयस्य कर्तृभोक्त्रा-
दिज्ञानस्य स्वाभाविकस्य ‘सत्...एकमेवाद्वितीयम्’ ‘आ-
त्मैवेदं सर्वम्’ इत्यनेनोपमर्दितत्वात् । तस्मात् अविद्यादि-

दोषवत एव कर्माणि विधीयन्ते; न अद्वैतज्ञानवतः । अत एव हि वक्ष्यति—‘सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’ इति ॥

तत्रैतस्मिन्नद्वैतविद्याप्रकरणे अभ्युदयसाधनानि उपासनान्युच्यन्ते, कैवल्यसंनिवृष्टफलानि च अद्वैतादीषद्विकृत-ब्रह्मविषयाणि ‘मनोमयः प्राणशरीरः’ इत्यादीनि, कर्म-समृद्धिफलानि च कर्माङ्गसंबन्धीनि; रहस्यसामान्यात् मनोवृत्तिसामान्याच्च— यथा अद्वैतज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम्, तथा अन्यान्यप्युपासनानि मनोवृत्तिरूपाणि— इत्यस्ति हि सामान्यम् । कस्तर्हि अद्वैतज्ञानस्योपासनानां च विशेषः? उच्यते— स्वाभाविकस्य आत्मन्यक्रियेऽध्यारोपितस्य कर्त्रादिकारकक्रियाफलभेदविज्ञानस्य निवर्तकमद्वैतविज्ञानम्, रज्ज्वादाविव सर्पाद्यध्यारोपलक्षणज्ञानस्य रज्ज्वादिस्वरूपनिश्चयः प्रकाशनिमित्तः; उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन्समानचित्तवृत्तिसंतानकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितम्— इति विशेषः । तान्येतान्युपासनानि सत्त्वशुद्धिकरत्वेन वस्तुतत्त्वावभासकत्वात् अद्वैतज्ञानोपकारकाणि, आलम्बनविषयत्वात् सुखसाध्यानि च—इति पूर्वमुपन्यस्यन्ते । तत्र कर्माभ्यासस्य दृढीकृतत्वात् कर्मपरित्यागेनो-

पासन एव दुःखं चेतःसमर्पणं कर्तुमिति कर्माङ्गविषयमेव
तावत् आदौ उपासनम् उपन्यस्यते ॥

**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओ-
मिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥**

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत— ओमित्येतदक्षरं परमा-
त्मनोऽभिधानं नेदिष्ठम्; तस्मिन्निह प्रयुज्यमाने स प्रसीदति,
प्रियनामग्रहण इव लोकः; तदिह इतिपरं प्रयुक्तम् अभिधाय-
कत्वाद्वावर्तितं शब्दस्वरूपमात्रं प्रतीयते; तथा च अर्चा-
दिवत् परस्यात्मनः प्रतीकं संपद्यते; एवं नामत्वेन प्रती-
कत्वेन च परमात्मोपासनसाधनं श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्व-
वगतम्; जपकर्मस्वाध्यायाद्यन्तेषु च बहुशः प्रयोगात् प्रसि-
द्धमस्य श्रेष्ठ्यम्; अतः तदेतत्, अक्षरं वर्णात्मकम्, उद्गीथम-
क्यवयवत्वादुद्गीथशब्दवाच्यम्, उपासीत— कर्माङ्गावयवभूते
ॐकारे परमात्मप्रतीके दृढामैकाग्र्यलक्षणां मतिं संतनुयात् ।
स्वयमेव श्रुतिः ओंकारस्य उद्गीथशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह—
ओमिति ह्युद्गायति; ओमित्यारभ्य, हि यस्मात्, उद्गायति,
अत उद्गीथ ओंकार इत्यर्थः ।

तस्य उपव्याख्यानम्— तस्य अक्षरस्य, उपव्याख्यानम्

एवमुपासनमेवंविभूत्येवंफलमित्यादिकथनम् उपव्याख्यानम्,
प्रवर्तत इति वाक्यशेषः—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या
आपो रसः । अपामोषधयो रस ओष-
धीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच
ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो
रसः ॥ २ ॥

एषां चराचराणां भूतानां पृथिवी रसः गतिः परायण-
मवष्टम्भः ; पृथिव्या आपः रसः— अप्सु हि ओता च प्रोता
च पृथिवी ; अतः ताः रसः पृथिव्याः । अपाम् ओषधयः रसः,
अप्परिणामत्वादोषधीनाम् ; तासां पुरुषो रसः, अन्नपरि-
णामत्वात्पुरुषस्य ; तस्यापि पुरुषस्य वाक् रसः— पुरुषाव-
यवानां हि वाक् सारिष्ठा, अतो वाक् पुरुषस्य रस
उच्यते ; तस्या अपि वाचः, ऋक् रसः सारतरा ; ऋचः
साम रसः सारतरम् ; तस्यापि साम्नः उद्गीथः प्रकृतत्वादौ-
कारः सारतरः ॥

स एष रसानां रसतमः परमः परा-
ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

एवम्— स एषः उद्गीथाख्य ऐकारः, भूतादीनामुत्तरोत्तररसानाम्, अतिशयेन रसः रसतमः; परमः, परमात्मप्रतीकत्वात्; परार्ध्यः—अर्धं स्थानम्, परं च तदर्धं च परार्धम्, तदर्हतीति परार्ध्यः,— परमात्मस्थानार्हः, परमात्मवदुपास्यत्वादित्यभिप्रायः; अष्टमः— पृथिव्यादिरससंख्यायाम्; यदुद्गीथः य उद्गीथः ॥

**कतमा कतमर्कतमत्कतमत्साम कतमः
कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥**

वाच ऋग्रसः..... इत्युक्तम्; कतमा सा ऋक्? कतमत्तत्साम? कतमो वा स उद्गीथः? कतमा कतमेति वीप्सा आदरार्था । ननु 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' इति डतमच्चप्रत्ययः इष्टः; न हि अत्र ऋग्जातिबहुत्वम्; कथं डतमच्चप्रयोगः? नैष दोषः; जातौ परिप्रश्नो जातिपरिप्रश्नः—इत्येतस्मिन्विग्रहे जातावृग्व्यक्तीनां बहुत्वोपपत्तेः, न तु जातेः परिप्रश्न इति विगृह्यते । ननु जातेः परिप्रश्नः—इत्यस्मिन्विग्रहे 'कतमः कठः' इत्याद्युदाहरणमुपपन्नम्, जातौ परिप्रश्न इत्यत्र तु न युज्यते—तत्रापि कठादिजातावेव व्यक्तिबहुत्वाभिप्रायेण परिप्रश्न इत्यदोषः । यदि जातेः परिप्रश्नः स्यात्, 'कतमा कतमर्क्' इत्या-

दावुपसंख्यानं कर्तव्यं स्यात् । विमृष्टं भवति विमर्शः कृतो भवति ॥

**वागेवक्प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गी-
थः । तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्च-
क्च साम च ॥ ५ ॥**

विमर्शे हि कृते सति, प्रतिवचनोक्तिरुपपन्ना— वागेव ऋक् प्राणः साम ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः इति । वागृचोरेक-
त्वेऽपि न अष्टमत्वव्याघातः, पूर्वस्मात् वाक्यान्तरत्वात्; आ-
ग्निगुणसिद्धये हि ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः इति । वाक्प्राणौ
ऋक्सामयोनी इति वागेव ऋक् प्राणः साम इत्युच्यते; यथा-
क्रमम् ऋक्सामयोन्योर्वाक्प्राणयोर्ग्रहणे हि सर्वासामृचां स-
र्वेषां च सान्नामवरोधः कृतः स्यात्; सर्वकर्सामवरोधे च
ऋक्सामसाध्यानां च सर्वकर्मणामवरोधः कृतः स्यात्; तद-
वरोधे च सर्वे कामा अवरुद्धाः स्युः । ओमित्येतदक्षरम्
उद्गीथः इति भक्त्याशङ्का निवर्त्यते । तद्वा एतत् इति मिथुनं
निर्दिश्यते । किं तन्मिथुनमिति, आह— यद्वाक्च प्राणश्च
सर्वकर्सामकारणभूतौ मिथुनम्; ऋक्च साम चेति ऋक्सा-
मकारणौ ऋक्सामशब्दोक्तावित्यर्थः; न तु स्वातन्त्र्येण ऋक्च

साम च मिथुनम् । अन्यथा हि वाक्प्राणश्च इत्येकं मिथुनम्,
ऋक्साम च अपरम्, इति द्वे मिथुने स्याताम्; तथा च
तद्वा एतन्मिथुनम् इत्येकवचननिर्देशोऽनुपपन्नः स्यात्;
तस्मात् ऋक्सामयोन्योर्वाक्प्राणयोरेव मिथुनत्वम् ॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे स५
सृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत
आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

तदेतत् एवंलक्षणं मिथुनम् ओमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्य-
ते; एवं सर्वकामाप्तिगुणविशिष्टं मिथुनम् ओंकारे संसृष्टं
विद्यत इति ओंकारस्य सर्वकामाप्तिगुणवत्त्वं सिद्धम्;
वाङ्मयत्वम् ओंकारस्य प्राणनिष्पाद्यत्वं च मिथुनेन संसृष्टत्व-
म् । मिथुनस्य कामापयितृत्वं प्रसिद्धमिति दृष्टान्त उच्यते—
यथा लोके मिथुनौ मिथुनावयवौ स्त्रीपुंसौ यदा समाग-
च्छतः प्राम्यधर्मतया संयुज्येयातां तदा आपयतः प्रापयतः
अन्योन्यस्य इतरेतरस्य तौ कामम्, तथा स्वात्मानुप्रवि-
ष्टेन मिथुनेन सर्वकामाप्तिगुणवत्त्वम् ओंकारस्य सिद्धमि-
त्यभिप्रायः ॥

तदुपासकोऽप्युद्गाता तद्धर्मा भवतीत्याह—

आपयिता ह वै कामानां भवति य
एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

आपयिता ह वै कामानां यजमानस्य भवति, य एतत्
अक्षरम् एवम् आप्तिगुणवत् उद्गीथम् उपास्ते, तस्य एतद्यथोक्तं
फलमित्यर्थः, 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति
श्रुतेः ॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्वि किंचानुजा-
नात्योमित्येव तदाहैषो एव समृद्धिर्यद-
नुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति
य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

समृद्धिगुणवांश्च ओंकारः ; कथम् ? तत् वै एतत् प्रकृतम् ,
अनुज्ञाक्षरम् अनुज्ञा च सा अक्षरं च तत् ; अनुज्ञा च अनु-
मतिः, ओंकार इत्यर्थः । कथमनुज्ञेति, आह श्रुतिरेव—यद्वि
किंच यत्किंच लोके ज्ञानं धनं वा अनुजानाति विद्वान् धनी
वा, तत्रानुमतिं कुर्वन् ओमित्येव तदाह ; तथा च वेदे 'त्रय-
स्त्रिंशदित्योमिति होवाच' इत्यादि ; तथा च लोकेऽपि तवेदं
धनं गृह्णामि इत्युक्ते ओमित्येव आह । अत एषा उ एव एषैव
हि समृद्धिः यदनुज्ञा या अनुज्ञा सा समृद्धिः, तन्मूलत्वादनु-

ज्ञायाः; समृद्धो हि ओमित्यनुज्ञां ददाति; तस्मात् समृद्धि-
गुणवानोऽङ्कार इत्यर्थः । समृद्धिगुणोपासकत्वात् तद्धर्मा सन्
समर्धयिता ह वै कामानां यजमानस्य भवति; य एतदेवं
विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते इत्यादि पूर्ववत् ॥

तेनेयं त्रयीविद्या वर्तते ओमित्याश्रा-
वयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायत्येतस्यै-
वाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥

अथ इदानीमक्षरं स्तौति, उपास्यत्वात्, प्ररोचनार्थम्;
कथम्? तेन अक्षरेण प्रकृतेन इयम् ऋग्वेदादिलक्षणा त्रयी-
विद्या, त्रयीविद्याविहितं कर्मेत्यर्थः— न हि त्रयीविद्यैव—
आश्रावणादिभिर्वर्तते । कर्म तु तथा प्रवर्तत इति प्रसिद्धम्;
कथम्? ओमित्याश्रावयति ओमिति शंसति ओमित्युद्गायति;
लिङ्गाच्च सोमयाग इति गम्यते । तच्च कर्म एतस्यैव अक्ष-
रस्य अपचित्यै पूजार्थम्; परमात्मप्रतीकं हि तत्; तदप-
चितिः परमात्मन एव स्यात्, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं
विन्दति मानवः' इति स्मृतेः । किञ्च, एतस्यैवाक्षरस्य
महिम्ना महत्त्वेन ऋत्विग्यजमानादिप्राणैरित्यर्थः; तथा एत-
स्यैवाक्षरस्य रसेन ब्रीहियवादिरसनिर्वृत्तेन हविषेत्यर्थः;

यागहोमादि अक्षरेण क्रियते; तच्च आदित्यमुपतिष्ठते ;
ततो वृष्ट्यादिक्रमेण प्राणोऽन्नं च जायते; प्राणैरन्नेन च
यज्ञस्तायते; अत उच्यते—अक्षरस्य महिम्ना रसेन इति ॥

तत्र अक्षरविज्ञानवतः कर्म कर्तव्यमिति स्थितमा-
क्षिपति—

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न
वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव
विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव
वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्यो-
पव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

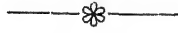
इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

तेन अक्षरेण उभौ कुरुतः, यश्च एतत् अक्षरम् एवं यथा-
व्याख्यातं वेद, यश्च कर्ममात्रवित् अक्षरयाथात्म्यं न वेद, ता-
वुभौ कुरुतः कर्म; तयोश्च कर्मसामर्थ्यादेव फलं स्यात्, किं
तत्राक्षरयाथात्म्यविज्ञानेन इति; दृष्टं हि लोके हरीतकीं भक्ष-
यतोः तद्रसाभिज्ञेतरयोः विरेचनम्—नैवम्; यस्मात् नाना
तु विद्या च अविद्या च, भिन्ने हि विद्याविद्ये, तु-शब्दः

पक्षव्यावृत्त्यर्थः; न ओंकारस्य कर्माङ्गत्वमात्रविज्ञानमेव
 रसतमाप्तिसमृद्धिगुणवद्विज्ञानम्; किं तर्हि? ततोऽभ्यधि-
 कम्; तस्मात् तदङ्गाधिक्यात् तत्फलाधिक्यं युक्तमित्यभि-
 प्रायः; दृष्टं हि लोके वणिक्शबरयोः पद्मरागादिमणिवि-
 क्रये वणिजो विज्ञानाधिक्यात् फलाधिक्यम्; तस्मात् यदेव
 विद्यया विज्ञानेन युक्तः सन् करोति कर्म श्रद्धया श्रद्धानश्च
 सन्, उपनिषदा योगेन युक्तश्चेत्यर्थः, तदेव कर्म वीर्यवत्तरम्
 अविद्वत्कर्मणोऽधिकफलं भवतीति; विद्वत्कर्मणो वीर्यवत्त-
 रत्ववचनादविदुषोऽपि कर्म वीर्यवदेव भवतीत्यभिप्रायः ।
 न च अविदुषः कर्मण्यनधिकारः, औषस्थे काण्डे अविदु-
 षामप्यार्त्विज्यदर्शनात् । रसतमाप्तिसमृद्धिगुणवदक्षरमित्ये-
 कमुपासनम्, मध्ये प्रयत्नान्तरादर्शनात्; अनेकैर्हि विशे-
 षणैः अनेकधा उपास्यत्वात् खलु एतस्यैव प्रकृतस्य उद्गीथा-
 ख्यस्य अक्षरस्य उपठ्याख्यानं भवति ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः ॥



देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे उभये
प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्रीथमाजहुरनेनै-
नानभिभविष्याम इति ॥ १ ॥

देवासुराः देवाश्च असुराश्च; देवाः दीन्यतेद्योतनार्थस्य
शास्त्रोद्भासिता इन्द्रियवृत्तयः; असुराः तद्विपरीताः स्वेष्वे-
वासुषु विष्वग्विषयासु प्राणनक्रियासु रमणात् स्वाभाविक्यः
तमआत्मिका इन्द्रियवृत्तय एव; ह वै इति पूर्ववृत्तोद्भास-
कौ निपातौ; यत्र यस्मिन्निमित्ते इतरेतरविषयापहारलक्षणे
संयेतिरे, संपूर्वस्य यततेः संग्रामार्थत्वमिति, संग्रामं कृतवन्त
इत्यर्थः । शास्त्रीयप्रकाशवृत्त्यभिभवनाय प्रवृत्ताः स्वाभावि-
क्यस्तमोरूपा इन्द्रियवृत्तयः असुराः, तथा तद्विपरीताः
शास्त्रार्थविषयविवेकज्योतिरात्मानः देवाः स्वाभाविकतमो-
रूपासुराभिभवनाय प्रवृत्ताः इति अन्योन्याभिभवोद्भवरूपः
संग्राम इव, सर्वप्राणिषु प्रतिदेहं देवासुरसंग्रामो अनादिका-
लप्रवृत्त इत्यभिप्रायः । स इह श्रुत्या आख्यायिकारूपेण धर्मा-

धर्मोत्पत्तिविवेकविज्ञानाय कथ्यते प्राणविशुद्धिविज्ञानविधि-
परतया । अतः उभयेऽपि देवासुराः, प्रजापतेरपत्यानीति प्रा-
जापत्याः— प्रजापतिः कर्मज्ञानाधिकृतः पुरुषः, ‘पुरुष ए-
वोक्तमयमेव महान्प्रजापतिः’ इति श्रुत्यन्तरात् ; तस्य हि
शास्त्रीयाः स्वाभाविक्यश्च करणवृत्तयो विरुद्धाः अपत्यानीव,
तदुद्भवत्वात् । तत् तत्र उत्कर्षापकर्षलक्षणनिमित्ते ह देवाः उ-
द्गीथम् उद्गीथभक्त्युपलक्षितमौद्गात्रं कर्म आजहुः आहतव-
न्तः ; तस्यापि केवलस्य आहरणासंभवात् ज्योतिष्टोमाद्या-
हतवन्त इत्यभिप्रायः । तत्किमर्थमाजहुरिति, उच्यते—अ-
नेन कर्मणा एनान् असुरान् अभिभविष्याम इति एवमभि-
प्रायाः सन्तः ॥

यदा च तदुद्गीथं कर्म आजिहीर्षवः, तदा—

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासां-
चक्रिरे तं हासुराः पाप्मना विविधुस्त-
स्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गेन्धि
च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ २ ॥

ते ह देवाः नासिक्यं नासिकायां भवं प्राणं चेतनावन्तं
प्राणम् उद्गीथकर्तारम् उद्गातारम् उद्गीथभक्त्या उपासांचक्रिरे

उपासनं कृतवन्त इत्यर्थः ; नासिक्यप्राणदृष्ट्या उद्गीथाख्यम-
 क्षरमोकारम् उपासांचक्रिरे इत्यर्थः । एवं हि प्रकृतार्थपरित्यागः
 अप्रकृतार्थोपादानं च न कृतं स्यात्—‘खल्वेतस्याक्षरस्य’
 इत्योङ्कारो हि उपास्यतया प्रकृतः । ननु उद्गीथोपलक्षितं
 कर्म आहृतवन्त इत्यवोचः ; इदानीमेवं कथं नासिक्यप्राण-
 दृष्ट्या उद्गीथाख्यमक्षरमोकारम् उपासांचक्रिर इत्यात्थ ?
 नैष दोषः ; उद्गीथकर्मण्येव हि तत्कर्तृप्राणदेवतादृष्ट्या उ-
 द्गीथभक्त्यवयवश्च ओङ्कारः उपास्यत्वेन विवक्षितः, न स्व-
 तन्त्रः ; अतः तादर्थ्येन कर्म आहृतवन्त इति युक्तमेवोक्तम् ।
 तम् एवं देवैर्वृतमुद्रातारं ह असुराः स्वाभाविकतमआत्मानः
 ज्योतीरूपं नासिक्यं प्राणं देवं स्वकीयेन पाप्मना अधर्मा-
 सङ्गरूपेण विविधुः विद्धवन्तः, संसर्गं कृतवन्त इत्यर्थः ।
 स हि नासिक्यः प्राणः कल्याणगन्धग्रहणाभिमानासङ्गा-
 भिभूतविवेकविज्ञानो बभूव ; स तेन दोषेण पाप्मसंसर्गी
 बभूव ; तदिदमुक्तमसुराः पाप्मना विविधुरिति । यस्मादा-
 सुरेण पाप्मना विद्धः, तस्मात् तेन पाप्मना प्रेरितः प्राणः
 दुर्गन्धग्राहकः प्राणिनाम् । अतः तेन उभयं जिघ्रति लोकः
 सुरभि च दुर्गन्धि च, पाप्मना हि एषः यस्मात् विद्धः ।
 उभयग्रहणम् अविवक्षितम्—‘यस्योभयं हविरार्तिमाच्छति’

इति यद्वत्; 'यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति' इति समान-
प्रकरणश्रुतेः ॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे ताऽ-
हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं
वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा
विद्धा ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धा-
सुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं प-
श्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना
ह्येतद्विद्धम् ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे त-
द्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभ-
यः शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च
पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धा-
सुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयः

**संकल्पते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च
पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥**

मुख्यप्राणस्य उपास्यत्वाय तद्विशुद्धत्वानुभवार्थः अयं विचारः श्रुत्या प्रवर्तितः । अतः चक्षुरादिदेवताः क्रमेण विचार्य आसुरेण पाप्मना विद्धा इत्यपोह्यन्ते । समानमन्यत् — अथ ह वाचं चक्षुः श्रोत्रं मन इत्यादि । अनुक्ता अप्यन्याः त्वग्रसनादिदेवताः द्रष्टव्याः, ‘एवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिः’ इति श्रुत्यन्तरात् ॥

**अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गी-
थमुपासांचक्रिरे तं हासुरा ऋत्वा विद-
ध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेतै-
वम् ॥ ७ ॥**

आसुरेण पाप्मना विद्धत्वात् प्राणादिदेवताः अपोह्य, अथ अनन्तरम्, ह, य एवायं प्रसिद्धः, मुखे भवः मुख्यः प्राणः, तम् उद्गीथम् उपासांचक्रिरे, तं ह असुराः पूर्ववत् ऋत्वा प्राप्य विदध्वंसुः विनष्टाः, अभिप्रायमात्रेण, अकृत्वा किञ्चिदपि प्राणस्य ; कथं विनष्टा इति, अत्र दृष्टान्तमाह—यथा लोके अश्मानम् आखणम्— न शक्यते खनितुं कुदालादिभिरपि,

टङ्कैश्च छेत्तुं न शक्यः अखनः, अखन एव आखणः, तम्—
 ऋत्वा—सामर्थ्यात् लोष्टः पांसुपिण्डः, श्रुत्यन्तराच्च—अश्मनि
 क्षिप्तः अश्मभेदनाभिप्रायेण, तस्य अश्मनः किञ्चिदप्यकृत्वा
 स्वयं विध्वंसेत विदीर्येत—एवं विदध्वंसुरित्यर्थः । एवं वि-
 शुद्धः असुरैरधर्षितत्वात् प्राणः इति ॥

यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसते
 एव५ हैव स विध्वंसते य एवंविदि पापं
 कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्मा-
 खणः ॥ ८ ॥

एवंविदः प्राणात्मभूतस्य इदं फलमाह—यथाश्मानमिति ।
 एष एव दृष्टान्तः ; एवं हैव स विध्वंसते विनश्यति ; कोऽसा-
 विति, आह—य एवंविदि यथोक्तप्राणविदि पापं तदनर्हं कर्तुं
 कामयते इच्छति यश्चापि एनम् अभिदासति हिनस्ति प्राणविदं
 प्रति आक्रोशताडनादि प्रयुङ्क्ते, सोऽप्येवमेव विध्वंसत इत्यर्थः ;
 यस्मात् स एष प्राणवित् प्राणभूतत्वात् अश्माखण इव अश्मा-
 खणः अधर्षणीय इत्यर्थः । ननु नासिक्योऽपि प्राणः वाय्वा-
 त्मा, यथा मुख्यः ; तत्र नासिक्यः प्राणः पाप्मना विद्धः—
 प्राण एव सन्, न मुख्यः—कथम् ? नैष दोषः ; नासिक्यस्तु

स्थानकरणवैगुण्यात् असुरैः पाप्मना विद्धः, वाय्वात्मापि सन्; मुख्यस्तु तदसंभवात् स्थानदेवताबलीयस्त्वात् न विद्ध इति श्लिष्टम्—यथा वास्यादयः शिक्षावत्पुरुषाश्रयाः कार्यविशेषं कुर्वन्ति, न अन्यहस्तगताः, तद्वत् दोषवद्ग्राणस-
चिवत्वाद्विद्धा घ्राणदेवता, न मुख्यः ॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्य-
पहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिब-
ति तेनेतरान्प्राणानवति एतमु एवान्त-
तोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इ-
ति ॥ ९ ॥

यस्मान्न विद्धः असुरैः मुख्यः, तस्मात् नैव एतेन सुरभि न दुर्गन्धि च विजानाति लोकः; घ्राणेनैव तदुभयं विजानाति; अतश्च पाप्मकार्यदर्शनात् अपहतपाप्मा अपहतः विनाशितः अपनीतः पाप्मा यस्मात् सोऽयमपहतपाप्मा हि एषः, विशुद्ध इत्यर्थः । यस्माच्च आत्मंभरयः कल्याणाद्यासङ्गवत्त्वात् घ्राणादयः— न तथा आत्मंभरिर्मुख्यः; किं तर्हि? सर्वार्थः; कथमिति, उच्यते—तेन मुख्येन यदश्नाति यत्पिबति लोकः तेन अश्लिष्टेन पीतेन च इतरान

प्राणान् घ्राणादीन् अवति पालयति ; तेन हि तेषां स्थिति-
 भवतीत्यर्थः ; अतः सर्वभरिः प्राणः ; अतो विशुद्धः । कथं
 पुनर्मुख्याशितपीताभ्यां स्थितिः इतरेषां गम्यत इति, उच्यते—
 एतमु एव मुख्यं प्राणं मुख्यप्राणस्य वृत्तिम्, अन्नपाने इत्यर्थः,
 अन्ततः अन्ते मरणकाले अवित्र्वा अलब्ध्वा उत्क्रामति,
 घ्राणादिप्राणसमुदाय इत्यर्थः ; अप्राणो हि न शक्नोत्यशितुं
 पातुं वा ; तदा उत्क्रान्तिः प्रसिद्धा घ्राणादिकलापस्य ;
 दृश्यते हि उत्क्रान्तौ प्राणस्याशिशिषा, यतः व्याददा-
 त्येव, आस्यविदारणं करोतीत्यर्थः ; तद्धि अन्नालाभे उत्क्रा-
 न्तस्य लिङ्गम् ॥

त० हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु

एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

तं ह अङ्गिराः— तं मुख्यं प्राणं ह अङ्गिरा इत्येवंगुणम्
 उद्गीथम् उपासांचक्रे उपासनं कृतवान्, बको दालभ्य इति
 वक्ष्यमाणेन संबध्यते ; तथा बृहस्पतिरिति, आयास्य इति
 च उपासांचक्रे बकः इत्येवं संबन्धं कृतवन्तः केचित्,
 एतमु एवाङ्गिरसं बृहस्पतिमायास्यं प्राणं मन्यन्ते— इति
 वचनात् । भवत्येवं यथाश्रुतासंभवे ; संभवति तु यथाश्रुतम्
 ऋषिचोदनायामपि—श्रुत्यन्तरवत्—‘तस्माच्छतर्चिन इत्याच-

क्षते एतमेव सन्तम्' ऋषिमपि ; तथा माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिः इत्यादीन् ऋषीनेव प्राणमापादयति श्रुतिः ; तथा तानपि ऋषीन् प्राणोपासकान् अङ्गिरोबृहस्पत्यायास्यान् प्राणं करोत्यभेदविज्ञानाय— 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' इत्यादिवच्च । तस्मात् ऋषिः अङ्गिरा नाम, प्राण एव सन्, आत्मानमङ्गिरसं प्राणमुद्गीथम् उपासांचक्रे इत्येतत् ; यत् यस्मात् सः अङ्गानां प्राणः सन् रसः, तेनासौ अङ्गिरसः ॥

तेन त५ ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र
एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्धि बृह-
ती तस्या एष पतिः ॥ ११ ॥

तथा वाचो बृहत्याः पतिः तेनासौ बृहस्पतिः ॥

तेन त५ हायास्य उद्गीथमुपासांचक्र
एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥

तथा यत् यस्मात् आस्यात् अयते निर्गच्छति तेन आयास्यः ऋषिः प्राण एव सन् इत्यर्थः । तथा अन्योऽप्युपासकः आत्मानमेव आङ्गिरसादिगुणं प्राणमुद्गीथमुपासीतेत्यर्थः ॥

तेन त५ ह बको दाल्भ्यो विदांचकार ।

स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव स ह
स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

न केवलमङ्गिरःप्रभृतय उपासांचक्रिरे; तं ह बको नाम
दल्भस्यापत्यं दाल्भ्यः विदांचकार यथादर्शितं प्राणं विज्ञा-
तवान्; विदित्वा च स ह नैमिशीयानां सन्निधौ उद्गाता
बभूव; स च प्राणविज्ञानसामर्थ्यात् एभ्यः नैमिशीयेभ्यः
कामान् आगायति स्म ह आगीतवान्किलेत्यर्थः ॥

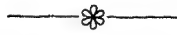
आगाता ह वै कामानां भवति य ए-
तदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्या-
त्मम् ॥ १४ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

तथा अन्योऽप्युद्गाता आगाता ह वै कामानां भवति;
य एतत् एवं विद्वान् यथोक्तगुणं प्राणम् अक्षरमुद्गीथमुपास्ते,
तस्य एतद्दृष्टं फलम् उक्तम्, प्राणात्मभावस्त्वदृष्टम्— 'देवो
भूत्वा देवानप्येति' इति श्रुत्यन्तरात्सिद्धमेवेत्यभिप्रायः। इत्य-
ध्यात्मम्—एतत् आत्मविषयम् उद्गीथोपासनम् इति उक्तोपसं-
हारः, अधिदैवतोद्गीथोपासने वक्ष्यमाणे, बुद्धिसमाधानार्थः ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः ॥



अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमु-
द्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गा-
यति । उद्य५स्तमो भयमपहन्यपहन्ता
ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं
वेद ॥ १ ॥

अथ अनन्तरम् अधिदैवतं देवताविषयमुद्गीथोपासनं प्र-
स्तुतमित्यर्थः, अनेकधा उपास्यत्वादुद्गीथस्य ; य एवासौ आ-
दित्यः तपति, तम् उद्गीथमुपासीत आदित्यदृष्ट्या उद्गीथमुपा-
सीतेत्यर्थः ; तमुद्गीथम् इति उद्गीथशब्दः अक्षरवाची सन्
कथमादित्ये वर्तत इति, उच्यते— उद्यन् उद्गच्छन् वै एषः
प्रजाभ्यः प्रजार्थम् उद्गायति प्रजानामन्नोत्पत्त्यर्थम् ; न हि
अनुद्यति तस्मिन्, व्रीह्यादेः निष्पत्तिः स्यात् ; अतः उद्गाय-
तीवोद्गायति— यथैवोद्गाता अन्नार्थम् ; अतः उद्गीथः सविते-
त्यर्थः । किञ्च उद्यन् नैशं तमः तज्जं च भयं प्राणिनाम् अप-
हन्ति ; तमेवंगुणं सवितारं यः वेद, सः अपहन्ता नाशयिता

ह वै भयस्य जन्ममरणादिलक्षणस्य आत्मनः तमसश्च तत्कारणस्याज्ञानलक्षणस्य भवति ॥

यद्यपि स्थानभेदात्प्राणादित्यौ भिन्नाविव लक्ष्येते, तथापि न स तत्त्वभेदस्तयोः । कथम्—

समान उ एवायं चासौ उष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

समान उ एव तुल्य एव प्राणः सवित्रा गुणतः, सविता च प्राणेन ; यस्मात् उष्णोऽयं प्राणः उष्णश्चासौ सविता । किंच स्वर इति इमं प्राणमाचक्षते कथयन्ति, तथा स्वर इति प्रत्यास्वर इति च अमुं सवितारम् ; यस्मात् प्राणः स्वरत्येव न पुनर्मृतः प्रत्यागच्छति, सविता तु अस्तमित्वा पुनरप्यहन्यहनि प्रत्यागच्छति, अतः प्रत्यास्वरः ; अस्मात् गुणतो नामतश्च समानावितरेतरं प्राणादित्यौ । अतः तत्त्वाभेदात् एतं प्राणम् इमम् अमुं च आदित्यम् उद्गीथमुपासीत ॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सो-

उपानः । अथ यः प्राणापानयोः संधिः स
व्यानो यो व्यानः सा वाक् । तस्मादप्रा-
णन्नपानन्वाचमभिव्याहरति ॥ ३ ॥

अथ खलु इति प्रकारान्तरेणोपासनमुद्गीथस्योच्यते ;
व्यानमेव वक्ष्यमाणलक्षणं प्राणस्यैव वृत्तिविशेषम् उद्गीथम्
उपासीत । अधुना तस्य तत्त्वं निरूप्यते—यद्वै पुरुषः
प्राणिति मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निःसारयति, स प्रा-
णाख्यो वायोवृत्तिविशेषः ; यदपानिति अपश्चसिति ताभ्या-
मेवान्तराकर्षति वायुम्, सः अपानः अपानाख्या वृत्तिः ।
ततः किमिति, उच्यते—अथ यः उक्तलक्षणयोः प्राणापा-
नयोः संधिः तयोरन्तरा वृत्तिविशेषः, सः व्यानः ; यः
सांख्यादिशास्त्रप्रसिद्धः, श्रुत्या विशेषनिरूपणात्—नासौ व्यान
इत्यभिप्रायः । कस्मात्पुनः प्राणापानौ हित्वा महता आया-
सेन व्यानस्यैवोपासनमुच्यते ? वीर्यवत्कर्महेतुत्वात् । कथं
वीर्यवत्कर्महेतुत्वमिति, आह—यः व्यानः सा वाक्, व्या-
नकार्यत्वाद्वाचः । यस्माद्व्याननिर्वर्त्या वाक्, तस्मात् अप्राण-
न्नपानन् प्राणापानव्यापारावकुर्वन् वाचमभिव्याहरति उ-
च्चारयति लोकः ॥

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्नपानन्नृचम-

भिव्याहरति यत्तत्साम तस्मादप्राणन्नन-
पानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्त-
स्मादप्राणन्ननपानञ्चुद्गायति ॥ ४ ॥

तथा वाग्विशेषामृचम्, ऋक्संस्थं च साम, सामावयवं
चोद्गीथम्, अप्राणन्ननपानन् व्यानेनैव निर्वर्तयतीत्यभिप्रायः ॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि
यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष
आयमनमप्राणन्ननपानंस्तानि करोत्येत-
स्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५ ॥

न केवलं वागाद्यभिव्याहरणमेव ; अतः अस्मात् अन्या-
न्यपि यानि वीर्यवन्ति कर्माणि प्रयत्नाधिक्यनिर्वर्त्यानि—
यथा अग्नेर्मन्थनम्, आज्ञेः मर्यादायाः सरणं धावनम्,
दृढस्य धनुषः आयमनम् आकर्षणम्— अप्राणन्ननपानंस्तानि
करोति ; अतो विशिष्टः व्यानः प्राणादिवृत्तिभ्यः । विशिष्ट-
स्योपासनं ज्यायः, फलवत्त्वाद्वाजोपासनवत् । एतस्य हेतोः
एतस्मात्कारणात् व्यानमेवोद्गीथमुपासीत, नान्यद्वृत्त्यन्तरम् ।
कर्मवीर्यवत्तरत्वं फलम् ॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ
इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गी-
र्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदं
सर्वं स्थितम् ॥ ६ ॥

अथ अधुना खलु उद्गीथाक्षराण्युपासीत भक्त्यक्षराणि
मा भूवन्नित्यतो विशिनष्टि—उद्गीथ इति; उद्गीथनामाक्षरा-
णीत्यर्थः—नामाक्षरोपासनेऽपि नामवत् एवोपासनं कृतं भ-
वेत् अमुकमिश्रा इति यद्वत् । प्राण एव उत्, उदित्यस्मिन्न-
क्षरे प्राणदृष्टिः । कथं प्राणस्य उत्त्वमिति, आह—प्राणेन
हि उत्तिष्ठति सर्वः, अप्राणस्यावसाददर्शनात्; अतोऽस्त्युदः
प्राणस्य च सामान्यम् । वाक् गीः, वाचो ह गिर इत्याचक्षते
शिष्टाः । तथा अन्नं थम्, अन्ने हि इदं सर्वं स्थितम्; अतः
अस्त्यन्नस्य थाक्षरस्य च सामान्यम् ॥

त्रयाणां श्रुत्युक्तानि सामान्यानि; तानि तेनानुरूपेण
शेषेष्वपि द्रष्टव्यानि—

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादि-
त्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थं सामवेद एवोद्य-
जुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं

यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य
एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उ-
द्गीथ इति ॥ ७ ॥

द्यौरेव उत् उच्चैःस्थानात्, अन्तरिक्षं गीः गिरणाल्लोका-
नाम्, पृथिवी थं प्राणिस्थानात्; आदित्य एव उत् ऊर्ध्व-
त्वात्, वायुः गीः अग्न्यादीनां गिरणात्, अग्निः थं याज्ञी-
यकर्मावस्थानात्; सामवेद एव उत् स्वर्गसंस्तुतत्वात्, य-
जुर्वेदो गीः यजुषां प्रत्तस्य हविषो देवतानां गिरणात्, ऋ-
ग्वेदः थम् ऋच्यध्यूढत्वात्साम्नः । उद्गीथाक्षरोपासनफलम-
धुनोच्यते—दुग्धे दोग्धि अस्मै साधकाय; का सा? वाक्;
कम्? दोहम्; कोऽसौ दोह इति, आह— यो वाचो दोहः,
ऋग्वेदादिशब्दसाध्यं फलमित्यभिप्रायः, तत् वाचो दोहः तं
स्वयमेव वाक् दोग्धि आत्मानमेव दोग्धि । किञ्च अन्नवान्
प्रभूतान्नः अन्नादश्च दीप्ताग्निर्भवति, य एतानि यथोक्तानि
एवं यथोक्तगुणानि उद्गीथाक्षराणि विद्वान्सन् उपास्ते उद्गीथ
इति ॥

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरूपसरणानीत्यु-
पासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामो-
पधावेत् ॥ ८ ॥

अथ खलु इदानीम्, आशीःसमृद्धिः आशिषः कामस्य समृद्धिः यथा भवेत् तदुच्यत इति वाक्यशेषः, उपसरणानि उपसर्तव्यान्युपगन्तव्यानि ध्येयानीत्यर्थः; कथम्? इत्युपासीत एवमुपासीत; तद्यथा— येन साम्ना येन सामविशेषेण स्तोष्यन् स्तुतिं करिष्यन् स्यात् भवेदुद्गाता तत्साम उपधावेत् उपसरेत् चिन्तयेदुत्पत्त्यादिभिः ॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषि
यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुप-
धावेत् ॥ ९ ॥

यस्यामृचि तत्साम तां च ऋचम् उपधावेत् देवतादिभिः ; यदार्षेयं साम तं च ऋषिम्; यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात् तां देवतामुपधावेत् ॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उ-
पधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तं
स्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

येन च्छन्दसा गायत्र्यादिना स्तोष्यन्स्यात् तच्छन्द उपधावेत्; येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्, स्तोमाङ्गफलस्य कर्तृगामित्वादात्मनेपदं स्तोष्यमाण इति, तं स्तोममुपधावेत् ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुप-
धावेत् ॥ ११ ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात् तां दिशमुपधावेत् अधिष्ठात्रा-
दिभिः ॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं
ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स का-
मः समृध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्का-
मः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

आत्मानम् उद्गाता स्वं रूपं गोत्रनामादिभिः— सामादीन्
क्रमेण स्वं च आत्मानम्— अन्ततः अन्ते उपसृत्य स्तुवीत,
कामं ध्यायन् अप्रमत्तः स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्यः प्रमादमकुर्वन् ।
ततः अभ्याशः क्षिप्रमेव ह यत् यत्र अस्मै एवंविदे स कामः
समृध्येत समृद्धिं गच्छेत् । कोऽसौ ? यत्कामः यः कामः
अस्य सोऽयं यत्कामः सन् स्तुवीतेति । द्विरुक्तिरादरार्था ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

—*—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

ओमित्येतत् इत्यादिप्रकृतस्याक्षरस्य पुनरुपादानम् उद्गीथा-
क्षराद्युपासनान्तरितत्वादन्यत्र प्रसङ्गो मा भूदित्येवमर्थम्;
प्रकृतस्यैवाक्षरस्यामृताभयगुणविशिष्टस्योपासनं विधातव्यमि-
त्यारम्भः । ओमित्यादि व्याख्यातम् ॥

देवा वै मृत्योर्विभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्रा-
विश५स्ते छन्दोभिरच्छादयन्त्यदेभिर-
च्छादय५स्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

देवा वै मृत्योः मारकात् विभ्यतः किं कृतवन्त इति,
उच्यते— त्रयीं विद्यां त्रयीविहितं कर्म प्राविशन् प्रविष्टव-
न्तः, वैदिकं कर्म प्रारब्धवन्त इत्यर्थः, तत् मृत्योस्त्राणं मन्य-
मानाः । किञ्च, ते कर्मण्यविनियुक्तैः छन्दोभिः मन्त्रैः जप-
होमादि कुर्वन्तः आत्मानं कर्मान्तरेष्वच्छादयन् छादितवन्तः ।

यत् यस्मात् एभिः मन्त्रैः अच्छादयन्, तत् तस्मात् छन्दसां
मन्त्राणां छादनात् छन्दस्त्वं प्रसिद्धमेव ॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परि-
पश्येदेवं पर्यपश्यद्दृचि साम्नि यजुषि ।
ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः
स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

तान् तत्र देवान्कर्मपरान् मृत्युः यथा लोके मत्स्यघा-
तको मत्स्यमुदके नातिगम्भीरे परिपश्येत् बडिशोदकस्त्रावो-
पायसाध्यं मन्यमानः, एवं पर्यपश्यत् दृष्टवान्; मृत्युः कर्म-
क्षयोपायेन साध्यान्देवान्मेने इत्यर्थः । कासौ देवान्ददर्शेति,
उच्यते— ऋचि साम्नि यजुषि, ऋग्यजुःसामसंबन्धिकर्म-
णीत्यर्थः । ते नु देवाः वैदिकेन कर्मणा संस्कृताः शुद्धात्मानः
सन्तः मृत्योश्चिकीर्षितं विदितवन्तः; विदित्वा च ते ऊर्ध्वाः
व्यावृत्ताः कर्मभ्यः ऋचः साम्नः यजुषः ऋग्यजुःसामसं-
बद्धात्कर्मणः अभ्युत्थायेत्यर्थः । तेन कर्मणा मृत्युभयापगमं
प्रति निराशाः तदपाह्य अमृताभयगुणमक्षरं स्वरं स्वरश-
ब्दितं प्राविशन्नेव प्रविष्टवन्तः, ओंकारोपासनपराः संवृत्ताः;
एव-शब्दः अवधारणार्थः सन् समुच्चयप्रतिषेधार्थः; तदुपासन-
पराः संवृत्ता इत्यर्थः ॥

कथं पुनः स्वरशब्दवाच्यत्वमक्षरस्येति, उच्यते—

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वर-
त्येव५ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्ष-
रमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता
अभया अभवन् ॥ ४ ॥

यदा वै ऋचम् आप्नोति ओमित्येवातिस्वरति एवं साम
एवं यजुः; एष उ स्वरः; कोऽसौ? यदेतदक्षरम् एतदमृ-
तम् अभयम्, तत्प्रविश्य यथागुणमेव अमृता अभयाश्च
अभवन् देवाः ॥

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदे-
वाक्षर५ स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्र-
विश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥

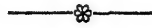
इति चतुर्थः खण्डः ॥

स यः अन्योऽपि देववदेव एतदक्षरम् एवम् अमृता-
भयगुणं विद्वान् प्रणौति स्तौति; उपासनमेवात्र स्तुति-
रभिप्रेता, स तथैव एतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति;
तत्प्रविश्य च—राजकुलं प्रविष्टानामिव राज्ञोऽन्तरङ्गबहिरङ्ग-

तावत् न परस्य ब्रह्मणोऽन्तरङ्गबहिरङ्गताविशेषः—किं तर्हि ?
 यदमृता देवाः येनामृतत्वेन यदमृता अभूवन्, तेनैवामृतत्वेन
 विशिष्टः तदमृतो भवति ; न न्यूनता नाप्यधिकता अमृ-
 तत्वे इत्यर्थः ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चमः खण्डः ॥



प्राणादित्यदृष्टिविशिष्टस्योद्गीथस्योपासनमुक्तमेवानूद्य प्रण-
वोद्गीथयोरेकत्वं कृत्वा तस्मिन्प्राणरश्मिभेदगुणविशिष्टदृष्ट्या
अक्षरस्योपासनमनेकपुत्रफलमिदानीं वक्तव्यमित्यारभ्यते—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः
प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गी-
थ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः बह्वचानाम्, यश्च
प्रणवः तेषां स एव च्छान्दोग्ये उद्गीथशब्दवाच्यः । असौ
वा आदित्य उद्गीथः एष प्रणवः; प्रणवशब्दवाच्योऽपि स
एव बह्वचानाम्, नान्यः । उद्गीथ आदित्यः कथम्? उद्गी-
थाख्यमक्षरम् ओमिति एतत् एषः हि यस्मात् स्वरन् उच्चा-
रयन्, अनेकार्थत्वाद्वातूनाम्; अथवा स्वरन् गच्छन् एति ।
अतः असावुद्गीथः सविता ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम

त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच
रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भवि-
ष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

तम् एतम् उ एव अहम् अभ्यगासिषम् आभिमुख्येन
गीतवानस्मि, आदित्यरश्म्यभेदं कृत्वा ध्यानं कृतवानस्मी-
त्यर्थः । तेन तस्मात्कारणात् मम त्वमेकोऽसि पुत्र इति ह
कौषीतकिः कुषीतकस्यापत्यं कौषीतकिः पुत्रमुवाच उक्तवान् ।
अतः रश्मीनादित्यं च भेदेन त्वं पर्यावर्तयात् पर्यावर्तये-
त्यर्थः, त्वंयोगात् । एवं बहवो वै ते तव पुत्रा भविष्यन्ती-
त्यधिदैवतम् ॥

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्त-
मुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥

अथ अनन्तरम् अंध्यात्मम् उच्यते । य एवायं मुख्यः
प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतेत्यादि पूर्ववत् । तथा ओमिति ह्येष
प्राणोऽपि स्वरन्नेति ओमिति ह्यनुज्ञां कुर्वन्निव वागादिप्रवृ-
त्त्यर्थमेतीत्यर्थः । न हि मरणकाले मुमूर्षोः समीपस्थाः प्रा-
णस्योंकरणं शृण्वन्तीति । एतत्सामान्यादादित्येऽप्योंकरणम-
नुज्ञामात्रं द्रष्टव्यम् ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम
त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच
प्राणांस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै
मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषमित्यादि पूर्ववदेव । अतो वागा-
दीन्मुख्यं च प्राणं भेदगुणविशिष्टमुद्गीथं पश्यन् भूमानं मन-
सा अभिगायतात्, पूर्ववदावर्तयेत्यर्थः ; बहवो वै मे मम पुत्रा
भविष्यन्तीत्येवमभिप्रायः सन्नित्यर्थः । प्राणादित्यैकत्वोद्गीथ-
दृष्टेः एकपुत्रत्वफलदोषेणापोदितत्वात् रश्मिप्राणभेददृष्टेः कर्त-
व्यता चोद्यते अस्मिन्खण्डे बहुपुत्रफलत्वार्थम् ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्र-
णवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि
दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

अथ खलु य उद्गीथ इत्यादि प्रणवोद्गीथैकत्वदर्शनमुक्त-
म्, तस्यैतत्फलमुच्यते— होतृषदनात् होता यत्रस्थः शंसति
तत्स्थानं होतृषदनम्, हौत्रात्कर्मणः सम्यक्प्रयुक्तादित्यर्थः ।

न हि देशमात्रात्फलमाहर्तुं शक्यम् । किं तत् ? ह एवापि
 दुरुद्गीतं दुष्टमुद्गीतम् उद्गानं कृतम् उद्गात्रा स्वकर्मणि क्षतं
 कृतमित्यर्थः ; तदनुसमाहरति अनुसंधत्त इत्यर्थः—चिकित्स-
 येव धातुवैषम्यसमीकरणमिति ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

अथेदानीं सर्वफलसंपत्त्यर्थम् उद्गीथस्य उपासनान्तरं
विधित्स्यते—

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्य-
ध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गी-
यत इयमेव साग्निरमस्तत्साम ॥ १ ॥

इयमेव पृथिवी ऋक् ; ऋचि पृथिवीदृष्टिः कार्या । तथा
अग्निः साम ; साम्नि अग्निदृष्टिः । कथं पृथिव्यग्न्योः ऋ-
क्सामत्वमिति, उच्यते— तदेतत् अग्न्याख्यं साम एतस्यां
पृथिव्याम् ऋचि अध्यूढम् अधिगतम् उपरिभावेन स्थित-
मित्यर्थः ; ऋचीव साम ; तस्मात् अत एव कारणात् ऋ-
च्यध्यूढमेव साम गीयते इदानीमपि सामगैः । यथा च
ऋक्सामनी नात्यन्तं भिन्ने अन्योन्यम्, तथैतौ पृथिव्यग्नी ;
कथम् ? इयमेव पृथिवी सा सामनामार्धशब्दवाच्या ; इतरा-
र्धशब्दवाच्यः अग्निः अमः ; तत् एतत्पृथिव्यग्निद्वयं सामै-
कशब्दाभिधेयत्वमापन्नं साम ; तस्मान्नान्योन्यं भिन्नं पृथि-
व्यग्निद्वयं नित्यसंश्लिष्टमृक्सामनी इव । तस्माच्च पृथिव्य-
ग्न्योर्ऋक्सामत्वमित्यर्थः । सामाक्षरयोः पृथिव्यग्निदृष्टिवि-
धानार्थमियमेव सा अग्निरम इति केचित् ॥

अन्तरिक्षमेवर्वायुः साम तदेतदेत-
स्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यू-
ढं साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायु-
रमस्तत्साम ॥ २ ॥

अन्तरिक्षमेव ऋक् वायुः साम इत्यादि पूर्ववत् ॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृ-
च्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम
गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

नक्षत्राण्येवर्चन्द्रमाः साम तदेतदेत-
स्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं
साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा
अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

नक्षत्राणामधिपतिश्चन्द्रमा अतः स साम ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव-
र्गं यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदे-
तस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं
साम गीयते ॥ ५ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः शुक्ला दीप्तिः सैव ऋक् ।
अथ यदादित्ये नीलं परः कृष्णं परोऽतिशयेन काष्ण्यं तत्साम ।
तद्ध्येकान्तसमाहितदृष्टेर्दृश्यते ॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव
साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ
य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृ-
श्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखा-
त्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

ते एवैते भासौ शुक्लकृष्णत्वे सा च अमश्च साम । अथ
य एषः अन्तरादित्ये आदित्यस्यान्तः मध्ये हिरण्मयः हिर-
ण्मय इव हिरण्मयः । न हि सुवर्णविकारत्वं देवस्य संभ-
वति, ऋक्सामगेष्णत्वापहतपाप्मत्वासंभवात्; न हि सौवर्णे-
ऽचेतने पाप्मादिप्राप्तिरस्ति, येन प्रतिषिध्येत, चाक्षुषे च
अग्रहणात्; अतः लुप्तोपम एव हिरण्मयशब्दः, ज्योतिर्मय
इत्यर्थः । उत्तरेष्वपि समाना योजना । पुरुषः पुरि शयनात्
पूरयति वा स्वेन आत्मना जगदिति; दृश्यते निवृत्तचक्षुर्भिः
समाहितचेतोभिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनापेक्षैः । तेजस्विनोऽपि श्म-
श्रुकेशादयः कृष्णाः स्युरित्यतो विशिनष्टि— हिरण्यश्मश्रुर्हि-

रण्यकेश इति ; ज्योतिर्मयान्येवास्य श्मश्रूणि केशाश्चेत्यर्थः ।
आप्रणखात् प्रणखः नखाग्रं नखाग्रेण सह सर्वः सुवर्ण इव
भारूप इत्यर्थः ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षि-
णी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पा-
प्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्म-
भ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

तस्य एवं सर्वतः सुवर्णवर्णस्याप्यक्ष्णोर्विशेषः । कथम् ?
तस्य यथा कपेः मर्कटस्य आसः कप्यासः ; आसेरुपवेशना-
र्थस्य करणे घञ् ; कपिपृष्ठान्तः येनोपविशति ; कप्यास इव
पुण्डरीकम् अत्यन्ततेजस्वि एवम् देवस्य अक्षिणी ; उपमितो-
पमानत्वात् न हीनोपमा । तस्य एवंगुणविशिष्टस्य गौणमिदं
नाम उदिति ; कथं गौणत्वम् ? स एषः देवः सर्वेभ्यः पाप्म-
भ्यः पाप्मना सह तत्कार्येभ्य इत्यर्थः, 'य आत्मापहतपाप्मा'
इत्यादि वक्ष्यति, उदितः उत् इतः, उद्भूत इत्यर्थः । अतः असौ
उन्नामा । तम् एवंगुणसंपन्नमुन्नामानं यथोक्तेन प्रकारेण यो
वेद सोऽप्येवमेव उदेति उद्गच्छति सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः—
ह वै इत्यवधारणार्थो निपातौ— उदेत्येवेत्यर्थः ॥

तस्यैव साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथ-

स्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष
 ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देव-
 कामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

तस्योद्गीथत्वं देवस्य आदित्यादीनामिव विवक्षित्वा
 आह— तस्य ऋक्च साम च गेष्णौ पृथिव्याद्युक्तलक्षणे
 पर्वणी । सर्वात्मा हि देवः । परापरलोककामेशितृत्वादुप-
 पद्यते पृथिव्यग्न्याद्यृक्सामगेष्णत्वम्, सर्वयोनित्वाच्च । यत
 एवमुन्नामा च असौ ऋक्सामगेष्णश्च तस्मादृक्सामगेष्णत्वे
 प्राप्ते उद्गीथत्वमुच्यते परोक्षेण, परोक्षप्रियत्वाद्देवस्य, तस्मा-
 दुद्गीथ इति । तस्मात्त्वेव हेतोः उदं गायतीत्युद्गाता । यस्मा-
 द्धि एतस्य यथोक्तस्योन्नामः गाता असौ अतो युक्ता उद्गातेति
 नामप्रसिद्धिः उद्गातुः । स एषः देवः उन्नामा ये च अमुष्मात्
 आदित्यात् पराञ्चः परागञ्चनात् ऊर्ध्वा लोकाः तेषां
 लोकानां च ईष्टे न केवलमीशितृत्वमेव, च-शब्दाद्वारयति
 च, 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' इत्यादिमन्त्रवर्णात् ।
 किंच, देवकामानामीष्टे इति एतत् अधिदैवतं देवताविषयं
 देवस्योद्गीथस्य स्वरूपमुक्तम् ॥

इति षष्ठखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः ॥

अथाध्यात्मं वागेवक्प्राणः साम तदे-
तदेतस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्य-
ध्यूढं साम गीयते । वागेव सा प्राणो-
ऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

अथ अधुना अध्यात्ममुच्यते—वागेव ऋक् प्राणः साम,
अधरोपरिस्थानत्वसामान्यात् । प्राणो घ्राणमुच्यते सह वा-
युना । वागेव सा प्राणोऽम इत्यादि पूर्ववत् ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृ-
च्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम
गीयते । चक्षुरेव सात्मास्तत्साम ॥ २ ॥

चक्षुरेव ऋक् आत्मा साम । आत्मेति च्छायात्मा,
तत्स्थत्वात्साम ॥

ओत्रमेवर्ङ्गनः साम तदेतदेतस्यामृ-
च्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम
गीयते । ओत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥

श्रोत्रमेव ऋक् मनः साम, श्रोत्रस्याधिष्ठातृत्वान्मनसः
सामत्वम् ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ
यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्या-
मृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम
गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः
सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्त-
त्साम ॥ ४ ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव ऋक् । अथ यन्नीलं परः
कृष्णमादित्य इव दृक्शक्त्यधिष्ठानं तत्साम ॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्य-
ते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म त-
स्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमु-
ष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते, पूर्ववत् । सैव
ऋक् अध्यात्मं वागाद्या, पृथिव्याद्या च अधिदैवतम् ; प्र-
सिद्धा च ऋक् पादबद्धाक्षरात्मिका ; तथा साम ; उक्थ-
साहचर्याद्वा स्तोत्रं साम ऋक् शस्त्रम् उक्थादन्यत् तथा

यजुः स्वाहास्वधावषडादि सर्वमेव वाग्यजुः तत्स एव ।
 सर्वात्मकत्वात्सर्वयोनित्वाच्चेति ह्यवोचाम । ऋगादिप्रकरणात्
 तद्ब्रह्मेति त्रयो वेदाः । तस्यैतस्य चाक्षुषस्य पुरुषस्य तदेव
 रूपमितिदिश्यते । किं तत् ? यदमुष्य आदित्यपुरुषस्य—
 हिरण्मय इत्यादि यदधिदैवतमुक्तम्, यावमुष्य गेष्णौ पर्वणी,
 तावेवास्यापि चाक्षुषस्य गेष्णौ ; यच्चामुष्य नाम उदित्यु-
 द्गीथ इति च तदेवास्य नाम । स्थानभेदात् रूपगुणनामाति-
 देशात् ईशितृत्वविषयभेदव्यपदेशाच्च आदित्यचाक्षुषयोर्भेद
 इति चेत्, न ; ‘अमुना’ ‘अनेनैव’ इत्येकस्योभयात्मत्वप्रा-
 प्यनुपपत्तेः । द्विधाभावेनोपपद्यत इति चेत् — वक्ष्यति हि
 ‘स एकधा भवति त्रिधा भवति’ इत्यादि, न ; चेतनस्यैकस्य
 निरवयवत्वाद्द्विधाभावानुपपत्तेः । तस्मादध्यात्माधिदैवतयोरेक-
 त्वमेव । यत्तु रूपाद्यतिदेशो भेदकारणमवोचः, न तद्भेदा-
 वगमाय ; किं तर्हि, स्थानभेदाद्भेदाशङ्का मा भूदित्येवमर्थम् ॥

**स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां
 चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वी-
 णायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते
 धनसनयः ॥ ६ ॥**

स एषः चाक्षुषः पुरुषः ये च एतस्मात् आध्यात्मिका-

दात्मनः अर्वाञ्चः अर्वाङ्गताः लोकाः तेषां चेष्टे मनुष्य-
संबन्धिनां च कामानाम् । तत् तस्मात् य इमे वीणायां गाय-
न्ति गायकाः त एतमेव गायन्ति । यस्मादीश्वरं गायन्ति
तस्मात्ते धनसनयः धनलाभयुक्ताः, धनवन्त इत्यर्थः ॥

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्यु-
भौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चा-
मुष्मात्पराञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति देव-
कामांश्च ॥ ७ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान् यथोक्तं देवमुद्गीथं विद्वान् साम
गायति उभौ स गायति चाक्षुषमादित्यं च । तस्यैवंविदः
फलमुच्यते— सोऽमुनैव आदित्येन स एष ये च अमुष्मा-
त्पराञ्चः लोकाः तांश्च आप्नोति, आदित्यान्तर्गतदेवो भूत्वे-
त्यर्थः, देवकामांश्च ॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोका-
स्तांश्चाप्नोति मनुष्यकामांश्च तस्मादु-
हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव काम-

गानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति
साम गायति ॥ ९ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

अथ अनेनैव चाक्षुषेणैव ये च एतस्मादर्वाञ्चो लोकाः
तांश्च आप्नोति, मनुष्यकामांश्च—चाक्षुषो भूत्वेत्यर्थः । तस्मादु
ह एवंवित् उद्गाता ब्रूयात् यजमानम्— कम् इष्टं ते तव
काममागायानीति । एष हि यस्मादुद्गाता कामागानस्य
उद्गानेन कामं संपादयितुमीष्टे समर्थः इत्यर्थः । कोऽसौ ? य
एवं विद्वान् साम गायति । द्विरुक्तिरुपासनसमाप्त्यर्था ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः
शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो
जैवलिरिति ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः
स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥ १ ॥

अनेकधोपास्यत्वात् अक्षरस्य प्रकारान्तरेण परोवरीय-
स्त्वगुणफलमुपासनान्तरमानिनाय । इतिहासस्तु सुखावबो-
धनार्थः । त्रयः त्रिसंख्याकाः, ह इत्यैतिह्यार्थः, उद्गीथे
उद्गीथज्ञानं प्रति, कुशलाः निपुणा बभूवुः; कस्मिंश्चिद्देशे
काले च निमित्ते वा समेतानामित्यभिप्रायः । न हि सर्वस्मि-
जगति त्रयाणामेव कौशलमुद्गीथादिविज्ञाने । श्रूयन्ते हि
उषस्तिजानश्रुतिकैकेयप्रभृतयः सर्वज्ञकल्पाः । के ते त्रय
इति, आह—शिलकः नामतः, शलावतोऽपत्यं शालावत्यः;
चिकितायनस्यापत्यं चैकितायनः, दल्भगोत्रो दाल्भ्यः,
व्यामुष्यायणो वा; प्रवाहणो नामतः, जीवलस्यापत्यं जैवलिः
इत्येते त्रयः—ते होचुः अन्योन्यम्—उद्गीथे वै कुशलाः निपुणा
इति प्रसिद्धाः स्मः । अतो हन्त यद्यनुमतिर्भवताम् उद्गीथे
उद्गीथज्ञाननिमित्तां कथां विचारणां पक्षप्रतिपक्षोपन्यासेन

वदामः वादं कुर्म इत्यर्थः । तथा च तद्विद्यसंवादे विपरीत-
ग्रहणनाशोऽपूर्वविज्ञानोपजनः संशयनिवृत्तिश्चेति । अतः त-
द्विद्यसंयोगः कर्तव्य इति च इतिहासप्रयोजनम् । दृश्यते
हि शिलकादीनाम् ॥

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवा-
हणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां
ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाच५ श्रोष्यामीति ॥ २ ॥

तथेत्युक्त्वा ते समुपविविशुः ह उपविष्टवन्तः किल ।
तत्र राज्ञः प्रागल्भ्योपपत्तेः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच इत-
रौ— भगवन्तौ पूजावन्तौ अग्रे पूर्वं वदताम् ; ब्राह्मणयोरिति
लिङ्गाद्राजा असौ ; युवयोर्ब्राह्मणयोः वदतोः वाचं श्रोष्यामि ;
अर्थरहितामित्यपरे, वाचमिति विशेषणात् ॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं
दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृ-
च्छेति होवाच ॥ ३ ॥

उक्तयोः स ह शिलकः शालावत्यः चैकितायनं दाल्भ्य-
मुवाच— हन्त यद्यनुमंस्यसे त्वा त्वां पृच्छानि इत्युक्तः
इतरः पृच्छेति होवाच ॥

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच
स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच
प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य
का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

लब्धानुमतिराह— का साम्नः— प्रकृतत्वादुद्गीथस्य ;
उद्गीथो हि अन्न उपास्यत्वेन प्रकृतः ; ‘परोवरीयांसमुद्गीथम्’
इति च वक्ष्यति— गतिः आश्रयः, परायणमित्येतत् । एवं
पृष्ठो दालभ्य उवाच— स्वर इति, स्वरात्मकत्वात्साम्नः ।
यो यदात्मकः स तद्गतिस्तदाश्रयश्च भवतीति युक्तम्, मृदा-
श्रय इव घटादिः । स्वरस्य का गतिरिति, प्राण इति हो-
वाच ; प्राणनिष्पाद्यो हि स्वरः, तस्मात्स्वरस्य प्राणो गतिः ।
प्राणस्य का गतिरिति, अन्नमिति होवाच ; अन्नावष्टम्भो हि
प्राणः, ‘शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्’ इति श्रुतेः, ‘अन्नं
दाम’ इति च । अन्नस्य का गतिरिति, आप इति होवाच,
अप्संभवत्वादन्नस्य ॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति हो-
वाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं
लोकमिति नयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लो-

क॒सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसंस्ताव॑

हि सामेति ॥ ५ ॥

अपां का गतिरिति, असौ लोक इति होवाच ; अमुष्मा-
द्धि लोकादृष्टिः संभवति । अमुष्य लोकस्य का गतिरिति
पृष्ठः दाल्भ्य उवाच— स्वर्गममुं लोकमतीत्य आश्रयान्तरं
साम न नयेत्कश्चित् इति होवाच आह । अतो वयमपि
स्वर्गं लोकं साम अभिसंस्थापयामः ; स्वर्गलोकप्रतिष्ठं साम
जानीम इत्यर्थः । स्वर्गसंस्तावं स्वर्गत्वेन संस्तवनं संस्तावो
यस्य तत्साम स्वर्गसंस्तावम्, हि यस्मात् स्वर्गो वै लोकः
साम वेद इति श्रुतिः ॥

त॒ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं
दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दा-
ल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते वि-
पतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

तम् इतरः शिलकः शालावत्यः चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच
— अप्रतिष्ठितम् असंस्थितम्, परोवरीयस्त्वेनासमाप्रगति
सामेत्यर्थः ; वै इत्यागमं स्मारयति किलेति च, दाल्भ्य ते
तव साम । यस्तु असहिष्णुः सामवित् एतर्हि एतस्मिन्काले
ब्रूयात् कश्चिद्विपरीतविज्ञानम्— अप्रतिष्ठितं साम प्रतिष्ठित-

मिति— एवंवादापराधिनो मूर्धा शिरः ते विपतिष्यति वि-
स्पष्टं पतिष्यतीति । एवमुक्त्यापराधिनः तथैव तद्विपतेत् न
संशयः; न त्वहं ब्रवीमीत्यभिप्रायः । ननु मूर्धपातार्हं चेद-
पराधं कृतवान्, अतः परेणानुक्तस्यापि पतेन्मूर्धा, न चेदप-
राधी उक्तस्यापि नैव पतति; अन्यथा अकृताभ्यागमः कृत-
नाशश्च स्याताम् । नैष दोषः, कृतस्य कर्मणः शुभाशुभस्य
फलप्राप्तेर्देशकालनिमित्तापेक्षत्वात् । तत्रैवं सति मूर्धपातनि-
मित्तस्याप्यज्ञानस्य पराभिव्याहारनिमित्तापेक्षत्वमिति ॥

हन्ताहमेतद्भगवत्तो वेदानीति विद्धी-
ति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरि-
त्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का
गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमति नयेदिति
होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकः सामाभिस-
ंस्थापयामः प्रतिष्ठासंस्ताव हि सा-
मेति ॥ ७ ॥

एवमुक्तो दारभ्य आह—हन्ताहमेतद्भगवत्तः भगवतः वे-
दानि यत्प्रतिष्ठं साम इत्युक्तः प्रत्युवाच शालावत्यः—विद्धीति
होवाच । अमुष्य लोकस्य का गतिरिति पृष्ठः दारभ्येन

शालावत्यः अयं लोक इति होवाच ; अयं हि लोको याग-
दानहोमादिभिरमुं लोकं पुष्यतीति ; 'अतः प्रदानं देवा
उपजीवन्ति' इति हि श्रुतयः ; प्रत्यक्षं हि सर्वभूतानां
धरणी प्रतिष्ठेति ; अतः साम्नोऽप्ययं लोकः प्रतिष्ठैवेति
युक्तम् । अस्य लोकस्य का गतिरित्युक्तः आह शालावत्यः—
न प्रतिष्ठाम् इमं लोकमतीत्य नयेत् साम कश्चित् । अतो
वयं प्रतिष्ठां लोकं साम अभिसंस्थापयामः ; यस्मात्प्रतिष्ठा-
संस्तावं हि, प्रतिष्ठात्वेन संस्तुतं सामेत्यर्थः ; 'इयं वै रथं-
तरम्' इति च श्रुतिः ॥

त५ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै
किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रू-
यान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते वि-
पतेदिति हन्ताहमेतद्भगवत्तो वेदानीति
विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥

तमेवमुक्तवन्तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच अन्तवद्वै किल
ते शालावत्य सामेत्यादि पूर्ववत् । ततः शालावत्य आह—
हन्ताहमेतद्भगवत्तो वेदानीति ; विद्धीति होवाच इतरः ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः ॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति
होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्या-
काशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं
यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः प-
रायणम् ॥ १ ॥

अनुज्ञातः आह— अस्य लोकस्य का गतिरिति, आ-
काश इति होवाच प्रवाहणः ; आकाश इति च पर आत्मा,
'आकाशो वै नाम' इति श्रुतेः ; तस्य हि कर्म सर्वभूतोत्पाद-
कत्वम् ; तस्मिन्नेव हि भूतप्रलयः— 'तत्तेजोऽसृजत' 'तेजः
परस्यां देवतायाम्' इति हि वक्ष्यति ; सर्वाणि ह वै
इमानि भूतानि स्थावरजङ्गमानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते
तेजोबन्नादिक्रमेण, सामर्थ्यान्, आकाशं प्रति अस्तं यन्ति
प्रलयकाले तेनैव विपरीतक्रमेण ; हि यस्मादाकाश एवैभ्यः
सर्वेभ्यो भूतेभ्यः ज्यायान् महत्तरः, अतः स सर्वेषां भूतानां
परमयनं परायणं प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेष्वित्यर्थः ॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽन-
न्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीय-
सो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प-
रोवरीयाः समुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

यस्मात् परं परं वरीयः वरीयसोऽप्येष वरः परश्च वरी-
यांश्च परोवरीयान् उद्गीथः परमात्मा संपन्न इत्यर्थः, अत
एव स एषः अनन्तः अविद्यमानान्तः । तमेतं परोवरीयांसं
परमात्मभूतमनन्तम् एवं विद्वान् परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते ।
तस्यैतत्फलमाह—परोवरीयः परं परं वरीयो विशिष्टतरं
जीवनं ह अस्य विदुषो भवति दृष्टं फलम्, अदृष्टं च परोवरी-
यसः उत्तरोत्तरविशिष्टतरानेव ब्रह्माकाशान्तान् लोकान् ज-
यति— य एतदेवं विद्वानुद्गीथमुपास्ते ॥

तः हैतमतिधन्वा शौनक उदरशा-
ण्डिल्यायोक्तवोवाच यावत्त एनं प्रजाया-
मुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्ता-
वदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

किं च तमेतमुद्गीथं विद्वान् अतिधन्वा नामतः, शुनक-

स्यापत्यं शौनकः, उदरशाण्डिल्याय शिष्याय एतम् उद्गीथ-
दर्शनम् उक्त्वा उवाच— यावत् ते तव प्रजायाम्, प्रजासं-
ततावित्यर्थः, एनम् उद्गीथं त्वत्संततिजा वेदिष्यन्ते ज्ञास्य-
न्ति, तावन्तं कालं परोवरीयो हैभ्यः प्रसिद्धेभ्यो लौकिक-
जीवनेभ्यः उत्तरोत्तरविशिष्टतरं जीवनं तेभ्यो भविष्यति ॥

तथामुष्मिल्लोके लोक इति स य
एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्या-
स्मिल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिल्लोके
लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

इति नवमः खण्डः ॥

तथा अदृष्टेऽपि परलोके अमुष्मिन् परोवरीयाँल्लोको
भविष्यतीत्युक्तवान् शाण्डिल्याय अतिधन्वा शौनकः । स्यादे-
तत्फलं पूर्वेषां महाभाग्यानाम्, नैदंयुगीनानाम्— इत्याश-
ङ्कानिवृत्तये आह— स यः कश्चित् एतमेवं विद्वान् उद्गी-
थम् एतर्हि उपास्ते, तस्याप्येवमेव परोवरीय एव ह अस्य
अस्मिल्लोके जीवनं भवति तथा अमुष्मिल्लोके लोक इति ॥

इति नवमखण्डभाष्यम् ॥

दशमः खण्डः ॥

मटचीहतेषु कुरुष्वोटिक्या सह जाय-
योषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक
उवास ॥ १ ॥

उद्गीथोपासनप्रसङ्गेन प्रस्तावप्रतिहारविषयमप्युपासनं व-
क्तव्यमितीदमारभ्यते; आख्यायिका तु सुखावबोधार्था ।
मटचीहतेषु मटच्यः अशनयः ताभिर्हतेषु नाशितेषु कुरुषु
कुरुसस्येष्वित्यर्थः । ततो दुर्भिक्षे जाते आटिक्या अनुप-
जातपयोधरादिस्त्रीव्यञ्जनया सह जायया उषस्तिर्ह नामतः,
चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः; इभो हस्ती तमर्हतीति इभ्यः
ईश्वरः, हस्त्यारोहो वा, तस्य ग्रामः इभ्यग्रामः तस्मिन्;
प्रद्राणकः अन्नालाभात्, 'द्रा कुत्सायां गतौ', कुत्सितां गतिं
गतः, अन्त्यावस्थां प्राप्त इत्यर्थः; उवास उषितवान् कस्य-
चिद्गृहमाश्रित्य ॥

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं विभिक्षे
त५ होवाच । नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये
म इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

सः अन्नार्थमटन् इभ्यं कुल्माषान् कुत्सितान्माषान् खाद-

न्तं भक्षयन्तं यदृच्छयोपलभ्य विभिक्षे याचितवान् । तम्
 उषस्ति ह उवाच इभ्यः— न इतः, अस्मान्मया भक्ष्यमा-
 णादुच्छिष्टराशेः कुल्माषा अन्ये न विद्यन्ते ; यच्च ये राशौ मे
 मम उपनिहिताः प्रक्षिप्ताः इमे भाजने, किं करोमि ; इत्युक्तः
 प्रत्युवाच उषस्तिः—

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै
 प्रददौ हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पी-
 तं स्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

एतेषाम् एतानित्यर्थः, मे मह्यं देहीति ह उवाच ; तान्
 स इभ्यः अस्मै उषस्तये प्रददौ प्रदत्तवान् । पानाय समी-
 पस्थमुदकं च गृहीत्वा उवाच—हन्त गृहाणानुपानम् ; इत्युक्तः
 प्रत्युवाच—उच्छिष्टं वै मे मम इदमुदकं पीतं स्यात्, यदि
 पास्यामि ; इत्युक्तवन्तं प्रत्युवाच इतरः—

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अ-
 जीविष्यमिमानखादन्निति होवाच का-
 मो म उदपानमिति ॥ ४ ॥

किं न स्विदेते कुल्माषा अप्युच्छिष्टाः, इत्युक्तः आह
 उषस्तिः—न वै अजीविष्यं नैव जीविष्यामि इमान् कुल्मा-

षान् अखादन् अभक्षयन् इति होवाच । कामः इच्छातः मे मम उदकपानं लभ्यत इत्यर्थः । अतश्चैतामवस्थां प्राप्तस्य विद्याधर्मयशोवतः स्वात्मपरोपकारसमर्थस्यैतदपि कर्म कुर्वतो न अघस्पर्श इत्यभिप्रायः । तस्यापि जीवितं प्रति उपायान्तरेऽजुगुप्सिते सति जुगुप्सितमेतत्कर्म दोषाय ; ज्ञानावलेपेन कुर्वतो नरकपातः स्यादेवेत्यभिप्रायः, प्रद्राणकशब्द-श्रवणात् ॥

**स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आज-
हार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रति-
गृह्य निदधौ ॥ ५ ॥**

तांश्च स खादित्वा अतिशेषान् अतिशिष्टान् जायायै कारुण्यादाजहार ; सा आटिकी अग्रे एव कुलमाषप्राप्तेः सुभिक्षा शोभनभिक्षा, लब्धान्नेत्येतत्, बभूव संवृत्ता ; तथापि स्त्रीस्वाभाव्यादनवज्ञाय तान्कुलमाषान् पत्युर्हस्तात्प्रतिगृह्य निदधौ निक्षिप्रवती ॥

**स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्वतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्रां रा-
जासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्तिव्यैर्वृणी-
तेति ॥ ६ ॥**

स तस्याः कर्म जानन् प्रातः उषःकाले संजिहानः
 शयनं निद्रां वा परित्यजन् उवाच पत्न्याः शृण्वन्त्याः—यत्
 यदि बतेति खिद्यमानः अन्नस्य स्तोकं लभेमहि, तद्भुक्त्वान्नं
 समर्थो गत्वा लभेमहि धनमात्रां धनस्याल्पम्; ततः अ-
 स्माकं जीवनं भविष्यतीति । धनलाभे च कारणमाह—
 राजासौ नातिदूरे स्थाने यक्ष्यते; यजमानत्वात्तस्य आत्म-
 नेपदम्; स च राजा मा मां पात्रमुपलभ्य सर्वैरात्विज्यैः
 ऋत्विक्कर्मभिः ऋत्विक्कर्मप्रयोजनायेत्यर्थः वृणीतेति ॥

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कु-
 लमाषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं वितत-
 मेयाय ॥ ७ ॥

एवमुक्तवन्तं जायोवाच— हन्त गृहाण हे पते इमे एव
 ये मद्धस्ते विनिक्षिप्तास्त्वया कुलमाषा इति । तान्खादित्वा
 अमुं यज्ञं राज्ञो विततं विस्तारितमृत्विग्भिः एयाय ॥

तत्रोद्गातृनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोप-
 विवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

तत्र च गत्वा, उद्गातृन् उद्गातृपुरुषानागत्य, आ स्तुवन्त्य-
 स्मिन्निति आस्तावः तस्मिन्नास्तावे स्तोष्यमाणान् उपोपविवेश

समीपे उपविष्टस्तेषामित्यर्थः । उपविश्य च स ह प्रस्तो-
तारमुवाच ॥

**प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता
तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विप-
तिष्यतीति ॥ ९ ॥**

हे प्रस्तोतः इत्यामन्त्र्य अभिमुखीकरणाय, या देवता
प्रस्तावं प्रस्तावभक्तिम् अनुगता अन्वायत्ता, तां चेत् देवतां
प्रस्तावभक्तेः अविद्वान्सन् प्रस्तोष्यसि, विदुषो मम समीपे—
तत्परोक्षेऽपि चेत् विपतेत्तस्य मूर्धा, कर्ममात्रविदामनधिकार
एव कर्मणि स्यात्; तच्चानिष्टम्, अविदुषामपि कर्मदर्शनात्,
दक्षिणमार्गश्रुतेश्च; अनधिकारे च अविदुषामुत्तर एवैको
मार्गः श्रूयेत; न च स्मार्तकर्मनिमित्त एव दक्षिणः पन्थाः,
'यज्ञेन दानेन' इत्यादिश्रुतेः; 'तथोक्तस्य मया' इति च विशे-
षणाद्विद्वत्समक्षमेव कर्मण्यनधिकारः, न सर्वत्राग्निहोत्रस्मा-
र्तकर्माध्ययनादिषु च; अनुज्ञायास्तत्र तत्र दर्शनात्, कर्म-
मात्रविदामप्यधिकारः सिद्धः कर्मणीति— मूर्धा ते विप-
तिष्यतीति ॥

**एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतो-
द्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि**

मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या
देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्या-
न्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति
ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥११॥

इति दशमः खण्डः ॥

एवमेवोद्गातारं प्रतिहर्तारमुवाचेत्यादि समानमन्यत् । ते
प्रस्तोत्रादयः कर्मभ्यः समारताः उपरताः सन्तः मूर्धपातभ-
यात् तूष्णीमासांचक्रिरे अन्यच्चाकुर्वन्तः, अर्थित्वात् ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥

एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं
वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चा-
क्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

अथ अनन्तरं ह एनम् उषस्ति यजमानः राजा उवाच
भगवन्तं पूजावन्तम् वै अहं विविदिषाणि वेदितुमिच्छामि ;
इत्युक्तः उषस्तिः अस्मि चाक्रायणः त्वापि श्रोत्रपथमागतो
यदि— इति ह उवाच उक्तवान् ॥

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः स-
र्वैरार्त्विज्यैः पर्येषिषं भगवतो वा अहम-
वित्त्यान्यानवृषि ॥ २ ॥

स ह यजमानः उवाच—सत्यमेवमहं भगवन्तं बहुगुणम-
श्रौषम्, सर्वैश्च ऋत्विक्कर्मभिः आर्त्विज्यैः पर्येषिषं पर्येषणं
कृतवानस्मि ; अन्विष्य भगवतो वा अहम् अवित्त्या अलाभेन
अन्यानिमान् अवृषि वृतवानस्मि ॥

भगवाँस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति
तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां

यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या
इति तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

अद्यापि भगवांस्त्वेव मे मम सर्वैरातिवज्यैः ऋत्विक्कर्मार्थम्
अस्तु, इत्युक्तः तथेत्याह उपस्तिः ; किं तु अथैवं तर्हि एते एव
त्वया पूर्वं वृताः मया समतिसृष्टाः मया सम्यक्प्रसन्नेनानु-
ज्ञाताः सन्तः स्तुवताम् ; त्वया त्वेतत्कार्यम्— यावत्त्वेभ्यः
प्रस्तोत्रादिभ्यः सर्वेभ्यो धनं दद्याः प्रयच्छसि, तावन्मम
दद्याः ; इत्युक्तः तथेति ह यजमानः उवाच ॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वा-
न्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा
भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

अथ ह एनम् औषस्त्यं वचः श्रुत्वा प्रस्तोता उपससाद
उपस्तिं विनयेनोपजगाम । प्रस्तोतर्या देवतेत्यादि मा मां
भगवानवोचत्पूर्वम्— कतमा सा देवता या प्रस्तावभक्ति-
मन्वायत्तेति ॥

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा
इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति

प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावम-
न्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा
ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

पृष्ठः प्राण इति ह उवाच ; युक्तं प्रस्तावस्य प्राणो देव-
तेति । कथम् ? सर्वाणि स्थावरजङ्गमानि भूतानि प्राणमेव
अभिसंविशन्ति प्रलयकाले, प्राणमभि लक्षयित्वा प्राणात्मनैवो-
ज्जिहते प्राणादेवोद्गच्छन्तीत्यर्थः उत्पत्तिकाले ; अतः सैषा
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ; तां चेदविद्वान् त्वं प्रास्तोष्यः
प्रस्तवनं प्रस्तावभक्तिं कृतवानसि यदि, मूर्धा शिरः ते व्यप-
तिष्यत् विपतितमभविष्यत् तथोक्तस्य मया तत्काले मूर्धा
ते विपतिष्यतीति । अतस्त्वया साधु कृतम् ; मया निषिद्धः
कर्मणो यदुपरममकार्षीरित्यभिप्रायः ॥

अथ हैनमुद्रातोपससादोद्रातर्या देव-
तोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्रास्यसि
मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवो-
चत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

तथोद्राता पप्रच्छ कतमा सा उद्गीथभक्तिमनुगता अन्वा-
यत्ता देवतेति ॥

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा
इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति
सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वा-
नुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य
मयेति ॥ ७ ॥

पृष्ठः आदित्य इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि
भूतानि आदित्यम् उच्चैः ऊर्ध्वं सन्तं गायन्ति शब्दयन्ति,
स्तुवन्तीत्यभिप्रायः, उच्छब्दसामान्यात्, प्रशब्दसामान्यादिव
प्राणः । अतः सैषा देवतेत्यादि पूर्ववत् ॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या
देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वा-
न्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति
मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥

एवमेवाथ ह एनं प्रतिहर्ता उपससाद कतमा सा देवता
प्रतिहारमन्वायत्तेति ॥

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमा-
नि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीव-

न्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां
चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपति-
ष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥

इति एकादशः खण्डः ॥

पृष्ठः अन्नमिति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूता-
न्यन्नमेव आत्मानं प्रति सर्वतः प्रतिहरमाणानि जीवन्ति ।
सैषा देवता प्रतिशब्दसामान्यात्प्रतिहारभक्तिमनुगता । समा-
नमन्यत्तथोक्तस्य मयेति । प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारभक्तीः प्राणा-
दित्यान्नदृष्ट्योपासीतेति समुदायार्थः । प्राणाद्यापत्तिः कर्म-
समृद्धिर्वा फलमिति ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वादशः खण्डः ॥

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दा-
ल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्व-
व्राज ॥ १ ॥

अतीते खण्डेऽन्नाप्राप्तिनिमित्ता कष्टावस्थोक्ता उच्छिष्टो-
च्छिष्टपर्युषितभक्षणलक्षणा; सा मा भूदित्यन्नलाभाय
अथ अनन्तरं शौवः श्वभिर्दृष्टः उद्गीथः उद्गानं साम अतः
प्रस्तूयते । तत् तन्न ह किल बको नामतः, दल्भस्यापत्यं दा-
ल्भ्यः; ग्लावो वा नामतः, मित्रायाश्चापत्यं मैत्रेयः; वा-
शब्दश्चार्थे; व्यामुष्यायणो ह्यसौ; वस्तुविषये क्रियास्विव
विकल्पानुपपत्तेः; द्विनामा द्विगोत्र इत्यादि हि स्मृतिः;
दृश्यते च उभयतः पिण्डभाक्त्वम्; उद्गीथे बद्धचित्तत्वात्
ऋषावनादराद्वा । वा-शब्दः स्वाध्यायार्थः । स्वाध्यायं कर्तुं
ग्रामाद्वहिः उद्वव्राज उद्गतवान्विविक्तदेशस्थोदकाभ्याशम् ।
'उद्वव्राज' 'प्रतिपालयांचकार' इति च एकवचनालिङ्गात्
एकोऽसौ ऋषिः । श्वोद्गीथकालप्रतिपालनात् ऋषेः स्वाध्याय-
करणमन्नकामनयेति लक्ष्यत इत्यभिप्रायतः ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये

**श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागाय-
त्वशनायामवा इति ॥ २ ॥**

स्वाध्यायेन तोषिता देवता ऋषिर्वा श्वरूपं गृहीत्वा श्वा
श्वेतः सन् तस्मै ऋषये तदनुग्रहार्थं प्रादुर्बभूव प्रादुश्चकार ।
तमन्ये शुक्लं श्वानं क्षुल्लकाः श्वानः उपसमेत्य ऊचुः उक्तव-
न्तः— अन्नं नः अस्मभ्यं भगवान् आगायतु आगानेन नि-
ष्पादयत्वित्यर्थः । मुख्यप्राणवागादयो वा प्राणमन्वन्नभुजः
स्वाध्यायपरितोषिताः सन्तः अनुगृह्णीयुरेनं श्वरूपमादायेति
युक्तमेवं प्रतिपत्तुम् । अशनायाम वै बुभुक्षिताः स्मो वै
इति ॥

**तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति
तद्ध बको दालभ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्र-
तिपालयांचकार ॥ ३ ॥**

एवमुक्ते श्वा श्वेत उवाच तान् क्षुल्लकान् शुनः, इहैव
अस्मिन्नेव देशे मा मां प्रातः प्रातःकाले उपसमीयातेति ।
दैर्घ्यं छान्दसम्, समीयातेति प्रमादपाठो वा । प्रातःकालक-
रणं तत्काल एव कर्तव्यार्थम्, अन्नदस्य वा सवितुरपरा-
ह्णेऽनाभिमुख्यात् । तत् तत्रैव ह बको दालभ्यो ग्लावो वा
मैत्रेय ऋषिः प्रतिपालयांचकार प्रतीक्षणं कृतवानित्यर्थः ॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्य-
माणाः संरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपु-
स्ते ह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥ ४ ॥

ते श्वानः तत्रैव आगत्य ऋषेः समक्षं यथैवेह कर्मणि बहि-
ष्पवमानेन स्तोत्रेण स्तोष्यमाणाः उद्गातृपुरुषाः संरब्धाः संल-
म्भाः अन्योन्यमेव सर्पन्ति, एवं मुखेनान्योन्यस्य पुच्छं गृहीत्वा
आससृपुः आसृप्तवन्तः, परिभ्रमणं कृतवन्त इत्यर्थः ; त एवं सं-
सृप्य समुपविश्य उपविष्टाः सन्तः हिं चक्रुः हिंकारं कृतवन्तः ॥

ओ३मदा३मों३ पिबा३मों३ देवो वरुणः
प्रजापतिः सविता२न्नमिहा२हरदन्नपते३-
ऽन्नमिहा२हरा२हरो३मिति ॥ ५ ॥

ओमदामों पिबामों देवः, द्योतनात् ; वरुणः वर्षणाज्ज-
गतः ; प्रजापतिः, पालनात्प्रजानाम् ; सविता प्रसवितृत्वा-
त्सर्वस्य आदित्य उच्यते । एतैः पर्यायैः स एवंभूतः आ-
दित्यः अन्नम् अस्मभ्यम् इह आहरत् आहरत्विति । ते एवं
हिं कृत्वा पुनरप्यूचुः— स त्वं हे अन्नपते ; स हि सर्वस्या-
न्नस्य प्रसवितृत्वात्पतिः ; न हि तत्पाकेन विना प्रसूतमन्न-
मणुमात्रमपि जायते प्राणिनाम् ; अतोऽन्नपतिः । हे अन्नपते,
अन्नमस्मभ्यमिहाहराहरेति ; अभ्यासः आदरार्थः । ओमिति ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

भक्तिविषयोपासनं सामावयवसंबद्धमित्यतः सामावयवा-
न्तरस्तोभाक्षरविषयाण्युपासनान्तराणि संहतान्युपदिश्यन्ते-
ऽनन्तरम्, तेषां सामावयवसंबद्धत्वाविशेषात्—

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइ-
कारश्चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारो-
ऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

अयं वाव अयमेव लोकः हाउकारः स्तोभो रथंतरे
साम्नि प्रसिद्धः—‘इयं वै रथंतरम्’ इत्यस्मात्संबन्धसामान्या-
त् हाउकारस्तोभोऽयं लोकः इत्येवमुपासीत । वायुर्हाइकारः ;
वामदेव्ये सामनि हाइकारः प्रसिद्धः ; वाय्वस्संबन्धश्च
वामदेव्यस्य साम्नो योनिः इत्यस्मात्सामान्यात् हाइकारं
वायुदृष्ट्योपासीत । चन्द्रमा अथकारः ; चन्द्रदृष्ट्या अथ-
कारमुपासीत ; अन्ने हीदं स्थितम् ; अन्नात्मा चन्द्रः ;
थकाराकारसामान्याच्च । आत्मा इहकारः ; इहेति स्तोभः ;
प्रत्यक्षो ह्यात्मा इहेति व्यपदिश्यते ; इहेति च स्तोभः ;
तत्सामान्यात् । अग्निरीकारः ; ईनिधनानि च आग्नेयानि
सर्वाणि सामानीत्यतस्तत्सामान्यात् ॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वे-
देवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिकारः प्रा-
णः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २ ॥

आदित्यः ऊकारः; उच्चैरूर्ध्वं सन्तमादित्यं गायन्तीति ऊ-
कारश्चायं स्तोभः; आदित्यदैवत्ये साम्नि स्तोभ इति आदित्य
ऊकारः । निहव इत्याह्वानम्; एकारः स्तोभः; एहीति च
आह्वयन्तीति तत्सामान्यात् । विश्वेदेवा औहोयिकारः, वैश्व-
देव्ये साम्नि स्तोभस्य दर्शनात् । प्रजापतिर्हिकारः, आनि-
रुक्त्यात्, हिकारस्य च अव्यक्तत्वात् । प्राणः स्वरः; स्वर
इति स्तोभः; प्राणस्य च स्वरहेतुत्वसामान्यात् । अन्नं या
या इति स्तोभः अन्नम्, अन्नेन हीदं यातीत्यतस्तत्सामा-
न्यात् । वागिति स्तोभो विराट् अन्नं देवताविशेषो वा,
वैराजे साम्नि स्तोभदर्शनात् ॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुं-
कारः ॥ ३ ॥

अनिरुक्तः अव्यक्तत्वादिदं चेदं चेति निर्वक्तुं न शक्यत
इत्यतः संचरः विकल्प्यमानस्वरूप इत्यर्थः । कोऽसाविति,
आह— त्रयोदशः स्तोभः हुंकारः । अव्यक्तो ह्ययम्; अतो-
ऽनिरुक्तविशेष एवोपास्य इत्यभिप्रायः ॥

स्तोभाक्षरोपासनाफलमाह—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहो-
ऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेव५ साम्ना-
मुपनिषदं वेदोपनिषदं वेदेति ॥ ४ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहमित्याद्युक्तार्थम् । य एतामेवं यथोक्तल-
क्षणां साम्नां सामावयवस्तोभाक्षरविषयाम् उपनिषदं दर्शनं
वेद, तस्य एतद्यथोक्तं फलमित्यर्थः । द्विरभ्यासः अध्यायपरि-
समाप्त्यर्थः । सामावयवविषयोपासनाविशेषपरिसमाप्त्यर्थः
इति-शब्द इति ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-
त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः

समाप्तः ॥

छान्दोग्योपनिषद् षष्ठ्यम्

द्वितीयोऽध्यायः

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥



‘ओमित्येतदक्षरम्’ इत्यादिना सामावयव-
विषयमुपासनमनेकफलमुपदिष्टम् । अनन्तरं
च स्तोभाक्षरविषयमुपासनमुक्तम्— सर्वथा-
पि सामैकदेशसंबद्धमेव तदिति । अथेदानीं
समस्ते साम्नि समस्तसामविषयाण्युपासनानि वक्ष्यामीत्यार-
भते श्रुतिः । युक्तं हि एकदेशोपासनानन्तरमेकदेशिविषयमु-
पासनमुच्यत इति ॥

समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु
यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु
तदसामेति ॥ १ ॥

समस्तस्य सर्वावयवविशिष्टस्य पञ्चभक्तिकस्य साम्भक्ति-
कस्य च इत्यर्थः । खल्विति वाक्यालंकारार्थः । साम्न उपा-
सनं साधु । समस्ते साम्नि साधुदृष्टिविधिपरत्वान्न पूर्वोपास-
ननिन्दार्थत्वं साधुशब्दस्य । ननु पूर्वत्राविद्यमानं साधुत्वं

समस्ते साम्न्यभिधीयते । न, 'साधु सामेत्युपास्ते' इत्युपसंहारात् । साधुशब्दः शोभनवाची । कथमवगम्यत इति, आह—यत्खलु लोके साधु शोभनमनवद्यं प्रसिद्धम्, तत्सामेत्याचक्षते कुशलाः । यदसाधु विपरीतम्, तदसामेति ॥

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

तत् तत्रैव साध्वसाधुविवेककरणे उताप्याहुः—साम्ना एनं राजानं सामन्तं च उपागात् उपगतवान्; कोऽसौ? यतः असाधुत्वप्राप्त्याशङ्का स इत्यभिप्रायः; शोभनाभिप्रायेण साधुना एनमुपागात् इत्येव तत् तत्र आहुः लौकिकाः बन्धनाद्यसाधुकार्यमपश्यन्तः । यत्र पुनर्विपर्ययेण बन्धनाद्यसाधुकार्यं पश्यन्ति, तत्र असाम्ना एनमुपागादिति असाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

अथोताप्याहुः स्वसंवेद्यं साम नः अस्माकं बतेति अनुक-
 म्पयन्तः संवृत्तमित्याहुः; एतत्तैरुक्तं भवति, यत्साधु भवति
 साधु बतेत्येव तदाहुः; विपर्यये जाते असाम नो बतेति;
 यदसाधु भवति असाधु बतेत्येव तदाहुः; तस्मात्सामसाधु-
 शब्दयोरेकार्थत्वं सिद्धम् ॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपा-
 स्तेऽभ्याशो ह यदेन५ साधवो धर्मा आ
 च गच्छेयुरूप च नमेयुः ॥ ४ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

अतः स यः कश्चित्साधु सामेति साधुगुणवत्सामेत्युपास्ते
 समस्तं साम साधुगुणवद्विद्वान्, तस्यैतत्फलम् अभ्याशो ह
 क्षिप्रं ह, यत् इति क्रियाविशेषणार्थम्, एनम् उपासकं साधवः
 शोभनाः धर्माः श्रुतिस्मृत्यविरुद्धाः आ च गच्छेयुः आग-
 च्छेयुश्च; न केवलमागच्छेयुः, उप च नमेयुः उपनमेयुश्च,
 भोग्यत्वेनोपतिष्ठेयुरित्यर्थः ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः ॥

लोकेषु पञ्चविधः सामोपासीत पृथि-
वी हिंकारः । अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमु-
द्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यू-
ध्वेषु ॥ १ ॥

कानि पुनस्तानि साधुदृष्टिविशिष्टानि समस्तानि सामा-
न्युपास्यानीति, इमानि तान्युच्यन्ते— लोकेषु पञ्चविधम्
इत्यादीनि । ननु लोकादिदृष्ट्या तान्युपास्यानि साधुदृष्ट्या
च इति विरुद्धम् ; न, साध्वर्थस्य लोकादिकार्येषु कारणस्यानु-
गतत्वात्— मृदादिवद्वटादिविकारेषु । साधुशब्दवाच्योऽर्थो
धर्मो ब्रह्म वा सर्वथापि लोकादिकार्येष्वनुगतम् । अतः यथा
यत्र घटादिदृष्टिः मृदादिदृष्ट्यनुगतैव सा, तथा साधुदृष्ट्यनु-
गतैव लोकादिदृष्टिः— धर्मादिकार्यत्वाल्लोकादीनाम् । यद्यपि
कारणत्वमविशिष्टं ब्रह्मधर्मयोः, तथापि धर्म एव साधुशब्द-
वाच्य इति युक्तम्, साधुकारी साधुर्भवति इति धर्मविषये
साधुशब्दप्रयोगात् । ननु लोकादिकार्येषु कारणस्यानुगतत्वा-
दर्थप्राप्तैव तद्दृष्टिरिति 'साधु सामेत्युपास्ते' इति न वक्तव्यम् ;

न, शास्त्रगम्यत्वात्तदृष्टेः ; सर्वत्र हि शास्त्रप्रापिता एव धर्मा
उपास्याः, न विद्यमाना अप्यशास्त्रीयाः ॥

लोकेषु पृथिव्यादिषु पञ्चविधं पञ्चभक्तिभेदेन पञ्चप्र-
कारं साधु समस्तं सामोपासीत । कथम् ? पृथिवी हिंकारः ।
लोकेष्विति या सप्तमी, तां प्रथमात्वेन विपरिणमय्य पृथिवी-
दृष्ट्या हिंकारे पृथिवी हिंकार इत्युपासीत । व्यत्यस्य वा
सप्तमीश्रुतिं लोकविषयां हिंकारादिषु पृथिव्यादिदृष्टिं कृत्वो-
पासीत । तत्र पृथिवी हिंकारः, प्राथम्यसामान्यात् । अग्निः
प्रस्तावः । अग्नौ हि कर्माणि प्रस्तूयन्ते । प्रस्तावश्च भक्तिः ।
अन्तरिक्षमुद्गीथः । अन्तरिक्षं हि गगनम् । गकारविशिष्ट-
ओद्गीथः । आदित्यः प्रतिहारः, प्रतिप्राण्यभिमुखत्वान्मां
प्रति मां प्रतीति । द्यौर्निधनम् । दिवि निधीयन्ते हि इतो
गता इत्यूर्ध्वेषूर्ध्वगतेषु लोकदृष्ट्या सामोपासनम् ॥

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्ता-
वोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी
निधनम् ॥ २ ॥

अथ आवृत्तेषु अवाङ्मुखेषु पञ्चविधमुच्यते सामोपा-
सनम् । गत्यागतिविशिष्टा हि लोकाः । यथा ते, तथाह-

ष्टयैव सामोपासनं विधीयते यतः, अत आवृत्तेषु लोकेषु ।
 द्यौर्हिकारः, प्राथम्यात् । आदित्यः प्रस्तावः, उदिते ह्यादि-
 त्ये प्रस्तूयन्ते कर्माणि प्राणिनाम् । अन्तरिक्षमुद्गीथः पूर्ववत् ।
 अग्निः प्रतिहारः, प्राणिभिः प्रतिहरणादग्नेः । पृथिवी निध-
 नम्, तत आगतानामिह निधनात् ॥

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृ-
 त्ताश्च य एतदेवं विद्वान्लोकेषु पञ्चविधं
 सामोपास्ते ॥ ३ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

उपासनफलं— कल्पन्ते समर्था भवन्ति ह अस्मै
 लोका ऊर्ध्वाश्च आवृत्ताश्च, गत्यागतिविशिष्टा भोग्यत्वेन
 व्यवतिष्ठन्त इत्यर्थः । य एतदेवं विद्वान् लोकेषु पञ्चविधं
 समस्तं साधु सामेत्युपास्ते इति सर्वत्र योजना पञ्चविधे
 सप्तविधे च ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः ॥

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत पुरोवा-
तो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्ष-
ति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्र-
तिहार उद्गृह्णाति तन्निधनम् ॥ १ ॥

वृष्टौ पञ्चविधं साम उपासीत । लोकस्थितेः वृष्टिनि-
मित्तत्वादानन्तर्यम् । पुरोवातो हिंकारः । पुरोवाताद्युद्गृह-
णान्ता हि वृष्टिः, यथा साम हिंकारादिनिधनान्तम् ; अतः
पुरोवातो हिंकारः, प्राथम्यात् । मेघो जायते स प्रस्तावः ;
प्रावृषि मेघजनने वृष्टेः प्रस्ताव इति हि प्रसिद्धिः ; वर्षति स
उद्गीथः, श्रैष्ठ्यात् ; विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः, प्रति-
हृतत्वात् ; उद्गृह्णाति तत् निधनम्, समाप्तिसामान्यात् ॥

वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं
विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ २ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

फलमुपासनस्य— वर्षति ह अस्मै इच्छातः । तथा वर्ष-
यति ह असत्यामपि वृष्टौ । य एतदित्यादि पूर्ववत् ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत मेघो
यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्ता
वो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः
प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं साम उपासीत । वृष्टिपूर्वकत्वात्स-
र्वासामपामानन्तर्यम् । मेघो यत्संप्लवते एकीभावेनेतरेतरं
घनीभवति मेघः यदा उन्नतः, तदा संप्लवते इत्युच्यते,
तदा अपामारम्भः स हिंकारः; यद्वर्षति स प्रस्तावः; आ-
पः सर्वतो व्याप्तुं प्रस्तुताः । याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गी-
थः, श्रेष्ठयात्; याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः, प्रतिशब्दसामा-
न्यात्; समुद्रो निधनम्, तन्निधनत्वादपाम् ॥

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं
विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

न ह अप्सु प्रैति । नेच्छति चेत् । अप्सुमान् अम्मान्भ-
वति फलम् ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चमः खण्डः ॥

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत वस-
न्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गी-
थः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥१॥

ऋतुषु पञ्चविधं साम उपासीत । ऋतुव्यवस्थाया यथो-
क्ताम्बुनिमित्तत्वादानन्तर्यम् । वसन्तो हिंकारः, प्राथम्यात्;
ग्रीष्मः प्रस्तावः; यवादिसंग्रहः प्रस्तूयते हि प्रावृडर्थम्; व-
र्षा उद्गीथः, प्राधान्यात्; शरत् प्रतिहारः, रोगिणां मृतानां च
प्रतिहरणात्; हेमन्तो निधनम्, निवाते निधनात्प्राणिनाम् ॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति
य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधं सामो-
पास्ते ॥ २ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

फलम्—कल्पन्ते ह ऋतुव्यवस्थानुरूपं भोग्यत्वेनास्मै
उपासकाय ऋतवः । ऋतुमान् आर्तवैर्भोगैश्च संपन्नो भवती-
त्यर्थः ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

पशुषु पञ्चविधं सामोपासीताजा हिं-
कारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वः प्र-
तिहारः पुरुषो निधनम् ॥ १ ॥

पशुषु पञ्चविधं साम उपासीत । सम्यग्बृत्तेष्वृतुषु पश-
व्यः काल इत्यानन्तर्यम् । अजा हिंकारः, प्राधान्यात्, प्राथ-
म्याद्वा— ‘अजः पशूनां प्रथमः’ इति श्रुतेः; अवयः प्रस्तावः,
साहचर्यदर्शनादजावीनाम्; गाव उद्गीथः, श्रैष्ठ्यात्; अश्वः
प्रतिहारः, प्रतिहरणात्पुरुषाणाम्; पुरुषो निधनम्, पुरुषाश्र-
यत्वात्पशूनाम् ॥

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति
य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधं सा-
मोपास्ते ॥ २ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

फलम्— भवन्ति ह अस्य पशवः पशुमान्भवति, पशुफ-
लैश्च भोगत्यागादिभिर्युज्यत इत्यर्थः ॥

इति षष्ठखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपा-
सीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गी-
थः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोव-
रीयांसि वा एतानि ॥ १ ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः साम उपासीत, परं परं
वरीयस्त्वगुणवत्प्राणदृष्टिविशिष्टं सामोपासीतेत्यर्थः । प्राणो
हिंकारः, उत्तरोत्तरवरीयसां प्राथम्यात्; वाक् प्रस्तावः, वाचा
हि प्रस्तूयते सर्वम्, वाग्वरीयसी प्राणात्— अप्राप्तमप्युच्यते
वाचा, प्राप्तस्यैव तु गन्धस्य ग्राहकः प्राणः; चक्षुरुद्गीथः,
वाचो बहुतरविषयं प्रकाशयति चक्षुः, अतो वरीयो वाचः
उद्गीथः, श्रैष्ठ्यात्; श्रोत्रं प्रतिहारः, प्रतिहतत्वात्; वरीय-
श्चक्षुषः, सर्वतः श्रवणात्; मनो निधनम्, मनसि हि निधी-
यन्ते पुरुषस्य भोग्यत्वेन सर्वेन्द्रियाहता विषयाः; वरी-
यस्त्वं च श्रोत्रान्मनसः, सर्वेन्द्रियविषयव्यापकत्वात्; अ-
तीन्द्रियविषयोऽपि मनसो गोचर एवेति । यथोक्तहेतुभ्यः
परोवरीयांसि प्राणादीनि वै एतानि ॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो
ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु
पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु
पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

एतद्दृष्ट्या विशिष्टं यः परोवरीयः साम उपास्ते, परो-
वरीयो ह अस्य जीवनं भवतीत्युक्तार्थम् । इति तु पञ्चवि-
धस्य साम्न उपासनमुक्तमिति सप्तविधे वक्ष्यमाणविषये
बुद्धिसमाधानार्थम् । निरपेक्षो हि पञ्चविधे, वक्ष्यमाणे बुद्धि-
समाधित्सति ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधं सामोपासीत यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥

अथ अनन्तरं सप्तविधस्य समस्तस्य साम्न उपासनं साध्विदमारभ्यते । वाचि इति सप्तमी पूर्ववत्, वाग्दृष्टिविशिष्टं सप्तविधं सामोपासीतेत्यर्थः । यत्किंच वाचः शब्दस्य हुमिति यो विशेषः स हिंकारः, हकारसामान्यात् । यत्प्रेति शब्दरूपं स प्रस्तावः, प्र-सामान्यात् । यत् आ इति स आदिः, आकारसामान्यात् । आदिरित्योकारः, सर्वादित्वात् ॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥

यदुदिति स उद्गीथः, उत्पूर्वत्वादुद्गीथस्य ; यत्प्रतीति स प्रतिहारः, प्रतिसामान्यात् ; यदुपेति स उपद्रवः, उपोपक्रमत्वादुपद्रवस्य ; यन्नीति तन्निधनम्, नि-शब्दसामान्यात् ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधं सामोपास्ते ॥ ३ ॥

दुग्धेऽस्मै इत्याद्युक्तार्थम् ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः ॥

अथ खल्वमुमादित्यः सप्तविधः सामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥

अवयवमात्रे साम्न्यादित्यदृष्टिः पञ्चविधेषूक्ता प्रथमे चाध्याये । अथ इदानीं खलु अमुमादित्यं समस्ते साम्न्यवयवविभागशोऽध्यस्य सप्तविधं सामोपासीत । कथं पुनः सामत्वमादित्यस्येति, उच्यते— उद्गीथत्वे हेतुवदादित्यस्य सामत्वे हेतुः । कोऽसौ ? सर्वदा समः वृद्धिक्षयाभावात् ; तेन हेतुना साम आदित्यः । मां प्रति मां प्रतीति तुल्यां बुद्धिमुत्पादयति ; अतः सर्वेण समः ; अतः साम, समत्वादित्यर्थः । उद्गीथभक्तिसामान्यवचनादेव लोकादिषूक्तसामान्यान् हिंकारादित्वं गम्यत इति हिंकारादित्वे कारणं नोक्तम् । सामत्वे पुनः सवितुरनुक्तं कारणं न सुबोधमिति समत्वमुक्तम् ॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वाय-
क्षानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिं-

**कारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं
कुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥**

तस्मिन् आदित्ये अवयवविभागशः इमानि वक्ष्यमाणा-
नि सर्वाणि भूतानि अन्वायत्तानि अनुगतान्यादित्यमुपजी-
व्यत्वेन इति विद्यात् । कथम् ? तस्य आदित्यस्य यत्पुरोदया-
त् धर्मरूपम्, स हिंकारः भक्तिः ; तत्रेदं सामान्यम्, यत्तस्य
हिंकारभक्तिरूपम् । तदस्यादित्यस्य साम्नः पशवः गवादयः
अन्वायत्ताः अनुगताः तद्भक्तिरूपमुपजीवन्तीत्यर्थः । यस्मा-
देवम्, तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति पशवः प्रागुदयात् । तस्माद्धिंका-
रभाजिनो हि एतस्य आदित्याख्यस्य साम्नः, तद्भक्तिभजन-
शीलत्वाद्धि त एवं वर्तन्ते ॥

**अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य
मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिका-
माः प्रशंसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्ये-
तस्य साम्नः ॥ ३ ॥**

अथ यत्प्रथमोदिते सवितृरूपम्, तदस्य आदित्याख्यस्य
साम्नः स प्रस्तावः ; तदस्य मनुष्या अन्वायत्ताः पूर्ववत् । त-

स्मात्ते प्रस्तुतिं प्रशंसां कामयन्ते, यस्मात्प्रस्तावभाजिनो हि एतस्य साम्नः ॥

अथ यत्संगववेलायां स आदिस्त-
दस्य वयांस्वन्वायत्तानि तस्मात्तान्य-
न्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिप-
तन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

अथ यत् संगववेलायां गवां रश्मीनां संगमनं संगवो यस्यां वेलायाम्, गवां वा वत्सैः सह, सा संगववेला तस्मिन्काले यत्सावित्रं रूपम्, स आदिः भक्तिविशेषः ओंकारः । तदस्य वयांसि पक्षिणोऽन्वायत्तानि । यत एवम्, तस्मात् तानि वयांसि अन्तरिक्षे अनारम्बणानि अनालम्बनानि, आत्मानमादाय आत्मानमेव आलम्बनत्वेन गृहीत्वा, परिपतन्ति गच्छन्ति; अत आकारसामान्यादादिभक्तिभाजीनि हि एतस्य साम्नः ॥

अथ यत्संप्रतिमध्यंदिने स उद्गीथस्त-
दस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः
प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य सा-
म्नः ॥ ५ ॥

अथ यत् संप्रतिमध्यंदिने ऋजुमध्यंदिने इत्यर्थः, स उद्गीथभक्तिः, तदस्य देवा अन्वायत्ताः, द्योतनातिशयात्तत्काले । तस्मात्ते सत्तमाः विशिष्टतमाः प्राजापत्यानां प्रजापत्यपत्यानाम्, उद्गीथभाजिनो हि एतस्य साम्नः ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृतानावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात् प्रागपराह्णात् यद्रूपं सवितुः, स प्रतिहारः; तदस्य गर्भा अन्वायत्ताः । अतः ते सवितुः प्रतिहारभक्तिरूपेणोर्ध्वं प्रतिहृताः सन्तः नावपद्यन्ते नाधः पतन्ति, तद्वारे सत्यपीत्यर्थः । यतः प्रतिहारभाजिनो हि एतस्य साम्नो गर्भाः ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षं श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात् प्रागस्तमयात् स उपद्रवः, तदस्य आरण्याः पशवः अन्वायत्ताः । तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा भीताः कक्षम् अरण्यं श्वभ्रं भयशून्यमिति उपद्रवन्ति उपगच्छन्ति ; दृष्ट्वोपद्रवणात् उपद्रवभाजिनो हि एतस्य साम्नः ॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते ॥ ८ ॥

इति नवमः खण्डः ॥

अथ यत् प्रथमास्तमितेऽदर्शनं जिगमिषति सवितरि, तन्निधनम्, तदस्य पितरः अन्वायत्ताः ; तस्मात्तान्निदधति— पितृपितामहप्रपितामहरूपेण दर्भेषु निक्षिपन्ति तान् ; तदर्थं पिण्डान्वा स्थापयन्ति । निधनसंबन्धान्निधनभाजिनो हि एतस्य साम्नः पितरः । एवमवयवशः सप्तधा विभक्तं खलु अमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते यः, तस्य तदापत्तिः फलमिति वाक्यशेषः ॥

इति नवमखण्डभाष्यम् ॥

दशमः खण्डः ॥

मृत्युः आदित्यः, अहोरात्रादिकालेन जगतः प्रमापयित्वात् । तस्य अतितरणाय इदं सामोपासनमुपदिश्यते—

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तवि-
धं सामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं
प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

अथ खलु अनन्तरम्, आदित्यमृत्युविषयसामोपासनस्य ; आत्मसंमितं स्वावयवतुल्यतया मितम्, परमात्मतुल्यतया वा संमितम्, अतिमृत्यु, मृत्युजयहेतुत्वात् ; यथा प्रथमेऽध्याये उद्गीथभक्तिनामाक्षराणि उद्गीथ इत्युपास्यत्वेनोक्तानि, तथेह साम्नः सप्तविधभक्तिनामाक्षराणि समाहृत्य त्रिभिस्त्रिभिः समतया सामत्वं परिकल्प्य उपास्यत्वेन उच्यन्ते । तदुपासनं मृत्युगोचराक्षरसंख्यासामान्येन मृत्युं प्राप्य, तदतिरिक्ताक्षरेण तस्य आदित्यस्य मृत्योरतिक्रमणायैव संक्रमणं कल्पयति । अतिमृत्यु सप्तविधं साम उपासीत, मृत्युमतिक्रान्तमतिरिक्ताक्षरसंख्यया इत्यतिमृत्यु साम । तस्य प्रथमभक्तिनामाक्षराणि हिंकार इति ; एतत् त्र्यक्षरं भक्तिनाम । प्रस्ताव इति च भक्तेस्त्र्यक्षरमेव नाम ; तत् पूर्वेण समम् ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतु-

रक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरम् ; सप्तविधस्य साम्नः संख्यापूरणे ओंकारः आदिरित्युच्यते । प्रतिहार इति चतुरक्षरम् । तत इहैकमक्षरमवच्छिद्य आद्यक्षरयोः प्रक्षिप्यते ; तेन तत् सममेव भवति ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरम् उपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवति । अक्षरमतिशिष्यते अतिरिच्यते । तेन वैषम्ये प्राप्ते, साम्नः समत्वकरणाय आह— तदेकमपि सदक्षरमिति त्र्यक्षरमेव भवति । अतः तत् समम् ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति । एवं त्र्यक्षरसमतया सामत्वं संपाद्य यथाप्राप्तान्येवाक्षराणि संख्यायन्ते—तानि ह वा एतानि सप्तभक्तिनामाक्षराणि द्वाविंशतिः ॥

एकविंशत्यादित्यमाप्नोत्येकविंशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविंशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

तत्रैकविंशत्यक्षरसंख्यया आदित्यमाप्नोति मृत्युम् । यस्मा-
 देकविंशः इतः अस्माल्लोकात् असावादित्यः संख्यया ।
 ‘द्वादश मासाः पञ्चवर्षस्य इमे लोका असावादित्य एक-
 विंशः’ इति श्रुतेः; अतिशिष्टेन द्वाविंशेनाक्षरेण परं मृत्योः
 आदित्यात् जयति आप्नोतीत्यर्थः । यच्च तदादित्यात्परम्; किं
 तन्? नाकम्, कमिति सुखं तस्य प्रतिषेधोऽकं तन्न भवतीति
 नाकम्, कमेवेत्यर्थः, अमृत्युविषयत्वात् । विशोकं च तत् वि-
 गतशोकं मानसदुःखरहितमित्यर्थः— तदाप्नोतीति ॥

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्या-
 दित्यजयाज्यो भवति य एतदेवं विद्वा-
 नात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं सामो-
 पास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

उक्तस्यैव पिण्डितार्थमाह—एकविंशतिसंख्यया आदित्य-
 स्य जयमनु, परो ह, अस्य एवंविदः आदित्यजयात् मृत्युगो-
 चरात् परो जयो भवति, द्वाविंशत्यक्षरसंख्ययेत्यर्थः । य एत-
 देवं विद्वानित्याद्युक्तार्थम्, तस्यैतद्यथोक्तं फलमिति । द्विरभ्या-
 सः साप्तविध्यसमाप्त्यर्थः ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥

एकादशः खण्डः ॥

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः
श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं
प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

विना नामग्रहणं पञ्चविधस्य सप्तविधस्य च साम्न उपा-
सनमुक्तम् । अथेदानीं गायत्रादिनामग्रहणपूर्वकं विशिष्टफ-
लानि सामोपासनान्तराण्युच्यन्ते । यथाक्रमं गायत्रादीनां
कर्मणि प्रयोगः, तथैव मनो हिंकारः, मनसः सर्वकरणवृत्ती-
नां प्राथम्यात् । तदानन्तर्यात् वाक् प्रस्तावः ; चक्षुः उद्गीथः,
श्रैष्ठ्यात् । श्रोत्रं प्रतिहारः, प्रतिहृतत्वात् । प्राणो निधनम्,
यथोक्तानां प्राणे निधनात्स्वापकाले । एतद्गायत्रं साम प्राणेषु
प्रोतम्, गायत्र्याः प्राणसंस्तुतत्वात् ॥

स एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद
प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

सः, य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद, प्राणी भवति ; अवि-
कलकरणो भवतीत्येतत् । सर्वमायुरेति, शतं वर्षाणि सर्वमायुः
पुरुषस्य इति श्रुतेः । ज्योक् उज्ज्वलः सन् जीवति । महान्
भवति प्रजादिभिः । महान्श्च कीर्त्या । गायत्रोपासकस्य एतत्
व्रतं भवति, यत् महामनाः अक्षुद्रचित्तः स्यादित्यर्थः ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वादशः खण्डः ॥

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते
स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा
भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्नि-
धनं स संशाम्यति तन्निधनमेतद्रथंतरम-
ग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥

अभिमन्थति स हिंकारः, प्राथम्यात् । अग्नेर्धूमो जायते
स प्रस्तावः, आनन्तर्यात् । ज्वलति स उद्गीथः, हविःसं-
बन्धाच्छ्रैष्ठ्यं ज्वलनस्य । अङ्गारा भवन्ति स प्रतिहारः,
अङ्गाराणां प्रतिहतत्वात् । उपशमः, सावशेषत्वादग्नेः, सं-
शमः निःशेषोपशमः ; समाग्निसामान्यान्निधनम् । एतद्रथं-
तरम् अग्नौ प्रोतम् । मन्थने हि अग्निर्गीयते ॥

स य एवमेतद्रथंतरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्म-
वर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जी-
वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्की-
र्त्या न प्रत्यङ्मुनिमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥

स य इत्यादि पूर्ववत् । ब्रह्मवर्चसी वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं
तेजो ब्रह्मवर्चसम् । तेजस्तु केवलं त्विद्भावः । अन्नादो दी-
प्ताग्निः । न प्रत्यक्, अग्नेरभिमुखो न आचामेत् न भक्षये-
त्किञ्चित् ; न निष्ठीवेत् श्लेष्मनिरसनं च न कुर्यात् ; तद्व्रतम् ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स
प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति
स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति
तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदे-
व्यं मिथुने प्रोतम् ॥ १ ॥

उपमन्त्रयते संकेतं करोति, प्राथम्यात् स हिंकारः । ज्ञप-
यते तोषयति, स प्रस्तावः । सहशयनम् एकपर्यङ्कगमनम्, स
उद्गीथः, श्रैष्ठ्यात् । प्रति स्त्रीं शयनं स्त्रिया अभिमुखीभावः,
स प्रतिहारः । कालं गच्छति मैथुनेन, पारं समाप्तिं गच्छति
तन्निधनम् ; एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ; वाय्वम्बुमिथुनसं-
बन्धात् ॥

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं
वेद मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजा-
यते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्र-

जया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कां-
चन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

स य इत्यादि पूर्ववत् । मिथुनीभवति अविधुरो भवती-
त्यर्थः । मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते इति अमोघरेतस्त्वमु-
च्यते । न कांचन, कांचिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परि-
हरेत् समागमार्थिनीम्, वामदेव्यसामोपासनाङ्गत्वेन विधा-
नात् । एतस्मादन्यत्र प्रतिषेधस्मृतयः । वचनप्रामाण्याच्च
धर्मावगतेर्न प्रतिषेधशास्त्रेणास्य विरोधः ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यं-
दिन उद्गीथोऽपराहः प्रतिहारोऽस्तं यन्नि-
धनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

उद्यन्सविता स हिंकारः, प्राथम्याद्दर्शनस्य । उदितः
प्रस्तावः, प्रस्तवनहेतुत्वात्कर्मणाम् । मध्यंदिन उद्गीथः,
श्रेष्ठ्यात् । अपराहः प्रतिहारः, पश्चादीनां गृहान्प्रति हर-
णात् । यदस्तं यंस्तन्निधनम्, रात्रौ गृहे निधानात्प्राणि-
नाम् । एतद्बृहत् आदित्ये प्रोतम्, बृहत् आदित्यदैवत्यत्वात् ॥

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद ते-
जस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्यो-
ग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति म-
हान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

स य इत्यादि पूर्ववत् । तपन्तं न निन्देत्; तद्व्रतम् ॥

इति चतुर्दशखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चदशः खण्डः ॥

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो
जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो
विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णा-
ति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

अभ्राणि अब्भरणात् । मेघः उदकसेक्तृत्वात् । उक्तार्थम-
न्यत् । एतद्वैरूपं नाम साम पर्जन्ये प्रोतम् । अनेकरूपत्वात्
अभ्रादिभिः पर्जन्यस्य, वैरूप्यम् ॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद
विरूपांश्च सुरूपांश्च पशूनवरुन्धे स-
र्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया प-
शुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न नि-
न्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

विरूपांश्च सुरूपांश्चाजाविप्रभृतीन्पशूनवरुन्धे प्राप्नोतीत्य-
र्थः । वर्षन्तं न निन्देत् तद्व्रतम् ॥

इति पञ्चदशखण्डभाष्यम् ॥

षोडशः खण्डः ॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

वसन्तो हिंकारः, प्राथम्यात् । ग्रीष्मः प्रस्तावः इत्यादि पूर्ववत् ॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति षोडशः खण्डः ॥

एतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद, विराजति ऋतुवत्— यथा ऋतवः आर्तवैर्धर्मैर्विराजन्ते, एवं प्रजादिभिर्विद्वानिति । उक्तमन्यत् । ऋतून् निन्देत्, तद्व्रतम् ॥

इति षोडशखण्डभाष्यम् ॥

सप्तदशः खण्डः ॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौ-
रुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमे-
ताः शक्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

पृथिवी हिंकार इत्यादि पूर्ववत् । शक्य इति नित्यं बहु-
वचनं रेवत्य इव । लोकेषु प्रोताः ॥

स य एवमेताः शक्यो लोकेषु प्रोता
वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जी-
वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महा-
न्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

लोकी भवति लोकफलेन युज्यत इत्यर्थः । लोकान्न
निन्देत्, तद्व्रतम् ॥

इति सप्तदशखण्डभाष्यम् ॥

अष्टादशः खण्डः ॥

—*—

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव
उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता
रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

अजा हिंकार इत्यादि पूर्ववत् । पशुषु प्रोताः ॥

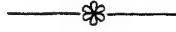
स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद
पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
पशून् निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति अष्टादशः खण्डः ॥

पशून् न निन्देत्, तद्व्रतम् ॥

इति अष्टादशखण्डभाष्यम् ॥

एकोनविंशः खण्डः ॥



लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मांसमु-
द्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्य-
ज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

लोम हिंकारः, देहावयवानां प्राथम्यात् । त्वक् प्रस्तावः,
आनन्तर्यात् । मांसम् उद्गीथः, श्रेष्ठ्यात् । अस्थि प्रतिहारः,
प्रतिहृतत्वात् । मज्जा निधनम्, आन्त्यात् । एतद्यज्ञाय-
ज्ञीयं नाम साम देहावयवेषु प्रोतम् ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं
वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्छति सर्वमा-
युरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशु-
भिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो
नाश्रीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्रीयादिति वा ॥

अङ्गी भवति समग्राङ्गो भवतीत्यर्थः । नाङ्गेन हस्तपादा-
दिना विहूर्छति न कुटिलीभवति, पशुः कुणी वा इत्यर्थः ।
संवत्सरं संवत्सरमात्रं मज्ज्ञो मांसानि नाश्रीयात् न भक्ष-
येत् । बहुवचनं मत्स्योपलक्षणार्थम् । मज्ज्ञो नाश्रीयात्
सर्वदैव नाश्रीयादिति वा, तद्व्रतम् ॥

इति एकोनविंशखण्डभाष्यम् ॥

विंशः खण्डः ॥

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य
उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निध-
नमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

अग्निः हिंकारः, प्रथमस्थानत्वात् । वायुः प्रस्तावः, आन-
न्तर्यसामान्यात् । आदित्यः उद्गीथः, श्रैष्ठ्यात् । नक्षत्राणि
प्रतिहारः, प्रतिहृतत्वात् । चन्द्रमा निधनम्, कर्मिणां तन्निध-
नात् । एतद्राजनं देवतासु प्रोतम्, देवतानां दीप्तिमत्त्वात् ॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं
वेदैतासामेव देवतानां सलोकतां सार्ष्टितां
सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥

विद्वत्फलम्—एतासामेवाग्न्यादीनां देवतानां सलोकतां
समानलोकतां सार्ष्टितां समानर्द्धित्वं सायुज्यं सयुग्भावम्
एकदेहदेहित्वमित्येतत्, वा-शब्दोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः; सलो-
कतां वा इत्यादि; भावनाविशेषतः फलविशेषोपपत्तेः । ग-
च्छति प्राप्नोति; समुच्चयानुपपत्तेश्च । ब्राह्मणान् न निन्देत्,
तद्व्रतम् । ‘एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः’ इति श्रुतेः
ब्राह्मणनिन्दा देवतानिन्दैवेति ॥

इति विंशखण्डभाष्यम् ॥

एकविंशः खण्डः ॥

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः
स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो
नक्षत्राणि वयांसि मरीचयः स प्रति-
हारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेत-
त्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

त्रयी विद्या हिंकारः । अग्न्यादिसाम्न आनन्तर्यं त्रयी-
विद्याया अग्न्यादिकार्यत्वश्रुतेः । हिंकारः प्राथम्यात्सर्वकर्तृ-
व्यानाम् । त्रय इमे लोकास्तत्कार्यत्वादनन्तरा इति प्रस्तावः ।
अग्न्यादीनामुद्गीथत्वं श्रैष्ठ्यात् । नक्षत्रादीनां प्रतिहृतत्वा-
त्प्रतिहारत्वम् । सर्पादीनां धकारसामान्यान्निधनत्वम् । एत-
त्साम नामविशेषाभावात्सामसमुदायः सामशब्दः सर्वस्मिन्
प्रोतम् । त्रयीविद्यादि हि सर्वम् । त्रयीविद्यादिदृष्ट्या
हिंकारादिसामभक्तय उपास्याः । अतीतेष्वपि सामोपास-
नेषु येषु येषु प्रोतं यद्यत्साम, तद्दृष्ट्या तदुपास्यमिति ।
कर्माङ्गानां दृष्टिविशेषेणेवाज्यस्य संस्कार्यत्वात् ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद
सर्वं ह भवति ॥ २ ॥

सर्वविषयसामविदः फलम्—सर्वं ह भवति सर्वेश्वरो भवतीत्यर्थः । निरुपचरितसर्वभावे हि दिक्स्थेभ्यो बलिप्राप्त्यनुपपत्तिः ॥

**तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि
त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥**

तत् एतस्मिन्नर्थे एषः श्लोकः मन्त्रोऽप्यस्ति । यानि पञ्चधा पञ्चप्रकारेण हिंकारादिविभागैः प्रोक्तानि त्रीणि त्रीणि त्रयीविद्यादीनि, तेभ्यः पञ्चत्रिकेभ्यः ज्यायः महत्तरं परं च व्यतिरिक्तम् अन्यत् वस्त्वन्तरं नास्ति न विद्यत इत्यर्थः । तत्रैव हि सर्वस्यान्तर्भावः ॥

**यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो
बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत त-
द्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥**

इति एकविंशः खण्डः ॥

यः तत् यथोक्तं सर्वात्मकं साम वेद, स वेद सर्वं स सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः । सर्वा दिशः सर्वदिक्स्था अस्मै एवंविदे बलिं भोगं हरन्ति प्रापयन्तीत्यर्थः । सर्वम् अस्मि भवामि इति एवम् एतत्साम उपासीत, तस्य एतदेव व्रतम् । द्विरुक्तिः सामोपासनसमाप्त्यर्था ॥

इति एकविंशखण्डभाष्यम् ॥

द्वाविंशः खण्डः ॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गी-
थोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु
श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं
बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवो-
पसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥ १ ॥

सामोपासनप्रसङ्गेन गानविशेषादिसंपत् उद्गातुरुपदिश्यते,
फलविशेषसंबन्धात् । विनर्दि विशिष्टो नर्दः स्वरविशेषः
ऋषभकूजितसमोऽस्यास्तीति विनर्दि गानमिति वाक्यशेषः ।
तच्च साम्नः संबन्धि पशुभ्यो हितं पशव्यम् अग्नेः अग्निदेवत्यं
च उद्गीथः उद्गानम् । तदहमेवंविशिष्टं वृणे प्रार्थये इति क-
श्चिद्यजमानः उद्गाता वा मन्यते । अनिरुक्तः अमुकसमः
इत्यविशेषितः प्रजापतेः प्रजापतिदेवत्यः स गानविशेषः, आ-
निरुक्त्यात्प्रजापतेः । निरुक्तः स्पष्टः । सोमस्य सोमदेवत्यः स
उद्गीथ इत्यर्थः । मृदु श्लक्ष्णं च गानं वायोः वायुदेवत्यं तत् ।
श्लक्ष्णं बलवच्च प्रयत्नाधिक्योपेतं च इन्द्रस्य ऐन्द्रं तद्गानम् ।
क्रौञ्चं क्रौञ्चपक्षिनिनादसमं बृहस्पतेः बार्हस्पत्यं तत् । अप-

ध्वान्तं भिन्नकांस्यस्वरसमं वरुणस्य एतद्गानम् । तान्सर्वाने-
वोपसेवेत प्रयुञ्जीत वारुणं त्वेवैकं वर्जयेत् ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागाये-
त्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणो-
दकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्न-
मात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्या-
यन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानि साधयानि ; स्वधां पितृभ्य
आगायानि ; आशां मनुष्येभ्यः, आशां प्रार्थनां प्रार्थितमि-
त्येतत् ; तृणोदकं पशुभ्यः ; स्वर्गं लोकं यजमानाय ; अन्नम्
आत्मने मह्यम् आगायानि ; इत्येतानि मनसा चिन्तयन्
ध्यायन् अप्रमत्तः स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्यः स्तुवीत ॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्मा-
णः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्यो-
रात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रः शर-
णं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं
ब्रूयात् ॥ ३ ॥

सर्वे स्वरा अकारादय इन्द्रस्य बलकर्मणः प्राणस्य
 आत्मानः देहावयवस्थानीयाः । सर्वे ऊष्माणः शषसहादयः
 प्रजापतेर्विराजः कश्यपस्य वा आत्मानः । सर्वे स्पर्शाः
 कादयो व्यञ्जनानि मृत्योरात्मानः । तमेवंविदमुद्रातारं यदि
 कश्चित् स्वरेषूपालभेत—स्वरस्त्वया दुष्टः प्रयुक्त इति, एवमु-
 पालब्धः इन्द्रं प्राणमीश्वरं शरणम् आश्रयं प्रपन्नोऽभूवं
 स्वरान्प्रयुञ्जानोऽहम्, स इन्द्रः यत्तव वक्तव्यं त्वा त्वां प्रति
 वक्ष्यति स एव देव उत्तरं दास्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिं
 शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यती-
 त्येनं ब्रूयादथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत
 मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति
 धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

अथ यद्येनमूष्मसु तथैवोपालभेत, प्रजापतिं शरणं प्रप-
 न्नोऽभूवम्, स त्वा प्रति पेक्ष्यति संचूर्णयिष्यतीत्येनं ब्रूयात् ।
 अथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत, मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवम्, स
 त्वा प्रति धक्ष्यति भस्मीकरिष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्त-

व्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणो-
ऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्र-
जापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा
लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरा-
त्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

इति द्वाविंशः खण्डः ॥

यत इन्द्राद्यात्मानः स्वरादयः, अतः सर्वे स्वराः घोषवन्तः
बलवन्तो वक्तव्याः । तथा अहमिन्द्रे बलं ददानी बलमाद-
धानीति । तथा सर्वे ऊष्माणः अग्रस्ताः अन्तरप्रवेशिताः
अनिरस्ताः बहिरप्रक्षिप्ताः विवृताः विवृतप्रयत्नोपेताः । प्रजा-
पतेरात्मानं परिददानी प्रयच्छानीति । सर्वे स्पर्शाः लेशेन
शनकैः अनभिनिहिताः अनभिनिक्षिप्ता वक्तव्याः । मृत्यो-
रात्मानं बालानिव शनकैः परिहरन् मृत्योरात्मानं परिह-
राणीति ॥

इति द्वाविंशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोविंशः खण्डः ॥



त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दान-
मिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचा-
र्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मा-
नमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्य-
लोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्व-
मेति ॥ १ ॥

ओंकारस्योपासनविध्यर्थं त्रयो धर्मस्कन्धा इत्याद्यार-
भ्यते । नैवं मन्तव्यं सामावयवभूतस्यैवोद्गीथादिलक्षणस्यो-
ंकारस्योपासनात्फलं प्राप्यत इति ; किं तर्हि, यत्सर्वैरपि
सामोपासनैः कर्मभिश्चाप्राप्यं तत्फलममृतत्वं केवलादोंकारो-
पासनात्प्राप्यत इति । तत्स्तुत्यर्थं सामप्रकरणे तदुपन्यासः ।
त्रयः त्रिसंख्याका धर्मस्य स्कन्धाः धर्मस्कन्धाः धर्मप्रवि-
भागा इत्यर्थः ; के ते इति, आह— यज्ञः अग्निहोत्रादिः,
अध्ययनं सनियमस्य ऋगादेरभ्यासः, दानं बहिर्वेदि यथा-
शक्ति द्रव्यसंविभागो भिक्षुमाणेभ्यः, इति एषः प्रथमः धर्म-

स्कन्धः गृहस्थसमवेतत्वात् तन्निर्वर्तकेन गृहस्थेन निर्दिश्यते ; प्रथमः एक इत्यर्थः, द्वितीयतृतीयश्रवणात् न आद्यार्थः । तप एव द्वितीयः ; तप इति कृच्छ्रचान्द्रायणादि तद्वान् तापसः परिव्राडा, न ब्रह्मसंस्थः आश्रमधर्ममात्रसंस्थः, ब्रह्मसंस्थस्य तु अमृतत्वश्रवणात् ; द्वितीयः धर्मस्कन्धः । ब्रह्मचारी आचार्यकुले वस्तुं शीलमस्येत्याचार्यकुलवासी । अत्यन्तं यावज्जीवम् आत्मानं नियमैः आचार्यकुले अवसादयन् क्षपयन् देहं तृतीयः धर्मस्कन्धः । अत्यन्तमित्यादिविशेषणान्नैष्ठिक इति गम्यते । उपकुर्वाणस्य स्वाध्यायग्रहणार्थत्वात् न पुण्यलोकत्वं ब्रह्मचर्येण । सर्व एते त्रयोऽप्याश्रमिणः यथोक्तैर्धर्मैः पुण्यलोका भवन्ति ; पुण्यो लोको येषां त इमे पुण्यलोका आश्रमिणो भवन्ति । अवशिष्टस्त्वनुक्तः परिव्राट् तुरीयः ब्रह्मसंस्थः ब्रह्मणि सम्यक्स्थितः, सोऽमृतत्वं पुण्यलोकविलक्षणममरणभावमात्यन्तिकम् एति, न आपेक्षिकम्, देवाद्यमृतत्ववत्, पुण्यलोकात्पृथक् अमृतत्वस्य विभागकरणात् ॥

यदि च पुण्यलोकातिशयमात्रममृतत्वमभविष्यत्, ततः पुण्यलोकत्वाद्विभक्तं नावक्ष्यत् । विभक्तोपदेशाच्च आत्यन्तिकममृतत्वमिति गम्यते । अत्र च आश्रमधर्मफलोपन्यासः

प्रणवसेवास्तुत्यर्थः, न तत्फलविध्यर्थः, स्तुतये च प्रणवसे-
वायाः, आश्रमधर्मफलविधये च, इति हि भिद्येत वाक्यम् ।
तस्मात्समृतिप्रसिद्धाश्रमफलानुवादेन प्रणवसेवाफलममृतत्वं ब्रु-
वन् प्रणवसेवां स्तौति । यथा पूर्णवर्मणः सेवा भक्तपरिधा-
नमात्रफला, राजवर्मणस्तु सेवा राज्यस्तुत्यफलेति— तद्वत् ।
प्रणवश्च तत्सत्यं परं ब्रह्म तत्प्रतीकत्वात् । ‘एतद्धयेवाक्षरं
ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्’ इत्याद्याम्नानात्काठके, युक्तं तत्से-
वातोऽमृतत्वम् ॥

अत्र आहुः केचित्— चतुर्णामाश्रमिणामविशेषेण स्वधर्मानु-
ष्ठानात्पुण्यलोकता इहोक्ता ज्ञानवर्जितानाम् ‘सर्व एते पुण्यलो-
का भवन्ति’ इति । नात्र परिव्राडवशेषितः ; परिव्राजकस्यापि
ज्ञानं यमा नियमाश्च तप एवेति ; तप एव द्वितीय इत्यत्र तपः-
शब्देन परिव्राट्तापसौ गृहीतौ । अतस्तेषामेव चतुर्णां यो
ब्रह्मसंस्थः प्रणवसेवकः सोऽमृतत्वमेतीति चतुर्णामधिकृत-
त्वाविशेषात्, ब्रह्मसंस्थत्वेऽप्रतिषेधाच्च, स्वकर्मच्छिद्रे च
ब्रह्मसंस्थतायां सामर्थ्योपपत्तेः । न च यववराहादिशब्दवत्
ब्रह्मसंस्थशब्दः परिव्राजके रूढः, ब्रह्मणि संस्थितिनिमित्त-
मुपादाय प्रवृत्तत्वात् । न हि रूढिशब्दा निमित्तमुपाददते ।
सर्वेषां च ब्रह्मणि स्थितिरुपपद्यते । यत्र यत्र निमित्तमस्ति

ब्रह्मणि संस्थितिः, तस्य तस्य निमित्तवतो वाचकं सन्तं ब्रह्मसंस्थशब्दं परिव्राडेकविषये संकोचे कारणाभावात् निरोद्धुमयुक्तम् । न च पारिव्राज्याश्रमधर्ममात्रेणामृतत्वम्, ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गात् । पारिव्राज्यधर्मयुक्तमेव ज्ञानममृतत्वसाधनमिति चेत्, न, आश्रमधर्मत्वाविशेषात् । धर्मो वा ज्ञानविशिष्टोऽमृतत्वसाधनमित्येतदपि सर्वाश्रमधर्माणामविशिष्टम् । न च वचनमस्ति परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मोक्षः, नान्येषाम् इति । ज्ञानान्मोक्ष इति च सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः । तस्माद्य एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रमविहितधर्मवताम्, सोऽमृतत्वमेतीति ॥

न, कर्मनिमित्तविद्याप्रत्यययोर्विरोधात् । कर्त्तादिकारकक्रियाफलभेदप्रत्ययवत्त्वं हि निमित्तमुपादाय इदं कुरु इदं मा कर्षीः इति कर्मविधयः प्रवृत्ताः । तच्च निमित्तं न शास्त्रकृतम्, सर्वप्राणिषु दर्शनात् । ‘सत्....एकमेवाद्वितीयम्’ ‘आत्मैवेदं सर्वम्’ ‘ब्रह्मैवेदं सर्वम्’ इति शास्त्रजन्यः प्रत्ययो विद्यारूपः स्वाभाविकं क्रियाकारकफलभेदप्रत्ययं कर्मविधिनिमित्तमनुपमृद्य न जायते, भेदाभेदप्रत्यययोर्विरोधात् । न हि तैमिरिकद्विचन्द्रादिभेदप्रत्ययमनुपमृद्य तिमिरापगमे चन्द्राद्येकत्वप्रत्यय उपजायते, विद्याविद्याप्रत्यययोर्विरोधात् ।

तत्रैवं सति यं भेदप्रत्ययमुपादाय कर्मविधयः प्रवृत्ताः, स यस्योपमर्दितः 'सत्...एकमेवाद्वितीयम्' 'तत्सत्यम्' 'विकारभेदोऽनृतम्' इत्येतद्वाक्यप्रमाणजनितेनैकत्वप्रत्ययेन, स सर्वकर्मभ्यो निवृत्तः, निमित्तनिवृत्तेः; स च निवृत्तकर्मा ब्रह्मसंस्थ उच्यते; स च परित्राडेव, अन्यस्यासंभवात्, अन्यो हि अनिवृत्तभेदप्रत्ययः सोऽन्यत्पश्यच्छृण्वन्मन्वानो विजानन्निदं कृत्वेदं प्राप्नुयामिति हि मन्यते । तस्यैवं कुर्वतो न ब्रह्मसंस्थता, वाचारम्भणमात्रविकारानृताभिसंधिप्रत्ययवत्त्वात् । न च असत्यमित्युपमर्दिते भेदप्रत्यये सत्यमिदमनेन कर्तव्यं मयेति प्रमाणप्रमेयबुद्धिरुपपद्यते—आकाश इव तलमलबुद्धिर्विवेकिनः । उपमर्दितेऽपि भेदप्रत्यये कर्मभ्यो न निवर्तते चेत्, प्रागिव भेदप्रत्ययानुपमर्दनादेकत्वप्रत्ययविधायकं वाक्यमप्रमाणीकृतं स्यात् । अभक्ष्यभक्षणादिप्रतिषेधवाक्यानां प्रामाण्यवत् युक्तमेकत्ववाक्यस्यापि प्रामाण्यम्, सर्वोपनिषदां तत्परत्वात् । कर्मविधीनामप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्, न, अनुपमर्दितभेदप्रत्ययवत्पुरुषविषये प्रामाण्योपपत्तेः स्वप्रादिप्रत्यय इव प्राक्प्रबोधात् । विवेकिनामकरणात् कर्मविधिप्रामाण्योच्छेद इति चेत्, न, काम्यविध्यनुच्छेददर्शनात् । न हि,

कामात्मता न प्रशस्तेत्येवं विज्ञानवद्भिः काम्यानि कर्माणि नानुष्ठीयन्त इति, काम्यकर्मविधय उच्छिद्यन्ते, अनुष्ठीयन्त एव कामिभिरिति; तथा ब्रह्मसंस्थैर्ब्रह्मविद्भिर्नानुष्ठीयन्ते कर्माणीति न तद्विधय उच्छिद्यन्ते, अब्रह्मविद्भिरेनुष्ठीयन्त एवेति । परिव्राजकानां भिक्षाचरणादिवत् उत्पन्नैकत्वप्रत्ययानामपि गृहस्थादीनामग्निहोत्रादिकर्मानिवृत्तिरिति चेत्, न, प्रामाण्यचिन्तायां पुरुषप्रवृत्तेरदृष्टान्तत्वात्— न हि, नाभिचरेदिति प्रतिषिद्धमप्यभिचरणं कश्चित्कुर्वन्दृष्ट इति, शत्रौ द्वेषरहितेनापि विवेकिना अभिचरणं क्रियते । न च कर्मविधिप्रवृत्तिनिमित्ते भेदप्रत्यये बाधिते अग्निहोत्रादौ प्रवर्तकं निमित्तमस्ति, परिव्राजकस्येव भिक्षाचरणादौ बुभुक्षादि प्रवर्तकम् । इहाप्यकरणे प्रत्यवायभयं प्रवर्तकमिति चेत्, न, भेदप्रत्ययवतोऽधिकृतत्वात् । भेदप्रत्ययवान् अनुपमर्दितभेदबुद्धिर्विद्यया यः, स कर्मण्यधिकृत इत्यवोचाम; यो हि अधिकृतः कर्मणि, तस्य तदकरणे प्रत्यवायः; न निवृत्ताधिकारस्य, गृहस्थस्येव, ब्रह्मचारिणो विशेषधर्माननुष्ठाने । एवं तर्हि सर्वः स्वाश्रमस्थः उत्पन्नैकत्वप्रत्ययः परिव्राडिति चेत्, न, स्वस्वामित्वभेदबुद्ध्यनिवृत्तेः, कर्मार्थत्वाच्च इतराश्रमाणाम्— ‘अथ कर्म कुर्वीय’ इति श्रुतेः । तस्मात् स्वस्वा-

मित्वाभावात् भिक्षुरेक एव परिव्राट्, न गृहस्थादिः ।
 एकत्वप्रत्ययविधिजनितेन प्रत्ययेन विधिनिमित्तभेदप्रत्ययस्यो-
 पमर्दितत्वात् यमनियमाद्यनुपपत्तिः परिव्राजकस्येति चेत्,
 न, बुभुक्षादिना एकत्वप्रत्ययात्प्रच्यावितस्योपपत्तेः, निवृत्त्य-
 र्थत्वात् । न च प्रतिषिद्धसेवाप्राप्तिः, एकत्वप्रत्ययोत्पत्तेः
 प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात् । न हि रात्रौ कूपे कण्टके वा पतितः
 उदितेऽपि सवितरि पतति तस्मिन्नेव । तस्मात् सिद्धं निवृ-
 त्तकर्मा भिक्षुक एव ब्रह्मसंस्थ इति । यत्पुनरुक्तं सर्वेषां
 ज्ञानवर्जितानां पुण्यलोकतेति—सत्यमेतत् । यच्चोक्तं तपः-
 शब्देन परिव्राडप्युक्त इति—एतदसत् । कस्मात्? परिव्रा-
 जकस्यैव निवृत्तभेदप्रत्ययस्य ब्रह्मसंस्थतासंभवात् । स एव हि
 अवशेषित इत्यवोचाम । एकत्वविज्ञानवतोऽग्निहोत्रादिवत्त-
 पोनिवृत्तेश्च । भेदबुद्धिमत एव हि तपःकर्तव्यता स्यात् ।
 एतेन कर्मच्छिद्रे ब्रह्मसंस्थतासामर्थ्यम्, अप्रतिषेधश्च प्र-
 त्युक्तः । तथा ज्ञानधानेव निवृत्तकर्मा परिव्राडिति ज्ञान-
 वैयर्थ्यं प्रत्युक्तम् । यत्पुनरुक्तं यववराहादिशब्दवत्परिव्रा-
 जके न रूढो ब्रह्मसंस्थशब्द इति, तत्परिहृतम्; तस्यैव
 ब्रह्मसंस्थतासंभवान्नान्यस्येति । यत्पुनरुक्तं रूढशब्दाः नि-
 मित्तं नोपाददत इति, तन्न, गृहस्थतक्षपरिव्राजकादिशब्द-

दर्शनात् । गृहस्थितिपारिव्राज्यतक्षणादिनिमित्तोपादाना अपि,
 गृहस्थपरिव्राजकावाश्रमिविशेषे, विशिष्टजातिमति च तक्षेति,
 रूढा दृश्यन्ते शब्दाः । न यत्र यत्र निमित्तानि तत्र तत्र
 वर्तन्ते, प्रसिद्धयभावात् । तथा इहापि ब्रह्मसंस्थशब्दो
 निवृत्तसर्वकर्मतत्साधनपरिव्राडेकविषयेऽत्याश्रमिणि परमहं-
 साख्ये वृत्त इह भवितुमर्हति, मुख्यामृतत्वफलश्रवणात् ।
 अतश्चेदमेवैकं वेदोक्तं पारिव्राज्यम्, न यज्ञोपवीतत्रिदण्ड-
 कमण्डल्वादिपरिग्रह इति ; 'मुण्डोऽपरिग्रहोऽसङ्गः' इति
 च । श्रुतिः 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्' इत्यादि च
 श्वेताश्वतरीये ; 'निस्तुतिर्निर्ममस्कारः' इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ;
 'तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः । तस्मादलिङ्गो
 धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गः' इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ॥

यत्तु सांख्यैः कर्मत्यागोऽभ्युपगम्यते, क्रियाकारकफलभे-
 दबुद्धेः सत्यत्वाभ्युपगमात्, तन्मृषा । यच्च बौद्धैः शून्यता-
 भ्युपगमात् अकर्तृत्वमभ्युपगम्यते, तदप्यसत्, तदभ्युप-
 गन्तुः सत्त्वाभ्युपगमात् । यच्च अज्ञैरलसतया अकर्तृत्वाभ्युप-
 गमः, सोऽप्यसत्, कारकबुद्धेरनिवर्तितत्वात्प्रमाणेन । तस्मात्
 वेदान्तप्रमाणजनितैकत्वप्रत्ययवत एव कर्मनिवृत्तिलक्षणं पा-
 रिव्राज्यं ब्रह्मसंस्थत्वं चेति सिद्धम् । एतेन गृहस्थस्यैकत्ववि-

ज्ञाने सति पारिव्राज्यमर्थसिद्धम् ॥

ननु अग्न्युत्सादनदोषभाक्स्यान् परिब्रजन्— ‘वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते’ इति श्रुतेः, न, दैवोत्सादितत्वान्, उत्सन्न एव हि स एकत्वदर्शने जाते— ‘अपागादग्नेरग्नित्वम्’ इति श्रुतेः । अतो न दोषभाक् गृहस्थः परिब्रजन्निति ॥

यत्संस्थः अमृतत्वमेति, तन्निरूपणार्थमाह—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्ते-
भ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्त्रवत्तामभ्यतपत्त-
स्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्त्र-
वन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥

प्रजापतिः विराट् कश्यपो वा, लोकान् उद्दिश्य तेषु सारजिघृक्षया अभ्यतपत् अभितापं कृतवान् ध्यानं तपः कृतवानित्यर्थः; तेभ्यः अभितप्तेभ्यः सारभूता त्रयी विद्या संप्रास्त्रवत् प्रजापतेर्मनसि प्रत्यभादित्यर्थः । तामभ्यतपत्— पूर्ववत् । तस्या अभितप्तायाः एतान्यक्षराणि संप्रास्त्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति व्याहृतयः ॥

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओङ्कारः
 संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णा-
 नि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्सं-
 तृण्णोंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं
 सर्वम् ॥ ३ ॥

इति त्रयोविंशः खण्डः ॥

तानि अक्षराणि अभ्यतपत्, तेभ्यः अभितप्तेभ्यः ओङ्कारः
 संप्रास्रवत् । तत् ब्रह्म कीदृशमिति, अह— तद्यथा शङ्कुना
 पर्णनालेन सर्वाणि पर्णानि पत्रावयवजातानि संतृण्णानि नि-
 विद्धानि व्याप्तानीत्यर्थः । एवम् ओङ्कारेण ब्रह्मणा परमात्मनः
 प्रतीकभूतेन सर्वा वाक् शब्दजातं संतृण्णा—‘अकारो वै स-
 र्वा वाक्’ इत्यादिश्रुतेः । परमात्मविकारश्च नामधेयमात्रम्
 इत्यतः ओङ्कार एवेदं सर्वमिति । द्विरभ्यासः आदरार्थः ।
 लोकादिनिष्पादनकथनम् ओङ्कारस्तुत्यर्थमिति ॥

इति त्रयोविंशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्विंशः खण्डः ॥

—*—

सामोपासनप्रसङ्गेन कर्मगुणभूतत्वान्निवर्त्य ओंकारं पर-
मात्मप्रतीकत्वादमृतत्वहेतुत्वेन महीकृत्य प्रकृतस्यैव यज्ञस्य
अङ्गभूतानि सामहोममन्त्रोत्थानान्युपदिदिक्षन्नाह—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः-
सवनं रुद्राणां माध्यंदिनं सवनमादि-
त्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसव-
नम् ॥ १ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति, यत्प्रातःसवनं प्रसिद्धं तद्वसूनाम् ।
तैश्च प्रातःसवनसंबद्धोऽयं लोको वशीकृतः प्रातःसवनेशनैः ।
तथा रुद्रैर्माध्यंदिनसवनेशनैः अन्तरिक्षलोकः । आदित्यैश्च
विश्वैर्देवैश्च तृतीयसवनेशनैस्तृतीयो लोको वशीकृतः । इति
यजमानस्य लोकोऽन्यः परिशिष्टो न विद्यते ॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स
यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥

अतः क तर्हि यजमानस्य लोकः, यदर्थं यजते; न क-
चिल्लोकोऽस्तीत्यभिप्रायः— ‘लोकाय वै यजते यो यजते’
इति श्रुतेः । लोकाभावे च स यो यजमानः तं लोकस्वीकर-
णोपायं सामहोममन्त्रोत्थानलक्षणं न विद्यात् न विजानी-
यात्, सोऽज्ञः कथं कुर्यात् यज्ञम्, न कथंचन तस्य कर्तृत्व-
मुपपद्यत इत्यर्थः । सामादिविज्ञानस्तुतिपरत्वात् न अविदुषः
कर्तृत्वं कर्ममात्रविदः प्रतिषिध्यते— स्तुतये च सामादिवि-
ज्ञानस्य, अविद्वत्कर्तृत्वप्रतिषेधाय च इति हि भिद्येत वाक्यम् ।
आद्ये च औषस्त्ये काण्डे अविदुषोऽपि कर्मास्तीति हेतुम-
वोचाम । अथ एतद्वक्ष्यमाणं सामाद्युपायं विद्वान्कुर्यात् ॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन
गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवः
सामाभिगायति ॥ ३ ॥

किं तद्वेद्यमिति, आह— पुरा पूर्वं प्रातरनुवाकस्य श-
खस्य प्रारम्भात् जघनेन गार्हपत्यस्य पश्चात् उदङ्मुखः सन्
उपविश्य सः वासवं वसुदैवत्यं साम अभिगायति ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा
वय५रा ३३३३३ हु ३ म् आ ३३ ज्या ३

यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ४ ॥

लोकद्वारम् अस्य पृथिवीलोकस्य प्राप्तये द्वारम् अपावृणु
हे अग्ने तेन द्वारेण पश्येम त्वा त्वां राज्यायेति ॥

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते
लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष
वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥

अथ अनन्तरं जुहोति अनेन मन्त्रेण— नमोऽग्नये प्रह्वी-
भूताः तुभ्यं वयं पृथिवीक्षिते पृथिवीनिवासाय लोकक्षिते
लोकनिवासाय, पृथिवीलोकनिवासायेत्यर्थः; लोकं मे मह्यं
यजमानाय विन्द लभस्व; एष वै मम यजमानस्य लोकः
एता गन्ता अस्मि ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा-
पजहि परिधमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै
वसवः प्रातःसवनं संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

अत्र अस्मिँल्लोके यजमानः अहम् आयुषः परस्तात् ऊर्ध्वं
मृतः सन् इत्यर्थः । स्वाहेति जुहोति । अपजहि अपनय परिधं
लोकद्वारार्गलम्— इति एतं मन्त्रम् उक्त्वा उत्तिष्ठति । एव-

मेतैर्वसुभ्यः प्रातःसवनसंबद्धो लोको निष्क्रीतः स्यात् । ततस्ते प्रातःसवनं वसवो यजमानाय संप्रयच्छन्ति ॥

पुरा माध्यंदिनस्य सवनस्योपाकरणा-
जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स
रौद्रं सामाभिगायति ॥ ७ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू३३ पश्येम त्वा
वयं वैरा३३३३३ हु३म् आ३३ज्या३यो३
आ३२१११इति ॥ ८ ॥

तथा आग्नीध्रीयस्य दक्षिणाग्नेः जघनेन उदङ्मुख उप-
विश्य सः रौद्रं साम अभिगायति यजमानः रुद्रदैवत्यं वैरा-
ज्याय ॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते
लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै
यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा-
पजहि परिधमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै
रुद्रा माध्यंदिनं सवनं संप्रयच्छन्ति ॥

अन्तरिक्षक्षित इत्यादि समानम् ॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेना-
हवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदि-
त्य ५ स वैश्वदेव ५ सामाभिगायति ॥ ११ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू३३पश्येम त्वा व-
य ५ स्वारा ३३३३३ हु३म् आ३३ ज्या३
यो ३ आ ३२१११ इति ॥ १२ ॥

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो३कद्वारमपा-
वा३र्णू३३ पश्येम त्वा वय ५ साम्रा३३३३३
हु३म् आ३३ ज्या३यो३आ ३२१११ इति ॥

तथा आहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य सः आदित्यदैव-
त्यम् आदित्यं वैश्वदेवं च साम अभिगायति क्रमेण स्वारा-
ज्याय साम्राज्याय ॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वे-
भ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिभ्यो लोकक्षिभ्यो
लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥ १४ ॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र
यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापहत परि-
घमित्युक्तवोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

दिविक्षिञ्च इत्येवमादि समानमन्यत् । विन्दत अपहत
इति बहुवचनमात्रं विशेषः । याजमानं त्वेतत्, एतास्म्यत्र
यजमान इत्यादिलिङ्गात् ॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृती-
यसवनं संप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य
मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥

इति चतुर्विंशः खण्डः ॥

एष ह वै यजमानः एवंवित् यथोक्तस्य सामादेर्विद्वान्
यज्ञस्य मात्रां यज्ञयाथात्म्यं वेद यथोक्तम् । य एवं वेदेति
द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥

इति चतुर्विंशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभग-
वत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

समाप्तः ॥

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्
तृतीयोऽध्यायः

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥



‘असौ वा आदित्यः’ इत्यादि अध्यायारम्भे संबन्धः । अतीतानन्तराध्यायान्ते उक्तम् ‘यज्ञस्य मात्रां वेद’ इति । यज्ञविषयाणि च सामहोम-मन्त्रोत्थानानि विशिष्टफलप्राप्तये यज्ञाङ्गभूतान्युपदिष्टानि । सर्वयज्ञानां च कार्यनिर्वृत्तिरूपः सविता महत्या श्रिया दीप्यते । स एष सर्वप्राणिकर्मफलभूतः प्रत्यक्षं सर्वैरुपजीव्यते । अतो यज्ञव्यपदेशानन्तरं तत्कार्यभूतसवितृविषयमुपासनं सर्वपुरुषार्थेभ्यः श्रेष्ठतमफलं विधास्यामीत्येवमारभते श्रुतिः—

असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव
तिरश्चीनवः शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

असौ वा आदित्यो देवमध्वित्यादि । देवानां मोदनात् मध्विव मधु असौ आदित्यः । वस्वादीनां च मोदनहेतुत्वं वक्ष्यति सर्वयज्ञफलरूपत्वादादित्यस्य । कथं मधुत्वमिति, आह—तस्य मधुनः द्यौरेव भ्रामरस्येव मधुनः तिरश्चीनव-

शः तिरश्चीनश्चासौ वंशश्चेति तिरश्चीनवंशः । तिर्यग्गतेव हि द्यौर्लक्ष्यते । अन्तरिक्षं च मध्वपूपः द्युवंशे लग्नः सन् लम्बत इव, अतो मध्वपूपसामान्यात् अन्तरिक्षं मध्वपूपः, मधुनः सवितुराश्रयत्वाच्च । मरीचयः रश्मयः रश्मिस्था आपो भौमाः सवित्राकृष्टाः । ‘एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयः’ इति हि विज्ञायन्ते । ता अन्तरिक्षमध्वपूपस्थरश्म्यन्तर्गतात्वात् भ्रमरबीजभूताः पुत्रा इव हिता लक्ष्यन्त इति पुत्रा इव पुत्राः, मध्वपूपनाड्यन्तर्गता हि भ्रमरपुत्राः ॥

तस्य ये प्राश्नो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः । ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

तस्य सवितुः मध्वाश्रयस्य मधुनो ये प्राश्चः प्राच्यां दिशि गताः रश्मयः, ता एव अस्य प्राच्यः प्रागश्चनात् मधुनो नाड्यः मधुनाड्य इव मध्वाधारच्छिद्राणीत्यर्थः । तत्र ऋच एव मधुकृतः लोहितरूपं सवित्राश्रयं मधु कुर्वन्तीति मधुकृतः भ्रमरा इव; यतो रसानादाय मधु कुर्वन्ति, तत्पुष्पमिव पुष्पम् ऋग्वेद एव । तत्र ऋग्व्राह्मणसमुदायस्य

ऋग्वेदाख्यत्वात् शब्दमात्राच्च भोग्यरूपरसनिस्त्रावासंभवात्
 ऋग्वेदशब्देन अत्र ऋग्वेदविहितं कर्म, ततो हि कर्मफलभू-
 तमधुरसनिस्त्रावसंभवात् । मधुकुरैरिव पुष्पस्थानीयादृग्वेद-
 विहितात्कर्मणः अप आदाय ऋग्भिर्मधु निर्वर्त्यते । कास्ता
 आप इति, आह— ताः कर्मणि प्रयुक्ताः सोमाज्यपयोरूपाः
 अग्नौ प्रक्षिप्ताः तत्पाकाभिनिर्वृत्ता अमृताः अमृतार्थत्वादत्य-
 न्तरसवत्यः आपो भवन्ति । तद्रसानादाय ता वा एता ऋचः
 पुष्पेभ्यो रसमाददाना इव भ्रमरा ऋचः ॥

एतमृग्वेदमभ्यतपःस्तस्याभितप्तस्य य-
 शस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजा-
 यत ॥ ३ ॥

एतम् ऋग्वेदम् ऋग्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयम् अभ्य-
 तपन् अभितापं कृतवत्य इव एता ऋचः कर्मणि प्रयुक्ताः ।
 ऋग्भिर्हि मन्त्रैः शस्त्राद्यङ्गभावमुपगतैः क्रियमाणं कर्म मधु-
 निर्वर्तकं रसं मुञ्चतीत्युपपद्यते, पुष्पाणीव भ्रमरैराचूष्यमा-
 णानि । तदेतदाह— तस्य ऋग्वेदस्य अभितप्तस्य । कोऽसौ
 रसः, यः ऋङ्मधुकराभितापनिःसृत इत्युच्यते ? यशः वि-
 श्रुतत्वं तेजः देहगता दीप्तिः इन्द्रियं सामर्थ्योपेतैरिन्द्रियैरवै-
 कल्यं वीर्यं सामर्थ्यं बलमित्यर्थः, अन्नाद्यम् अन्नं च तदाद्यं च

येनोपयुज्यमानेनाहन्यहनि देवानां स्थितिः स्यात् तदन्नाद्यम्
एष रसः अजायत यागादिलक्षणात्कर्मणः ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा ए-
तद्यदेतदादित्यस्य रोहितं रूपम् ॥ ४ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

यश आद्यन्नाद्यपर्यन्तं तत् व्यक्षरत् विशेषेणाक्षरत् अगमत् ।
गत्वा च तदादित्यम् अभितः पार्श्वतः पूर्वभागं सवितुः अश्र-
यत् आश्रितवदित्यर्थः । अमुष्मिन्नादित्ये संचितं कर्मफलाख्यं
मधु भोक्ष्यामह इत्येवं हि यशआदिलक्षणफलप्राप्तये कर्मा-
णि क्रियन्ते मनुष्यैः—केदारनिष्पादनमिव कर्षकैः । तत्प्र-
त्यक्षं प्रदर्श्यते श्रद्धाहेतोः । तद्वा एतत्; किं तत्? यदेतत्
आदित्यस्य उद्यतो दृश्यते रोहितं रूपम् ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवा-
स्य दक्षिणा मधुनाब्जो यजूंष्येव मधुकृ-
तो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥

अथ ये अस्य दक्षिणा रश्मय इत्यादि समानम् । यजूं-
ष्येव मधुकृतः यजुर्वेदविहिते कर्मणि प्रयुक्तानि, पूर्ववन्मधु-
कृत इव । यजुर्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयं पुष्पमित्युच्यते ।
ता एव सोमाद्या अमृता आपः ॥

तानि वा एतानि यजूंष्येतं यजुर्वेद-
मभ्यतपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इ-
न्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा ए-
तद्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम् ॥ ३ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

तानि वा एतानि यजूंष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपन् इत्येवमादि
सर्वं समानम् । मधु एतदादित्यस्य दृश्यते शुक्लं रूपम् ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य
प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः
सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥

तानि वा एतानि सामान्येत५ सामवे-
दमभ्यतप५स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इ-
न्द्रियं वीर्यमन्नाद्य५ रसोऽजायत ॥ २ ॥

तद्वक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा ए-
तद्यदेतदादित्यस्य कृष्ण५ रूपम् ॥ ३ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मय इत्यादि समानम् । तथा
साम्नां मधु, एतदादित्यस्य कृष्णं रूपम् ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्यो-
दीच्यो मधुनाब्जोऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृ-
त इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहास-
पुराणमभ्यतपः स्तस्याभितप्तस्य यशस्ते-
ज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यः रसोऽजायत ॥

तद्वक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा ए-
तद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपम् ॥३॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मय इत्यादि समानम् । अथर्वा-
ङ्गिरसः अथर्वणा अङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा अथर्वाङ्गिरसः,
कर्मणि प्रयुक्ता मधुकृतः । इतिहासपुराणं पुष्पम् । तयोश्चे-
तिहासपुराणयोरश्वमेधे पारिप्लासु रात्रिषु कर्माङ्गत्वेन विनि-
योगः सिद्धः । मधु एतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपम् अतिशयेन
कृष्णमित्यर्थः ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चमः खण्डः ॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्यो-
र्ध्वा मधुनाज्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो
ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्य-
तपःस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं
वीर्यमन्नाद्यः रसोऽजायत ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा ए-
तद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मय इत्यादि पूर्ववत् । गुह्या गोप्या
रहस्या एव आदेशा लोकद्वारीयादिविधय उपासनानि च
कर्माङ्गविषयाणि मधुकृतः, ब्रह्मैव शब्दाधिकारात्प्रणवाख्यं
पुष्पम् । समानमन्यत् । मधु एतत् आदित्यस्य मध्ये क्षोभत
इव समाहितदृष्टेर्दृश्यते संचलतीव ॥

ते वा एते रसानां रसा वेदा हि

रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृ-
तानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्य-
मृतानि ॥ ४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

ते वा एते यथोक्ता रोहितादिरूपविशेषा रसानां रसाः ।
केषां रसानामिति, आह— वेदा हि यस्माल्लोकनिष्यन्दत्वा-
त्सारा इति रसाः, तेषां रसानां कर्मभावमापन्नानामप्येते रो-
हितादिविशेषा रसा अत्यन्तसारभूता इत्यर्थः । तथा अमृताना-
ममृतानि वेदा ह्यमृताः, नित्यत्वात्, तेषामेतानि रोहितादीनि
रूपाण्यमृतानि । रसानां रसा इत्यादि कर्मस्तुतिरेषा—यस्यै-
वंविशिष्टान्यमृतानि फलमिति ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्य-
ग्निना मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न पिब-
न्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

तत् तत्र यत्प्रथमममृतं रोहितरूपलक्षणं तद्वसवः प्रातः-
सवनेशाना उपजीवन्ति अग्निना मुखेन अग्निना प्रधानभूतेन,
अग्निप्रधानाः सन्त उपजीवन्तीत्यर्थः । ‘अन्नाद्यं रसोऽजायत’
इति वचनात् कबलग्राहमश्रन्तीति प्राप्तम्, तत्प्रतिषिध्यते—
न वै देवा अश्रन्ति न पिबन्तीति । कथं तर्हि उपजीवन्तीति,
उच्यते—एतदेव हि यथोक्तममृतं रोहितं रूपं दृष्ट्वा उप-
लभ्य सर्वकरणैरनुभूय तृप्यन्ति, दृशेः सर्वकरणद्वारोपल-
ब्ध्यर्थत्वात् । ननु रोहितं रूपं दृष्ट्वेत्युक्तम्; कथमन्येन्द्रिय-
विषयत्वं रूपस्येति; न, यशआदीनां श्रोत्रादिगम्यत्वात् ।
श्रोत्रग्राह्यं यशः । तेजोरूपं चाक्षुषम् । इन्द्रियं विषयग्रह-
णकार्यानुमेयं करणसामर्थ्यम् । वीर्यं बलं देहगत उत्साहः
प्राणवत्ता । अन्नाद्यं प्रत्यहमुपजीव्यमानं शरीरस्थितिकरं
यद्भवति । रसो ह्येवमात्मकः सर्वः । यं दृष्ट्वा तृप्यन्ति सर्वे ।

देवा दृष्ट्वा तृप्यन्तीति एतत्सर्वं स्वकरणैरनुभूय तृप्यन्तीत्यर्थः ।
आदित्यसंश्रयाः सन्तो वैगन्ध्यादिदेहकरणदोषरहिताश्च ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्मा-
द्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

किं ते निरुद्यमा अमृतमुपजीवन्ति ? न ; कथं तर्हि,
एतदेव रूपम् अभिलक्ष्य अधुना भोगावसरो नास्माक-
मिति बुद्ध्वा अभिसंविशन्ति उदासते । यदा वै तस्यामृतस्य
भोगावसरो भवेत्, तदैतस्मादमृतादमृतभोगनिमित्तमित्यर्थः ;
एतस्माद्रूपात् उद्यन्ति उत्साहवन्तो भवन्तीत्यर्थः । न हि
अनुत्साहवतामननुतिष्ठतामलसानां भोगप्राप्तिर्लोके दृष्टा ॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको
भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्य-
ति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रू-
पादुदेति ॥ ३ ॥

स यः कश्चित् एतदेवं यथोदितम् ऋद्ध्याधुकरतापरससं-
क्षरणम् ऋग्वेदविहितकर्मपुष्पात् तस्य च आदित्यसंश्रयणं
रोहितरूपत्वं च अमृतस्य प्राचीदिग्गतरीमनाडीसंस्थतां
वसुदेवभोग्यतां तद्विदश्च वसुभिः सहैकतां गत्वा अग्निना

मुखेनोपजीवनं दर्शनमात्रेण तृप्तिं च स्वभोगावसरे उद्यमनं तत्कालापाये च संवेशनं वेद, सोऽपि वसुवत् सर्वं तथैवानुभवति ॥

**स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चाद-
स्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वा-
राज्यं पर्येता ॥ ४ ॥**

इति षष्ठः खण्डः ॥

कियन्तं कालं विद्वांस्तदमृतमुपजीवतीति, उच्यते— स विद्वान् यावदादित्यः पुरस्तात् प्राच्यां दिशि उदेता पश्चात् प्रतीच्याम् अस्तमेता, तावद्वसूनां भोगकालः तावन्तमेव कालं वसूनामाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता परितो गन्ता भवतीत्यर्थः । न यथा चन्द्रमण्डलस्थः केवलकर्मी परतन्त्रो देवानामन्नभूतः ; किं तर्हि, अयम् आधिपत्यं स्वाराज्यं स्वराड्भावं च अधिगच्छति ॥

इति षष्ठखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः ॥

अथ यद्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीव-
न्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रू-
पादुद्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको
भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति
स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपा-
दुदेति ॥ ३ ॥

अथ यद्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीत्यादि समानम् ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चाद-
स्तमेता द्विस्तावदक्षिणत उदेतोत्तरतो-
ऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यं स्वा-
राज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावत्
ततो द्विगुणं कालं दक्षिणत उदेता उत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणां
तावद्भोगकालः ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजी-
वन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति
न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रू-
पादुच्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवै-
को भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृ-
ष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविश-
त्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तर-
तोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुर-
स्तादस्तमेतादित्यानामेव तावदाधिपत्यं
स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥

तथा पश्चात् उत्तरतः ऊर्ध्वमुदेता विपर्ययेण अस्तमेता ।
पूर्वस्मात्पूर्वस्माद्विगुणोत्तरोत्तरेण कालेनेत्यपौराणं दर्शनम् ।
सवितुः चतुर्दिशमिन्द्रयमवरुणसोमपुरीषु उदयास्तमयकालस्य
तुल्यत्वं हि पौराणिकैरुक्तम्, मानसोत्तरस्य मूर्धनि मेरोः

प्रदक्षिणावृत्तेस्तुल्यत्वादिति । अत्रोक्तः परिहारः आचार्यैः ।
 अमरावत्यादीनां पुरीणां द्विगुणोत्तरोत्तरेण कालेनोद्वासः
 स्यात् । उदयश्च नाम सवितुः तन्निवासिनां प्राणिनां चक्षुर्गो-
 चरापत्तिः, तदत्ययश्च अस्तमनम् ; न परमार्थत उदयास्तमने
 स्तः । तन्निवासिनां च प्राणिनामभावे तान्प्रति तेनैव मार्गेण
 गच्छन्नपि नैवोदेता नास्तमेतेति, चक्षुर्गोचरापत्तेस्तदत्ययस्य च
 अभावात् । तथा अमरावत्याः सकाशाद्विगुणं कालं संयमनी
 पुरी वसति, अतस्तन्निवासिनः प्राणिनः प्रति दक्षिणत इव
 उदेति उत्तरतोऽस्तमेति इत्युच्यतेऽस्मद्बुद्धिं च अपेक्ष्य । तथो-
 त्तरास्वपि पुरीषु योजना । सर्वेषां च मेरुरुत्तरतो भवति ।
 यदा अमरावत्यां मध्याह्नगतः सविता, तदा संयमन्यामुद्य-
 न्दृश्यते; तत्र मध्याह्नगतो वारुण्यामुद्यन्द्दृश्यते; तथोत्तर-
 स्याम्, प्रदक्षिणावृत्तेस्तुल्यत्वात् । इलावृतवासिनां सर्वतः
 पर्वतप्राकारनिवारितादित्यरश्मीनां सविता ऊर्ध्व इव उदेता
 अर्वागस्तमेता दृश्यते, पर्वतोर्ध्वच्छिद्रप्रवेशात्सवितृप्रकाशस्य ।
 तथा ऋगाद्यमृतोपजीविनाममृतानां च द्विगुणोत्तरोत्तरवी-
 र्यवत्त्वमनुमीयते भोगकालद्वैगुण्यलिङ्गेन । उद्यमनसंवेश-
 नादि देवानां रुद्रादीनां विदुषश्च समानम् ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः ॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीव-
न्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति
न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्मा-
द्रूपादुच्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको
भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा
तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येत-
स्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्ताद-
स्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतो-
ऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यं स्वा-
राज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति नवमः खण्डः ॥

दशमः खण्डः ॥

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजी-
वन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति
न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्मा-
द्रूपादुच्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवै-
को भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा
तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येत-
स्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षि-
णतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेतार्वा-
गस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं
स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

एकादशः खण्डः ॥

अथ तत् ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्त-
मेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥

कृत्वैवमुदयास्तमनेन प्राणिनां स्वकर्मफलभोगनिमित्तमनु-
ग्रहम्, तत्कर्मफलभोगक्षये तानि प्राणिजातान्यात्मनि संहृत्य,
अथ ततः तस्मादनन्तरं प्राण्यनुग्रहकालादूर्ध्वः सन् आत्मन्यु-
देत्य उद्गम्य यान्प्रत्युदेति तेषां प्राणिनामभावात् स्वात्मस्थः
नैवोदेता नास्तमेता एकलः अद्वितीयः अनवयवः मध्ये स्वा-
त्मन्येव स्थाता । तत्र कश्चिद्विद्वान्वस्वादिसमानचरणः रोहि-
ताद्यमृतभोगभागी यथोक्तक्रमेण स्वात्मानं सवितारमात्मत्वे-
नोपेत्य समाहितः सन् एतं मन्त्रं दृष्ट्वा उत्थितः अन्यस्मै पृष्ट-
वते जगाद—यतस्त्वमागतो ब्रह्मलोकात् किं तत्राप्यहोरात्रा-
भ्यां परिवर्तमानः सविता प्राणिनामायुः क्षपयति यथेहास्मा-
कम् ; इत्येवं पृष्टः प्रत्याह—तत् तत्र यथा पृष्टे यथोक्ते च अर्थे
एष श्लोको भवति तेनोक्तो योगिनेति श्रुतेर्वचनमिदम् ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय
कदाचन । देवास्तेनाह ५ सत्येन मा विरा-
धिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

न वै तत्र यतोऽहं ब्रह्मलोकादागतः तस्मिन्न वै तत्र एतदस्ति
यत्पृच्छसि । न हि तत्र निम्लोच अस्तमगमत्सविता न च

उदियाय उद्गतः कुतश्चित् कदाचन कस्मिंश्चिदपि काले इति ।
 उदयास्तमयवर्जितः ब्रह्मलोकः इत्यनुपपन्नम् इत्युक्तः शपथ-
 मिव प्रतिपेदे—हे देवाः साक्षिणो यूयं शृणुत, यथा मयोक्तं
 सत्यं वचः तेन सत्येन अहं ब्रह्मणा ब्रह्मस्वरूपेण मा विरा-
 धिषि मा विरुध्येयम्, अप्राप्तिर्ब्रह्मणो मम मा भूदित्यर्थः ॥

सत्यं तेनोक्तमित्याह श्रुतिः—

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति
 सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्र-
 ह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

न ह वा अस्मै यथोक्तब्रह्मविदे न उदेति न निम्लोच-
 ति नास्तमेति, किं तु ब्रह्मविदेऽस्मै सकृद्दिवा हैव सदैव अह-
 र्भवति, स्वयंज्योतिष्वात्; य एतां यथोक्तां ब्रह्मोपनिषदं वेद-
 गुह्यं वेद, एवं तन्त्रेण वंशादित्रयं प्रत्यमृतसंबन्धं च यश्च
 अन्यदवोचाम एवं जानातीत्यर्थः । विद्वान् उदयास्तमयकाला-
 परिच्छेद्यं नित्यमजं ब्रह्म भवतीत्यर्थः ॥

तद्वैतद्वद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजाप-
 तिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्वैतदुद्दालकाया-
 रूणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥

तद्वैतत् मधुज्ञानं ब्रह्मा हिरण्यगर्भः विराजे प्रजापतये

उवाच ; सोऽपि मनवे ; मनुरिक्ष्वाकाद्याभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाचेति विद्यां स्तौति—ब्रह्मादिविशिष्टक्रमागतेति । किं च, तद्वैतत् मधुज्ञानम् उद्दालकाय आरुणये पिता ब्रह्मविज्ञानं ज्येष्ठाय पुत्राय प्रोवाच ॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्तेवासिने ॥

इदं वाव तद्यथोक्तम् अन्योऽपि ज्येष्ठाय पुत्राय सर्वप्रियार्हाय ब्रह्म प्रब्रूयात् । प्रणाय्याय वा योग्याय अन्तेवासिने शिष्याय ॥

**नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमाम-
द्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव
ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥६॥**

नान्यस्मै कस्मैचन प्रब्रूयात् । तीर्थद्वयमनुज्ञातमनेकेषां प्राप्तानां तीर्थानामाचार्यादीनाम् । कस्मात्पुनस्तीर्थसंकोचनं विद्यायाः कृतमिति, आह—यद्यपि अस्मै आचार्याय इमां कश्चित्पृथिवीम् अद्भिः परिगृहीतां समुद्रपरिवेष्टितां समस्तामपि दद्यात्, अस्या विद्याया निष्क्रयार्थम्, आचार्याय धनस्य पूर्णां संपन्नां भोगोपकरणैः ; नासावस्य निष्क्रयः, यस्मात् ततोऽपि दानात् एतदेव यन्मधुविद्यादानं भूयः बहुतरफलमित्यर्थः । द्विरभ्यासः आदरार्थः ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वादशः खण्डः ॥

यत एवमतिशयफलैषा ब्रह्मविद्या, अतः सा प्रकारान्तरे-
णापि वक्तव्येति 'गायत्री वा' इत्याद्यारभ्यते । गायत्रीद्वा-
रेण च उच्यते ब्रह्म, सर्वविशेषरहितस्य 'नेति नेति' इत्या-
दिविशेषप्रतिषेधगम्यस्य दुर्बोधत्वात् । सत्स्वनेकेषु च्छन्दःसु
गायत्र्या एव ब्रह्मज्ञानद्वारतयोपादानं प्राधान्यात् । सोमाह-
रणात् इतरच्छन्दोक्षराहरणेन इतरच्छन्दोव्याप्त्या च सर्व-
सवनव्यापकत्वाच्च यज्ञे प्राधान्यं गायत्र्याः । गायत्रीसार-
त्वाच्च ब्राह्मणस्य मातरमिव, हित्वा गुरुतरां गायत्रीं ततो-
ऽन्यद्गुरुतरं न प्रतिपद्यते यथोक्तं ब्रह्मापीति, तस्यामत्यन्तगौ-
रवस्य प्रसिद्धत्वात् । अतो गायत्रीमुखेनैव ब्रह्मोच्यते—

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं
किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं
भूतं गायति च त्रायते च ॥ १ ॥

गायत्री वा इत्यवधारणार्थो वै-शब्दः । इदं सर्वं भूतं
प्राणिजातं यत्किञ्च स्थावरं जङ्गमं वा तत्सर्वं गायत्र्येव ।

तस्याश्छन्दोमात्रायाः सर्वभूतत्वमनुपपन्नमिति गायत्रीकारणं वाचं शब्दरूपामापादयति गायत्रीं वाग्वै गायत्रीति । वाग्वा इदं सर्वं भूतम् । यस्मात् वाक् शब्दरूपा सती सर्वं भूतं गायति शब्दयति— असौ गौः असावश्च इति च, त्रायते च रक्षति— अमुष्मान्मा भैषीः किं ते भयमुत्थितम् इत्यादिना सर्वतो भयान्निवर्त्यमानः वाचा त्रातः स्यात् । यत् वाक् भूतं गायति च त्रायते च, गायत्र्येव तत् गायति च त्रायते च, वाचः अनन्यत्वाद्गायत्र्याः । गानात्राणाञ्च गायत्र्या गायत्रीत्वम् ॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याः ह्रीदः सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

या वै सा एवंलक्षणा सर्वभूतरूपा गायत्री, इयं वाव सा येयं पृथिवी । कथं पुनरियं पृथिवी गायत्रीति, उच्यते— सर्वभूतसंबन्धात् । कथं सर्वभूतसंबन्धः, अस्यां पृथिव्यां हि यस्मात् सर्वं स्थावरं जङ्गमं च भूतं प्रतिष्ठितम्, एतामेव पृथिवीं नातिशीयते नातिवर्तत इत्येतत् । यथा गानत्राणाभ्यां भूतसंबन्धो गायत्र्याः, एवं भूतप्रतिष्ठानाद्भूतसंबन्धा पृथिवी; अतो गायत्री पृथिवी ॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदम-
स्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रति-
ष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

या वै सा पृथिवी गायत्री इयं वाव सा इदमेव ।
तत्किम् ? यदिदमस्मिन्पुरुषे कार्यकरणसंघाते जीवति शरी-
रम्, पार्थिवत्वाच्छरीरस्य । कथं शरीरस्य गायत्रीत्वमिति,
उच्यते—अस्मिन्हि इमे प्राणाः भूतशब्दवाच्याः प्रति-
ष्ठिताः, अतः पृथिवीवद्भूतशब्दवाच्यप्राणप्रतिष्ठानात् शरीरं
गायत्री, एतदेव यस्माच्छरीरं नातिशीयन्ते प्राणाः ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदि-
दमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्रा-
णाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥४॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरं गायत्री इदं वाव तत् । यदिदम-
स्मिन्नन्तः मध्ये पुरुषे हृदयं पुण्डरीकाख्यम् एतद्गायत्री । कथ-
मिति, आह—अस्मिन्हि इमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः, अतः
शरीरवत् गायत्री हृदयम् । एतदेव च नातिशीयन्ते प्राणाः ।
'प्राणो ह पिता । प्राणो माता' 'अहिंसन्सर्वभूतानि'
इति श्रुतेः भूतशब्दवाच्याः प्राणाः ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदे-
तदृचाभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥

सैषा चतुष्पदा षडक्षरपदा छन्दोरूपा सती भवति गाय-
त्री षड्विधा—वाग्भूतपृथिवीशरीरहृदयप्राणरूपा सती षड्विधा
भवति । वाक्प्राणयोरन्यार्थनिर्दिष्टयोरपि गायत्रीप्रकारत्वम्,
अन्यथा षड्विधसंख्यापूरणानुपपत्तेः । तत् एतस्मिन्नर्थे एतत्
गायत्र्याख्यं ब्रह्म गायत्र्यनुगतं गायत्रीमुखेनोक्तम् ऋचा
अपि मन्त्रेणाभ्यनूक्तं प्रकाशितम् ॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च
पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपाद-
स्यामृतं दिवीति ॥ ६ ॥

तावान् अस्य गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मणः समस्तस्य महिमा
विभूतिविस्तारः, यावांश्चतुष्पात्षड्विधश्च ब्रह्मणो विकारः
पादो गायत्रीति व्याख्यातः । अतः तस्माद्विकारलक्षणाद्वा-
यत्र्याख्याद्वाचारम्भणमात्रात् ततो ज्यायान् महत्तरश्च परमा-
र्थसत्यरूपोऽविकारः पूरुषः पुरुषः सर्वपूरणात् पुरि शय-
नाच्च । तस्य अस्य पादः सर्वा सर्वाणि भूतानि तेजोब्रह्मा-
दीनि सस्थावरजङ्गमानि, त्रिपात् त्रयः पादा अस्य सोऽयं

त्रिपात् ; त्रिपादमृतं पुरुषाख्यं समस्तस्य गायत्र्यात्मनो
दिवि द्योतनवति स्वात्मन्यवस्थितमित्यर्थ इति ॥

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योयं बहिर्धा
पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादा-
काशः ॥ ७ ॥

यद्वै तत् त्रिपादमृतं गायत्रीमुखेनोक्तं ब्रह्मेति, इदं वाव
तत् इदमेव तत् ; योऽयं प्रसिद्धः बहिर्धा बहिः पुरुषादाकाशः
भौतिको यो वै, स बहिर्धा पुरुषादाकाश उक्तः ॥

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आका-
शो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥ ८ ॥

अयं वाव सः, योऽयमन्तः पुरुषे शरीरे आकाशः । यो
वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आका-
शस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णमप्रवर्तिनीं
श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

अयं वाव सः, योऽयमन्तर्हृदये हृदयपुण्डरीके आकाशः ।
 कथमेकस्य सत आकाशस्य त्रिधा भेद इति, उच्यते—बा-
 ह्येन्द्रियविषये जागरितस्थाने नभसि दुःखबाहुल्यं दृश्यते ।
 ततोऽन्तःशरीरे स्वप्नस्थानभूते मन्दतरं दुःखं भवति । स्व-
 प्रान्पश्यतो हृदयस्थे पुनर्नभसि न कंचन कामं कामयते न
 कंचन स्वप्नं पश्यति । अतः सर्वदुःखनिवृत्तिरूपमाकाशं सु-
 शुप्तस्थानम् । अतो युक्तमेकस्यापि त्रिधा भेदान्वाख्यानम् ।
 बहिर्धा पुरुषादारभ्य आकाशस्य हृदये संकोचकरणं चेतः-
 समाधानस्थानस्तुतये—यथा ‘त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं
 विशिष्यते । अर्धतस्तु कुरुक्षेत्रमर्धतस्तु पृथूदकम्’ इति,
 तद्वत् । तदेतद्वादार्काशाख्यं ब्रह्म पूर्णं सर्वगतम्, न हृदय-
 मात्रपरिच्छिन्नमिति मन्तव्यम्, यद्यपि हृदयाकाशे चेतः
 समाधीयते । अप्रवर्ति न कुतश्चित्कचित्प्रवर्तितुं शीलमस्येत्य-
 प्रवर्ति, तदनुच्छित्तिधर्मकम् । यथा अन्यानि भूतानि परि-
 छिन्नान्युच्छित्तिधर्मकाणि, न तथा हार्दं नभः । पूर्णमप्रवर्ति-
 नीमनुच्छेदात्मिकां श्रियं विभूतिं गुणफलं लभते दृष्टम् । य
 एवं यथोक्तं पूर्णाप्रवर्तिगुणं ब्रह्म वेद जानाति इहैव जीवन्
 तद्भावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देव-
सुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्च-
क्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपा-
सीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥

तस्य ह वा इत्यादिना गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मणः उपास-
नाङ्गत्वेन द्वारपालादिगुणविधानार्थमारभ्यते । यथा लोके
द्वारपालाः राज्ञ उपासनेन वशीकृता राजप्राप्त्यर्था भवन्ति,
तथेहापीति । तस्य इति प्रकृतस्य हृदयस्येत्यर्थः । एतस्य
अनन्तरनिर्दिष्टस्य पञ्च पञ्चसंख्याकाः देवानां सुषयः देव-
सुषयः स्वर्गलोकप्राप्तिद्वारच्छिद्राणि, देवैः प्राणादित्यादिभिः
रक्ष्यमाणानि इत्यतो देवसुषयः ; तस्य स्वर्गलोकभवनस्य हृद-
यस्य अस्य यः प्राङ्सुषिः पूर्वाभिमुखस्य प्राग्गतं यच्छिद्रं
द्वारं स प्राणः ; तत्स्थः तेन द्वारेण यः संचरति वायुविशेषः
स प्रागनितीति प्राणः । तेनैव संबद्धमव्यतिरिक्तं तच्चक्षुः ;
तथैव स आदित्यः 'आदित्यो ह वै बाह्यप्राणः' इति श्रुतेः
चक्षूरूपप्रतिष्ठाक्रमेण हृदि स्थितः ; 'स आदित्यः कस्मि-

नप्रतिष्ठित इति चक्षुषि' इत्यादि हि वाजसनेयके । प्राण-
वायुदेवतैव हि एका चक्षुरादित्यश्च सहाश्रयेण । वक्ष्यति च—
प्राणाय स्वाहेति हुतं हविः सर्वमेतत्तर्पयतीति । तदेतत्
प्राणारूढं स्वर्गलोकद्वारपालत्वात् ब्रह्म । स्वर्गलोकं प्रतिपि-
त्सुः तेजस्वी एतत् चक्षुरादित्यस्वरूपेण अन्नाद्यत्वाच्च सवितुः
तेजः अन्नाद्यम् इत्याभ्यां गुणाभ्याम् उपासीत । ततः तेज-
स्व्यन्नादश्च आमयावित्तरहितो भवति ; य एवं वेद तस्यै-
तद्गुणफलम् । उपासनेन वशीकृतो द्वारपः स्वर्गलोकप्राप्तिहेतु-
र्भवतीति मुख्यं च फलम् ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यान-
स्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यश-
श्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य
एवं वेद ॥ २ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः तत्स्थो वायुविशेषः स
वीर्यवत्कर्म कुर्वन् विगृह्य वा प्राणापानौ नाना वा अनि-
तीति व्यानः । तत्संवद्धमेव च तच्छ्रोत्रमिन्द्रियम् । तथा स
चन्द्रमाः—श्रोत्रेण सृष्टा दिशश्च चन्द्रमाश्च इति श्रुतेः । सहा-
श्रयौ पूर्ववत् ; तदेतत् श्रीश्च विभूतिः श्रोत्रचन्द्रमसोर्ज्ञानान्नहे-

तुत्वम्; अतस्ताभ्यां श्रीत्वम् । ज्ञानान्नवतश्च यशः ख्या-
तिर्भवतीति यशोहेतुत्वात् यशस्त्वम् । अतस्ताभ्यां गुणाभ्या-
मुपासीतेत्यादि समानम् ॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ्मुषिः सोऽपानः
सा वाक्सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्य-
मित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य
एवं वेद ॥ ३ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ्मुषिः पश्चिमः तत्स्थो वायुविशेषः
स मूत्रपुरीषाद्यपनयन् अधोऽनितीत्यपानः । सा तथा वाक्,
तत्संबन्धात्; तथा अग्निः; तदेतद्ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्यायनि-
मित्तं तेजः ब्रह्मवर्चसम्, अग्निसंबन्धाद्बृत्तस्वाध्यायस्य ।
अन्नग्रसनहेतुत्वात् अपानस्य अन्नाद्यत्वम् । समानमन्यत् ॥

अथ योऽस्योदङ्मुषिः स समानस्त-
न्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टि-
श्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति
य एवं वेद ॥ ४ ॥

अथ योऽस्योदङ् मुषिः उदग्गतः मुषिः तत्स्थो वायु-

विशेषः सोऽशितपीते समं नयतीति समानः । तत्संबद्धं मनोऽन्तःकरणम्, स पर्जन्यो वृष्ट्यात्मको देवः पर्जन्यनिमित्ताश्च आप इति, 'मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च' इति श्रुतेः । तदेतत्कीर्तिश्च, मनसो ज्ञानस्य कीर्तिहेतुत्वात् । आत्मपरोक्षं विश्रुतत्वं कीर्तिर्यशः । स्वकरणसंवेद्यं विश्रुतत्वं व्युष्टिः कान्तिर्देहगतं लावण्यम् । ततश्च कीर्तिसंभवात्कीर्तिश्चेति । समानमन्यत् ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः आ पादतलादारभ्योर्ध्वमुत्क्रमणात् उत्कर्षार्थं च कर्म कुर्वन् अनितीत्युदानः । स वायुः तदाधारश्च आकाशः । तदेतत् वाय्वाकाशयोरोजोहेतुत्वादोजः बलं महत्वाच्च मह इति । समानमन्यत् ॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदा-

स्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं
लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य
लोकस्य द्वारपान्वेद ॥ ६ ॥

ते वा एते यथोक्ताः पञ्चसुषिसंबन्धात् पञ्च ब्रह्मणो
हार्दस्य पुरुषाः राजपुरुषा इव द्वारस्थाः स्वर्गस्य हार्दस्य
लोकस्य द्वारपाः द्वारपालाः । एतैर्हि चक्षुःश्रोत्रवाङ्मनः-
प्राणैर्बहिर्मुखप्रवृत्तैर्ब्रह्मणो हार्दस्य प्राप्तिद्वाराणि निरुद्धानि ।
प्रत्यक्षं हि एतदजितकरणतया बाह्यविषयासङ्गानृतप्ररूढ-
त्वात् न हार्दे ब्रह्मणि मनस्तिष्ठति । तस्मात्सत्यमुक्तमेते पञ्च
ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपा इति । अतः स य एता-
नेवं यथोक्तगुणविशिष्टान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद
उपास्ते उपासनया वशीकरोति, स राजद्वारपालानिवोपास-
नेन वशीकृत्य तैरनिवारितः प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं राजान-
मिव हार्दं ब्रह्म । किं च अथ विदुषः कुले वीरः पुत्रो
जायते वीरपुरुषसेवनात् । तस्य च ऋणापाकरणेन ब्रह्मो-
पासनप्रवृत्तिहेतुत्वम् । ततश्च स्वर्गलोकप्रतिपत्तये पारम्पर्येण
भवतीति स्वर्गलोकप्रतिपत्तिरेवैकं फलम् ॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते

विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु
लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे
ज्योतिः ॥ ७ ॥

अथ यत् असौ विद्वान् स्वर्गं लोकं वीरपुरुषसेवनात्प्राति-
पद्यते, यच्चोक्तं त्रिपादस्यामृतं दिवीति, तदिदं लिङ्गेन चक्षुः-
श्रोत्रेन्द्रियगोचरमापादयितव्यम्, यथा अग्न्यादि धूमादि-
लिङ्गेन । तथा हि एवमेवेदमिति यथोक्ते अर्थे दृढा प्रतीतिः
स्यात्— अनन्यत्वेन च निश्चय इति । अत आह— यदतः
अमुष्मात् दिवः द्युलोकात्, परः परमिति लिङ्गव्यत्ययेन,
ज्योतिर्दीप्यते, स्वयंप्रभं सदाप्रकाशत्वाद्दीप्यत इव दीप्यत
इत्युच्यते, अग्न्यादिवज्ज्वलनलक्षणाया दीप्तेरसंभवात् ।
विश्वतः पृष्ठेष्वित्येतस्य व्याख्यानं सर्वतः पृष्ठेष्विति, संसा-
रादुपरीत्यर्थः ; संसार एव हि सर्वः, असंसारिणः एकत्वा-
न्निर्भेदत्वाच्च । अनुत्तमेषु, तत्पुरुषसमासाशङ्कानिवृत्तये आह
उत्तमेषु लोकेष्विति ; सत्यलोकादिषु हिरण्यगर्भादिकार्यरूपस्य
परस्येश्वरस्य आसन्नत्वादुच्यते उत्तमेषु लोकेष्विति । इदं
वाव इदमेव तत् यदिदमस्मिन्पुरुषे अन्तः मध्ये ज्योतिः चक्षुः-
श्रोत्रग्राह्येण लिङ्गेनोष्णिग्ना शब्देन च अवगम्यते । यत् त्वचा

स्पर्शरूपेण गृह्यते तच्चक्षुषैव, दृढप्रतीतिकरत्वात्त्वचः, अवि-
नाभूतत्वाच्च रूपस्पर्शयोः ॥

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे स-
स्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रु-
तिर्यत्रैतत्कर्णावपि गृह्य निनदमिव नदथु-
रिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं
च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति
य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

कथं पुनः तस्य ज्योतिषः लिङ्गं त्वग्दृष्टिगोचरत्वमापद्यत
इति, आह—यत्र यस्मिन्काले, एतदिति क्रियाविशेषणम्,
अस्मिञ्छरीरे हस्तेन आलभ्य संस्पर्शेन उष्णिमानं रूपसह-
भाविनमुष्णस्पर्शभावं विजानाति, स हि उष्णिमा नामरू-
पव्याकरणाय देहमनुप्रविष्टस्य चैतन्यात्मज्योतिषः लिङ्गम्,
अव्यभिचारात् । न हि जीवन्तमात्मानमुष्णिमा व्यभिचर-
ति । उष्ण एव जीविष्यन् शीतो मरिष्यन् इति हि विज्ञा-
यते । मरणकाले च तेजः परस्यां देवतायामिति परेणाविभाग-

त्वोपगमात् । अतः असाधारणं लिङ्गमौष्ण्यमग्नेरिव धूमः । अ-
 तस्तस्य परस्यैषा दृष्टिः साक्षादिव दर्शनं दर्शनोपाय इत्यर्थः ।
 तथा तस्य ज्योतिषः एषा श्रुतिः श्रवणं श्रवणोपायोऽप्युच्य-
 मानः । यत्र यदा पुरुषः ज्योतिषो लिङ्गं शुश्रूषति श्रोतुमि-
 च्छति, तदा एतत् कर्णावपिगृह्य, एतच्छब्दः क्रियाविशेषणम्,
 अपिगृह्य अपिधायेत्यर्थः, अङ्गुलिभ्यां प्रोर्णुत्य निनदमिव
 रथस्येव घोषो निनदः तमिव शृणोति, नदथुरिव ऋषभकूजित-
 मिव शब्दः, यथा च अग्नेर्वह्निर्ज्वलतः एवं शब्दमन्तःशरीरे
 उपशृणोति, तदेतत् ज्योतिः दृष्टश्रुतलिङ्गत्वात् दृष्टं च श्रुतं च
 इत्युपासीत । तथोपासनात् चक्षुष्यः दर्शनीयः श्रुतः विश्रु-
 तश्च । यत् स्पर्शगुणोपासननिमित्तं फलं तत् रूपे संपादयति
 चक्षुष्य इति, रूपस्पर्शयोः सहभावित्वात्, इष्टत्वाच्च दर्शनी-
 यतायाः । एवं च विद्यायाः फलमुपपन्नं स्यात्, न तु मृदुत्वा-
 दिस्पर्शवत्त्वे । य एवं यथोक्तौ गुणौ वेद । स्वर्गलोकप्रतिप-
 त्तिस्तु उक्तमदृष्टं फलम् । द्विरभ्यासः आदरार्थः ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

पुनस्तस्यैव त्रिपादमृतस्य ब्रह्मणोऽनन्तगुणवतोऽनन्तश-
क्तेरनेकभेदोपास्यस्य विशिष्टगुणशक्तिमत्त्वेनोपासनं विधि-
त्सन् आह—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त
उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो
यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः
प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

सर्वं समस्तम्, खल्विति वाक्यालंकारार्थो निपातः । इदं
जगत् नामरूपविकृतं प्रत्यक्षादिविषयं ब्रह्म कारणम्; वृद्धतम-
त्वात् ब्रह्म । कथं सर्वस्य ब्रह्मत्वमित्यत आह— तज्जलानि-
ति; तस्माद्ब्रह्मणो जातं तेजोबन्नादिक्रमेण सर्वम्; अतः तज्जम्;
तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि
लीयते तदात्मतया श्लिष्यत इति तल्लम्; तथा तस्मिन्नेव
स्थितिकाले, अनिति प्राणिति चेष्टत इति । एवं ब्रह्मात्मतया
त्रिषु कालेष्वविशिष्टम्, तद्व्यतिरेकेणाग्रहणात् । अतः तदेवेदं
जगत् । यथा च इदं तदेवैकमद्वितीयं तथा षष्ठे विस्तरेण व-
क्ष्यामः । यस्माच्च सर्वमिदं ब्रह्म, अतः शान्तः रागद्वेषादिदो-
षरहितः संयतः सन्, यत् तत्सर्वं ब्रह्म तत् वक्ष्यमाणैर्गुणैरुपा-
सीत । कथमुपासीत ? क्रतुं कुर्वीत—क्रतुः निश्चयोऽध्यवसायः

एवमेव नान्यथेत्यविचलः प्रत्ययः, तं क्रतुं कुर्वीत उपासीत इत्यनेन व्यवहितेन संबन्धः । किं पुनः क्रतुकरणेन कर्तव्यं प्रयोजनम् ? कथं वा क्रतुः कर्तव्यः ? क्रतुकरणं च अभि-
प्रेतार्थसिद्धिसाधनं कथम् ? इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थम् अथे-
त्यादिग्रन्थः । अथ खल्विति हेत्वर्थः । यस्मात्क्रतुमयः
क्रतुप्रायोऽध्यवसायात्मकः पुरुषः जीवः ; यथाक्रतुः यादृशः
क्रतुः अस्य सोऽयं यथाक्रतुः यथाध्यवसायः यादृङ्निश्च-
यः अस्मिँल्लोके जीवन् इह पुरुषो भवति, तथा इतः अस्मा-
द्देहात् प्रेत्य मृत्वा भवति ; क्रत्वनुरूपफलात्मको भवती-
त्यर्थः । एवं हि एतच्छास्त्रतो दृष्टम्—‘यं यं वापि स्मर-
न्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्’ इत्यादि । यत एवं व्यवस्था
शास्त्रदृष्टा, अतः सः एवं जानन् क्रतुं कुर्वीत ; यादृशं क्रतुं
वक्ष्यामः तम् । यत एवं शास्त्रप्रामाण्यादुपपद्यते क्रत्वनुरूपं
फलम्, अतः स कर्तव्यः क्रतुः ॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्य-
संकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः
सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवा-
क्यनादरः ॥ २ ॥

कथम् ? मनोमयः मनःप्रायः ; मनुतेऽनेनेति मनः तत्

स्ववृत्त्या विषयेषु प्रवृत्तं भवति, तेन मनसा तन्मयः; तथा प्रवृत्त इव तत्प्रायो निवृत्त इव च । अत एव प्राणशरीरः प्राणो लिङ्गात्मा विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयसंमूर्छितः, 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः' इति श्रुतेः । सः शरीरं यस्य, स प्राणशरीरः, 'मनोमयः प्राणशरीर-नेता' इति च श्रुत्यन्तरात् । भारूपः भा दीप्तिः चैतन्य-लक्षणं रूपं यस्य सः भारूपः । सत्यसंकल्पः सत्या अवितथाः संकल्पाः यस्य, सोऽयं सत्यसंकल्पः; न यथा संसारिण इवानैकान्तिकफलः संकल्प ईश्वरस्येत्यर्थः । सं-सारिणः अनृतेन मिथ्याफलत्वहेतुना प्रत्यूढत्वात् संकल्पस्य मिथ्याफलत्वं वक्ष्यति—'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' इति । आका-शात्मा आकाश इव आत्मा स्वरूपं यस्य सः आकाशात्मा । सर्वगतत्वं सूक्ष्मत्वं रूपादिहीनत्वं च आकाशतुल्यता ईश्व-रस्य । सर्वकर्मा सर्वं विश्वं तेनेश्वरेण क्रियत इति जगत्सर्वं कर्म यस्य स सर्वकर्मा, 'स हि सर्वस्य कर्ता' इति श्रुतेः । सर्वकामः सर्वे कामा दोषरहिता अस्येति सर्वकामः, 'धर्मा-विरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' इति स्मृतेः । ननु कामोऽस्मीति वचनात् इह बहुव्रीहिर्न संभवति सर्वकाम इति । न, काम-स्य कर्तव्यत्वात् शब्दादिवत्पारार्थ्यप्रसङ्गाच्च देवस्य । तस्मात्

यथेह सर्वकाम इति बहुव्रीहिः, तथा कामोऽस्मीति स्मृत्यर्थो वाच्यः । सर्वगन्धः सर्वे गन्धाः सुखकरा अस्य सोऽयं सर्वगन्धः, 'पुण्यो गन्धः पृथिव्याम्' इति स्मृतेः । तथा रसा अपि विज्ञेयाः; अपुण्यगन्धरसग्रहणस्य पाप्मसंबन्धनिमित्त-
त्वश्रवणात्, 'तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च । पाप्मना ह्येष विद्धः' इति श्रुतेः । न च पाप्मसंसर्ग ईश्वर-
स्य, अविद्यादिदोषस्यानुपपत्तेः । सर्वमिदं जगत् अभ्यात्तः अभिव्याप्तः । अततेर्व्याप्त्यर्थस्य कर्तरि निष्ठा । तथा अवा-
की— उच्यते अनयेति वाक् वागेव वाकः, यद्वा वचेर्ध्वन्त-
स्य करणे वाकः, स यस्य विद्यते स वाकी, न वाकी अ-
वाकी । वाक्प्रतिषेधश्च अत्र उपलक्षणार्थः । गन्धरसादि-
श्रवणात् ईश्वरस्य प्राप्तानि घ्राणादीनि करणानि गन्धादि-
ग्रहणाय; अतः वाक्प्रतिषेधेन प्रतिषिध्यन्ते तानि; 'अपा-
णिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'
इत्यादिमन्त्रवर्णात् । अनादरः असंभ्रमः; अप्राप्तप्राप्तौ हि
संभ्रमः स्यादनाप्तकामस्य । न तु आप्तकामत्वात् नित्यतृप्तस्ये-
श्वरस्य संभ्रमोऽस्ति क्वचित् ॥

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा
यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाक-
तण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्याया-

नृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दि-
वो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

एषः यथोक्तगुणः मे मम आत्मा अन्तर्हृदये हृदयपुण्ड-
रीकस्यान्तः मध्ये अणीयान् अणुतरः, ब्रीहेर्वा यवाद्वा इत्यादि
अत्यन्तसूक्ष्मत्वप्रदर्शनार्थम् । श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा
इति परिच्छिन्नपरिमाणात् अणीयानित्युक्तेऽणुपरिमाणत्वं
प्राप्तमाशङ्क्य, अतः तत्प्रतिषेधायारभते—एष म आत्मा-
न्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या इत्यादिना । ज्यायःपरिमाणाञ्च
ज्यायस्त्वं दर्शयन् अनन्तपरिमाणत्वं दर्शयति—मनोमय
इत्यादिना ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य इत्यन्तेन ॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्व-
रसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष
म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्या-
भिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्वा न
विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः
शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

यथोक्तगुणलक्षणः ईश्वरः ध्येयः, न तु तद्गुणविशिष्ट
एव—यथा राजपुरुषमानय चित्रगुं वा इत्युक्ते न विशेष-

णस्याप्यानयने व्याप्रियते, तद्वदिहापि प्राप्तम्; अतस्तन्नि-
वृत्त्यर्थं सर्वकर्मत्यादि पुनर्वचनम् । तस्मात् मनोमयत्वादिगु-
णविशिष्ट एवेश्वरो ध्येयः । अत एव षष्ठसप्तमयोरिव 'त-
त्त्वमसि' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति नेह स्वाराज्येऽभिषि-
ञ्चति, एष म आत्मा एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि
इति लिङ्गात्; न तु आत्मशब्देन प्रत्यगात्मैव उच्यते, ममेति
षष्ठ्याः संबन्धार्थप्रत्यायकत्वात्, एतमभिसंभवितास्मीति च
कर्मकर्तृत्वनिर्देशात् । ननु षष्ठेऽपि 'अथ संपत्स्ये' इति
सत्संपत्तेः कालान्तरितत्वं दर्शयति । न, आरब्धसंस्कारशे-
षस्थित्यर्थपरत्वात्; न कालान्तरितार्थता, अन्यथा तत्त्व-
मसीत्येतस्यार्थस्य बाधप्रसङ्गात् । यद्यपि आत्मशब्दस्य प्र-
त्यगर्थत्वं सर्वं खल्वेदं ब्रह्मेति च प्रकृतम् एष म आत्मा-
न्तर्हृदय एतद्ब्रह्मेत्युच्यते, तथापि अन्तर्धानमीषदपरित्यज्यैव
एतमात्मानं इतः अस्माच्छरीरात् प्रेत्य अभिसंभवितास्मी-
त्युक्तम् । यथाक्रतुरूपस्य आत्मनः प्रतिपत्तास्मीति यस्यैवंविदः
स्यात् भवेत् अद्धा सत्यम् एवं स्यामहं प्रेत्य, एवं न स्यामिति
न च विचिकित्सा अस्ति इत्येतस्मिन्नर्थे क्रतुफलसंबन्धे, स
तथैवेश्वरभावं प्रतिपद्यते विद्वान्, इत्येतदाह स्म उक्तवान्किल
शाण्डिल्यो नाम ऋषिः । द्विरभ्यासः आदरार्थः ॥

इति चतुर्दशखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चदशः खण्डः ॥

‘अस्य कुले वीरो जायते’ इत्युक्तम् । न वीरजन्ममात्रं पितृस्त्राणाय, ‘तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः’ इति श्रुत्यन्तरात् । अतस्तद्दीर्घायुष्ट्वं कथं स्यादित्येवमर्थं कोशविज्ञानारम्भः । अभ्यर्हितविज्ञानव्यासङ्गादनन्तरमेव नोक्तं तदिदानीमेव आरभ्यते—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुधो न
जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्त-
रं बिलं स एष कोशो वसुधानस्तस्मि-
न्विश्वमिदं श्रितम् ॥ १ ॥

अन्तरिक्षम् उदरम् अन्तःसुषिरं यस्य सोऽयम् अन्तरिक्षोदरः, कोशः कोश इव अनेकधर्मसादृश्यात्कोशः; स च भूमिबुधः भूमिबुधो मूलं यस्य स भूमिबुधः, न जीर्यति न विनश्यति, त्रैलोक्यात्मकत्वात् । सहस्रयुगकालावस्थायी हि सः । दिशो हि अस्य सर्वाः स्रक्तयः कोणाः । द्यौरस्य कोशस्य उत्तरम् ऊर्ध्वं बिलम्; स एष यथोक्तगुणः कोशः वसुधानः वसु धीयतेऽस्मिन्प्राणिनां कर्मफलाख्यम्, अतो वसुधानः । तस्मिन्नन्तः विश्वं समस्तं प्राणिकर्मफलं सह तत्साधनैः इदं यद्रूढ्यते प्रत्यक्षादिप्रमाणैः श्रितम् आश्रितं स्थितमित्यर्थः ॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं ५ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं ५ रुदम् ॥ २ ॥

तस्यास्य प्राची दिक् प्राग्गतो भागः जुहूर्नाम जुह्वत्यस्यां दिशि कर्मिणः प्राञ्जुखाः सन्त इति जुहूर्नाम । सहमाना नाम सहन्तेऽस्यां पापकर्मफलानि यमपुर्या प्राणिन इति सहमाना नाम दक्षिणा दिक् । तथा राज्ञी नाम प्रतीची पश्चिमा दिक्, राज्ञी राज्ञा वरुणेनाधिष्ठिता, संध्यारागयोगाद्वा । सुभूता नाम भूतिमद्भिरीश्वरकुबेरादिभिरधिष्ठितत्वात् सुभूता नाम उदीची । तासां दिशां वायुः वत्सः, दिग्जत्वाद्वायोः, पुरोवात इत्यादिदर्शनात् । स यः कश्चित् पुत्रदीर्घजीवितार्थी एवं यथोक्तगुणं वायुं दिशां वत्सम् अमृतं वेद, स न पुत्ररोदं पुत्रनिमित्तं रोदनं न रोदिति, पुत्रो न म्रियत इत्यर्थः । यत एवं विशिष्टं कोशदिग्वत्सविषयं विज्ञानम्, अतः सोऽहं पुत्रजीवितार्थी एवमेतं वायुं दिशां वत्सं वेद

जाने । अतः पुत्ररोदं मा रुदं पुत्रमरणनिमित्तं पुत्ररोदो
मम मा भूदित्यर्थः ॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्रा-
णं प्रपद्येऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्येऽमुना-
मुनामुना भुवः प्रपद्येऽमुनामुनामुना स्वः
प्रपद्येऽमुनामुनामुना ॥ ३ ॥

अरिष्टम् अविनाशिनं कोशं यथोक्तं प्रपद्ये प्रपन्नोऽस्मि
पुत्रायुषे । अमुनामुनामुनेति त्रिर्नाम गृह्णाति पुत्रस्य । तथा
प्राणं प्रपद्येऽमुनामुनामुना, भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना, भुवः
प्रपद्येऽमुनामुनामुना, स्वः प्रपद्येऽमुनामुनामुना, सर्वत्र प्रपद्ये
इति त्रिर्नाम गृह्णाति पुनः पुनः ॥

स यद्वोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा
इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रा-
पत्सि ॥ ४ ॥

स यद्वोचं प्राणं प्रपद्य इति व्याख्यानार्थमुपन्यासः ।
प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं जगत् । 'यथा वारा नाभौ'
इति वक्ष्यति । अतस्तमेव सर्वं तत् तेन प्राणप्रतिपादनेन
प्रापत्सि प्रपन्नोऽभूवम् ॥

अथ यद्वोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं
प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव
तद्वोचम् ॥ ५ ॥

तथा भूः प्रपद्ये इति त्रीँलोकान्भूरादीन्प्रपद्ये इति तद्वो-
चम् ॥

अथ यद्वोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये
वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तद्वो-
चम् ॥ ६ ॥

अथ यद्वोचं भुवः प्रपद्ये इति, अग्न्यादीन्प्रपद्ये इति
तद्वोचम् ॥

अथ यद्वोचं स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं
प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव
तद्वोचं तद्वोचम् ॥ ७ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ यद्वोचं स्वः प्रपद्ये इति, ऋग्वेदादीन्प्रपद्ये इत्येव
तद्वोचमिति । उपरिष्ठान्मन्त्रान् जपेत् ततः पूर्वोक्तमजरं
कोशं सदिग्वत्सं यथावद्धयात्वा । द्विर्वचनमादरार्थम् ॥

इति पञ्चदशखण्डभाष्यम् ॥

षोडशः खण्डः ॥

पुत्रायुष उपासनमुक्तं जपश्च । अथेदानीमात्मनः दीर्घ-
जीवनायेदमुपासनं जपं च विदधदाह ; जीवन्हि स्वयं पुत्रा-
दिफलेन युज्यते, नान्यथा । इत्यतः आत्मानं यज्ञं संपादयति
पुरुषः—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंश-
ति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्ष-
रा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य व-
सवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते
हीद॑ सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

पुरुषः जीवनविशिष्टः कार्यकरणसंघातः यथाप्रसिद्ध
एव ; वावशब्दोऽवधारणार्थः ; पुरुष एव यज्ञ इत्यर्थः ।
तथा हि सामान्यैः संपादयति यज्ञत्वम् । कथम् ? तस्य
पुरुषस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाण्यायुषः, तत्प्रातःसवनं पुरुषा-
ख्यस्य यज्ञस्य । केन सामान्येनेति, आह—चतुर्विंशत्यक्षरा
गायत्री छन्दः, गायत्रं गायत्रीछन्दस्कं हि विधियज्ञस्य प्रातः-

सवनम्; अतः प्रातःसवनसंपन्नेन चतुर्विंशतिवर्षायुषा युक्तः पुरुषः अतो विधियज्ञसादृश्यात् यज्ञः । तथोत्तरयोरप्यायुषोः सवनद्वयसंपत्तिः त्रिष्टुब्जगत्यक्षरसंख्यासामान्यतो वाच्या । किंच, तदस्य पुरुषयज्ञस्य प्रातःसवनं विधियज्ञस्येव वसवः देवा अन्वायत्ताः अनुगताः; सवनदेवतात्वेन स्वामिन इत्यर्थः । पुरुषयज्ञेऽपि विधियज्ञ इव अग्न्यादयो वसवः देवाः प्राप्ता इत्यतो विशिनष्टि—प्राणा वाव वसवः वागादयो वायवश्च । एते हि यस्मात् इदं पुरुषादिप्राणिजातम् एते वासयन्ति । प्राणेषु हि देहे वसत्सु सर्वमिदं वसति, नान्यथा । इत्यतो वसनाद्वासनाच्च वसवः ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स
ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं मा-
ध्यंदिनं सवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणा-
नां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सयित्युद्धैव
तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

तं चेत् यज्ञसंपादिनम् एतस्मिन् प्रातःसवनसंपन्ने वयसि किंचित् व्याध्यादि मरणशङ्काकारणम् उपतपेत् दुःखमुत्पादयेत्, स तदा यज्ञसंपादी पुरुषः आत्मानं यज्ञं मन्यमानः

ब्रूयात् जपेदित्यर्थः इमं मन्त्रम्— हे प्राणाः वसवः इदं मे प्रातःसवनं मम यज्ञस्य वर्तते, तत् माध्यंदिनं सवनम् अनुसंतनुतेति माध्यंदिनेन सवनेन आयुषा सहितं एकीभूतं संततं कुरुतेत्यर्थः । मा अहं यज्ञः युष्माकं प्राणानां वसूनां प्रातःसवनेशानां मध्ये विलोप्सीय विलुप्येय विच्छिद्येयेत्यर्थः । इति-शब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः । स तेन जपेन ध्यानेन च ततः तस्मादुपतापात् उत् एति उद्गच्छति । उद्गम्य विमुक्तः सन् अगदो ह अनुपतापो भवत्येव ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि
तन्माध्यंदिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशद-
क्षरा लिष्टुप्त्रैष्टुभं माध्यंदिनं सवनं त-
दस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा
एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥ ३ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणीत्यादि समानम् । रुदन्ति रोदयन्तीति प्राणा रुद्राः । क्रूरा हि ते मध्यमे वयसि, अतो रुद्राः ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स
ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यंदिनं सवनं

तृतीयसवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां
रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत
एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि त-
त्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जग-
ती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अ-
न्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदुः
सर्वमाददते ॥ ५ ॥

तं चेदस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स
ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवन-
मायुरनुसंतनुतेति माहं प्राणानामादि-
त्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत
एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

तथा आदित्याः प्राणाः । ते हि इदं शब्दादिजातम्
आददते, अत आदित्याः । तृतीयसवनमायुः षोडशोत्तरवर्षशतं
समापयत अनुसंतनुत यज्ञं समापयतेत्यर्थः । समानम-
न्यत् ॥

निश्चिता हि विद्या फलायेत्येतद्दर्शयन् उदाहरति—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास
 ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहम-
 नेन न प्रेक्ष्यामीति स ह षोडशं वर्षशत-
 मजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य
 एवं वेद ॥ ७ ॥

इति षोडशः खण्डः ॥

एतत् यज्ञदर्शनं ह स्म वै किल तद्विद्वानाह महिदासो ना-
 मतः; इतराया अपत्यम् ऐतरेयः । किं कस्मात् मे मम एतत्
 उपतपनम् उपतपसि स त्वं हे रोगः; योऽहं यज्ञः अनेन त्व-
 त्कृतेनोपतापेन न प्रेक्ष्यामि न मरिष्यामि; अतो वृथा तव
 श्रम इत्यर्थः । इत्येवमाह स्म—इति पूर्वेण संबन्धः । स एवंनि-
 श्रयः सन् षोडशं वर्षशतमजीवत् । अन्योऽप्येवंनिश्चयः
 षोडशं वर्षशतं प्रजीवति, य एवं यथोक्तं यज्ञसंपादनं वेद
 जानाति, स इत्यर्थः ॥

इति षोडशखण्डभाष्यम् ॥

सप्तदशः खण्डः ॥

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न
रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥

स यदशिशिषतीत्यादियज्ञसामान्यनिर्देशः पुरुषस्य पूर्वे-
णैव संबध्यते । यदशिशिषति अशितुमिच्छति; तथा
पिपासति पातुमिच्छति; यन्न रमते इष्टाद्यप्राप्तिनिमित्तम्;
यदेवंजातीयकं दुःखमनुभवति, ता अस्य दीक्षाः; दुःख-
सामान्याद्विधियज्ञस्येव ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदु-
पसदैरेति ॥ २ ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते रतिं च अनुभवति
इष्टादिसंयोगात्, तत् उपसदैः समानतामेति । उपसदां च प-
योव्रतत्वनिमित्तं सुखमस्ति । अल्पभोजनीयानि च अहान्यास-
न्नानि इति प्रश्वासः; अतोऽशनादीनामुपसदां च सामान्यम् ॥

अथ यद्वसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चर-
ति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

अथ यद्वसति यज्जक्षति भक्षयति यन्मैथुनं चरति, स्तुत-
शस्त्रैरेव तत्समानतामेति; शब्दवत्त्वसामान्यात् ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्य-
वचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति, ता अस्य दक्षिणाः, धर्मपुष्टिकरत्वसामान्यात् ॥

**तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पा-
दनमेवास्य तन्मरणमेवावभृथः ॥ ५ ॥**

यस्माञ्च यज्ञः पुरुषः, तस्मात् तं जनयिष्यति माता यदा, तदा आहुरन्ये सोष्यतीति तस्य मातरम्; यदा च प्रसूता भवति, तदा असोष्ट पूर्णिकेति; विधियज्ञे इव सोष्यति सोमं देवदत्तः, असोष्ट सोमं यज्ञदत्त इति; अतः शब्दसामान्याद्वा पुरुषो यज्ञः । पुनरुत्पादनमेवास्य तत् पुरुषाख्यस्य यज्ञस्य, यत्सोष्यत्यसोष्टेति शब्दसंबन्धित्वं विधियज्ञस्येव । किञ्च तन्मरणमेव अस्य पुरुषयज्ञस्य अवभृथः, समाप्तिसामान्यात् ॥

**तद्धैतद्धोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी-
पुत्रायोक्तवोवाचापिपास एव स बभूव
सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षित-
मस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति त-
त्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥**

तद्धैतत् यज्ञदर्शनं घोरः नामतः, आङ्गिरसः गोत्रतः, कृष्णाय देवकीपुत्राय शिष्याय उक्त्वा, उवाच तदेतन्नयम् इत्यादिव्यवहितेन संबन्धः । स च एतद्दर्शनं श्रुत्वा अपि-

पास एवान्याभ्यो विद्याभ्यो बभूव । इत्थं च विशिष्टा इयम् ,
 यत्कृष्णस्य देवकीपुत्रस्य अन्यां विद्यां प्रति तृद्धिच्छेदकरी
 इति पुरुषयज्ञविद्यां स्तौति । घोर आङ्गिरसः कृष्णायोक्त्वेमां
 विद्यां किमुवाचेति, तदाह—स एवं यथोक्तयज्ञवित् अन्त-
 वेलायां मरणकाले एतत् मन्त्रत्रयं प्रतिपद्येत जपेदित्यर्थः । किं
 तत्? अक्षितम् अक्षीणम् अक्षतं वा असि इत्येकं यजुः । सा-
 मर्थ्यादादित्यस्थं प्राणं च एकीकृत्य आह । तथा तमेव आह,
 अच्युतं स्वरूपादप्रच्युतमसि इति द्वितीयं यजुः । प्राणसं-
 शितं प्राणश्च स संशितं सम्यक्तनूकृतं च सूक्ष्मं तत् त्वमसि
 इति तृतीयं यजुः । तत्र एतस्मिन्नर्थे विद्यास्तुतिपरे द्वे ऋचौ
 मन्त्रौ भवतः, न जपार्थे, त्रयं प्रतिपद्येत इति त्रित्वसंख्याबा-
 धनात्; पञ्चसंख्या हि तदा स्यात् ॥

**आदित्प्रत्नस्य रेतसः । उद्वयं तमस-
 स्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्य-
 न्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योति-
 रुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥**

आदित् इत्यत्र आकारस्यानुबन्धस्तकारः अनर्थक इच्छ-
 ब्दश्च । प्रत्नस्य चिरंतनस्य पुराणस्येत्यर्थः; रेतसः
 कारणस्य बीजभूतस्य जगतः, सदाख्यस्य ज्योतिः प्रकाशं

पश्यन्ति । आशब्द उत्सृष्टानुबन्धः पश्यन्तीत्यनेन संबध्यते ; किं तज्ज्योतिः पश्यन्ति ; वासरम् अहः अहरिव तत् सर्वतो व्याप्तं ब्रह्मणो ज्योतिः ; निवृत्तचक्षुषो ब्रह्मविदः ब्रह्मचर्यादिनिवृत्तिसाधनैः शुद्धान्तःकरणाः आ समन्ततः ज्योतिः पश्यन्तीत्यर्थः । परः परमिति लिङ्गव्यत्ययेन, ज्योतिष्परत्वात्, यत् इध्यते दीप्यते दिवि द्योतनवति परस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमानम् येन ज्योतिषेद्धः सविता तपति चन्द्रमा भाति विशुद्धिद्योतते ग्रहतारागणा विभासन्ते । किं च, अन्यो मन्त्र-दृगाह यथोक्तं ज्योतिः पश्यन्—उद्वयं तमसः अज्ञानलक्षणात् परि परस्तादिति शेषः ; तमसो वा अपनेतृ यज्ज्योतिः उत्तरम्—आदित्यस्थं परिपश्यन्तः वयम् उत् अगन्म इति व्यवहितेन संबन्धः ; तज्ज्योतिः स्वः स्वम् आत्मीयमस्मद्भूदि स्थितम्, आदित्यस्थं च तदेकं ज्योतिः ; यत् उत्तरम् उत्कृष्टतरमूर्ध्वतरं वा अपरं ज्योतिरपेक्ष्य, पश्यन्तः उदगन्म वयम् । कमुदगन्मेति, आह । देवं द्योतनवन्तं देवत्रा देवेषु सर्वेषु, सूर्यं रसानां रश्मीनां प्राणानां च जगतः ईरणात्सूर्यः तमुदगन्म गतवन्तः, ज्योतिरुत्तमं सर्वज्योतिर्भ्य उत्कृष्टतमम् अहो प्राप्ता वयमित्यर्थः । इदं तज्ज्योतिः, यत् ऋग्भ्यां स्तुतं यद्यजुस्त्रयेण प्रकाशितम् । द्विरभ्यासो यज्ञकल्पनापरिसमाप्त्यर्थः ॥

इति सप्तदशखण्डभाष्यम् ॥

अष्टादशः खण्डः ॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधि-
दैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्य-
ध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

मनोमय ईश्वर उक्तः आकाशात्मेति च ब्रह्मणो गुणैक-
देशत्वेन । अथेदानीं मनआकाशयोः समस्तब्रह्मदृष्टिविधा-
नार्थ आरम्भः मनो ब्रह्मेत्यादि । मनः मनुतेऽनेनेत्यन्तः-
करणं तद्ब्रह्म परमित्युपासीतेति एतदात्मविषयं दर्शनम्
अध्यात्मम् । अथ अधिदैवतं देवताविषयमिदं वक्ष्यामः ।
आकाशो ब्रह्मेत्युपासीत ; एवमुभयमध्यात्ममधिदैवतं च उभयं
ब्रह्मदृष्टिविषयम् आदिष्टम् उपदिष्टं भवति ; आकाशमनसोः
सूक्ष्मत्वात् मनसोपलभ्यत्वाच्च ब्रह्मणः, योग्यं मनो ब्रह्म-
दृष्टेः, आकाशश्च, सर्वगतत्वात्सूक्ष्मत्वादुपाधिहीनत्वाच्च ॥

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक्पादः प्राणः पाद-
श्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्ममथा-
धिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः

**पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भव-
त्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २ ॥**

तदेतत् मनआख्यं चतुष्पाद्ब्रह्म, चत्वारः पादा अस्येति ।
कथं चतुष्पात्त्वं मनसो ब्रह्मण इति, आह—वाक्प्राणश्चक्षुः-
श्रोत्रमित्येते पादाः इत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतम् आकाशस्य
ब्रह्मणोऽग्निर्वायुरादित्यो दिश इत्येते । एवमुभयमेव चतुष्पा-
द्ब्रह्म आदिष्टं भवति अध्यात्मं चैवाधिदैवतं च । तत्र वागेव
मनसो ब्रह्मणश्चतुर्थः पाद इतरपादत्रयापेक्षया— वाचा हि
पादेनेव गवादि वक्तव्यविषयं प्रति तिष्ठति ; अतो मनसः
पाद इव वाक् । तथा प्राणो घ्राणः पादः ; तेनापि गन्ध-
विषयं प्रति च क्रामति । तथा चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्ये-
वमध्यात्मं चतुष्पात्त्वं मनसो ब्रह्मणः । अथाधिदैवतम् अग्नि-
वाय्वादित्यदिशः आकाशस्य ब्रह्मण उदर इव गोः पादा इव
लग्ना उपलभ्यन्ते ; तेन तस्य आकाशस्य अग्न्यादयः पादा
उच्यन्ते । एवमुभयमध्यात्मं चैवाधिदैवतं च चतुष्पादादिष्टं
भवति ॥

**वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना
ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च**

तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य
एवं वेद ॥ ३ ॥

तत्र वागेव मनसो ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । सोऽग्निना अधिदैवतेन ज्योतिषा भाति च दीप्यते तपति च संतापं च औष्ण्यं करोति । अथवा तैलघृताद्याग्नेयाशनेन इद्धा वाग्भाति च तपति च वदनायोत्साहवती स्यादित्यर्थः । विद्वत्फलम्, भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन, य एवं यथोक्तं वेद ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायु-
ना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति
च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन
य एवं वेद ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदि-
त्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भा-
ति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्च-
सेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दि-

ग्भिज्योतिषा भाति च तपति च भाति
 च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन
 य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥

इति अष्टादशः खण्डः ॥

तथा प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । स वायुना
 गन्धाय भाति च तपति च । तथा चक्षुः आदित्येन रूपग्रह-
 णाय, श्रोत्रं दिग्भिः शब्दग्रहणाय । विद्याफलं समानं सर्वत्र
 ब्रह्मसंपत्तिरदृष्टं फलं य एवं वेद । द्विरुक्तिर्दर्शनसमाप्त्यर्था ॥

इति अष्टादशखण्डभाष्यम् ॥

एकोनविंशः खण्डः ॥

आदित्यो ब्रह्मणः पाद उक्त इति तस्मिन्सकलब्रह्मदृष्ट्यर्थमिदमारभ्यते—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्या-
नमसदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत्त-
त्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य
मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डक-
पाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥ १ ॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः उपदेशः ; तस्योपव्याख्यानं क्रियते
स्तुत्यर्थम् । असत् अव्याकृतनामरूपम् इदं जगत् अशेषमग्रे
प्रागवस्थायामुत्पत्तेः आसीत्, न त्वसदेव ; ‘ कथमसतः सज्जा-
येत ’ इति असत्कार्यत्वस्य प्रतिषेधात् । ननु इहासदेवेति
विधानाद्विकल्पः स्यात् । न, क्रियास्विव वस्तुनि विकल्पानु-
पपत्तेः । कथं तर्हि इदमसदेवेति ? नन्ववोचाम अव्याकृतनाम-
रूपत्वादसदिवासदिति । नन्वेवशब्दोऽवधारणार्थः ; सत्यमे-
वम्, न तु सत्त्वाभावमवधारयति ; किं तर्हि, व्याकृतनाम-

रूपाभावमवधारयति ; नामरूपव्याकृतविषये सच्छब्दप्रयोगो दृष्टः । तच्च नामरूपव्याकरणमादित्यायत्तं प्रायशो जगतः । तदभावे हि अन्धं तम इव इदं न प्रज्ञायेत किञ्चन इत्यतः तत्स्तुतिपरे वाक्ये सदपीदं प्रागुत्पत्तेर्जगदसदेवेत्यादित्यं स्तौति ब्रह्मदृष्ट्यर्हत्वाय ; आदित्यनिमित्तो हि लोके सदिति व्यवहारः— यथा असदेवेदं राज्ञः कुलं सर्वगुणसंपन्ने पूर्णवर्मणि राजन्यसतीति तद्वत् । न च सत्त्वमसत्त्वं वा इह जगतः प्रतिपिपादयिषितम्, आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशपरत्वात् । उपसंहरिष्यत्यन्ते आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्त इति । तत्सदासीत् तत् असच्छब्दवाच्यं प्रागुत्पत्तेः स्तिमितम् अनिस्पन्दमसदिव सत्कार्याभिमुखम् ईषदुपजातप्रवृत्ति सदासीत् ; ततो लब्धपरिस्पन्दं तत्समभवत् अल्पतरनामरूपव्याकरणेन अङ्कुरीभूतमिव बीजम् । ततोऽपि क्रमेण स्थूलीभवत् अद्भ्यः आण्डं समवर्तत संवृत्तम् । आण्डमिति दैर्घ्यं छान्दसम् । तदण्डं संवत्सरस्य कालस्य प्रसिद्धस्य मात्रां परिमाणम् अभिन्नस्वरूपमेव अशयत स्थितं बभूव । तत् ततः संवत्सरपरिमाणात्कालादूर्ध्वं निरभिद्यत निर्भिन्नम्— वयसामिवाण्डम् । तस्य निर्भिन्नस्याण्डस्य कपाले द्वे रजतं च सुवर्णं च अभवतां संवृत्ते ॥

तद्यद्रजतं५ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं५
 सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बं५ समेधो
 नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेय-
 मुदकं५ स समुद्रः ॥ २ ॥

तत् तयोः कपालयोः यद्रजतं कपालमासीत्, सेयं पृथि-
 वी पृथिव्युपलक्षितमधोऽण्डकपालमित्यर्थः । यत्सुवर्णं कपा-
 लं सा द्यौः तुलोकोपलक्षितमूर्ध्वं कपालमित्यर्थः । यज्जरायु
 गर्भपरिवेष्टनं स्थूलम् अण्डस्य द्विशकलीभावकाले आसीत्, ते
 पर्वता बभूवुः । यदुल्बं सूक्ष्मं गर्भपरिवेष्टनम्, तत् सह मेघैः
 समेधः नीहारोऽवश्यायः बभूवेत्यर्थः । या गर्भस्य जातस्य
 देहे धमनयः शिराः, तानद्यो बभूवुः । यत् तस्य वस्तौ भवं
 वास्तेयमुदकम्, स समुद्रः ॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं
 जायमानं घोषा उत्लूलवोऽनूदतिष्ठन्सर्वा-
 णि च भूतानि सर्वे च कामास्तस्मात्त-
 स्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उत्लूल-
 वोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे
 च कामाः ॥ ३ ॥

अथ यत्तदजायत गर्भरूपं तस्मिन्नण्डे, सोऽसावादित्यः ; तमादित्यं जायमानं घोषाः शब्दाः उलूलवः उरुरवो विस्तीर्णरवाः उदतिष्ठन् उत्थिवन्तः ईश्वरस्येवेह प्रथमपुत्रजन्मनि सर्वाणि च स्थावरजङ्गमानि भूतानि सर्वे च तेषां भूतानां कामाः काम्यन्त इति विषयाः स्त्रीवस्त्रान्नादयः । यस्मादादित्यजन्मनिमित्ता भूतकामोत्पत्तिः, तस्मादद्यत्वेऽपि तस्यादित्यस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति अस्तगमनं च प्रति, अथवा पुनः पुनः प्रत्यागमनं प्रत्यायनं तत्प्रति तन्निमित्तीकृत्येत्यर्थः ; सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा घोषा उलूलवश्चानुतिष्ठन्ति । प्रसिद्धं हि एतदुदयादौ सवितुः ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपा-
स्तेऽभ्याशो ह यदेन५ साधवो घोषा आ
च गच्छेयुरूप च निम्नेऽरेरनिम्नेऽरेरन् ॥ ४ ॥

इति एकोनविंशः खण्डः ॥

स यः कश्चित् एतमेवं यथोक्तमहिमानं विद्वान्सन् आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते, स तद्भावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः । किंच दृष्टं फलम् अभ्याशः क्षिप्रं तद्विदः, यदिति क्रियाविशेषणम्, एतमेवंविदं साधवः शोभना घोषाः, साधुत्वं घोषादीनां यदु-

पभोगे पापानुबन्धाभावः, आ च गच्छेयुः आगच्छेयुश्च,
 उप च निम्नेडेरन् उपनिम्नेडेरंश्च—न केवलमागमनमात्रं
 घोषाणाम् उपसुखयेयुश्च उपसुखं च कुर्युरित्यर्थः । द्विर-
 भ्यासः अध्यायपरिसमाप्त्यर्थः आदरार्थश्च ॥

इति एकोनविंशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभग-

वत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये तृतीयोऽध्यायः

समाप्तः ॥

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्

चतुर्थोऽध्यायः

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

—*—



युप्राणयोर्ब्रह्मणः पाददृष्ट्यध्या-
सः पुरस्ताद्वर्णितः । अथेदानीं तयोः
साक्षाद्ब्रह्मत्वेनोपाख्यत्वायोत्तरमारभ्य-
ते । सुखावबोधार्था आख्यायिका,
विद्यादानग्रहणविधिप्रदर्शनार्था च ।
श्रद्धान्नदानानुद्धतत्वादीनां च विद्या-

प्राप्तिसाधनत्वं प्रदर्श्यते आख्यायिकया—

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो ब-
हुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत
आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽन्न-
मत्स्यन्तीति ॥ १ ॥

जानश्रुतिः जनश्रुतस्यापत्यम् । ह ऐतिह्यार्थः । पुत्रस्य पौत्रः
पौत्रायणः स एव श्रद्धादेयः श्रद्धापुरःसरमेव ब्राह्मणादिभ्यो
देयमस्येति श्रद्धादेयः । बहुदायी प्रभूतं दातुं शीलमस्येति बहु-
दायी । बहुपाक्यः बहु पक्तव्यमहन्यहनि गृहे यस्यासौ बहुपा-

क्यः ; भोजनार्थिभ्यो बह्वस्य गृहेऽन्नं पच्यत इत्यर्थः । एवं-
गुणसंपन्नोऽसौ जानश्रुतिः पौत्रायणो विशिष्टे देशे काले च
कस्मिंश्चित् आस बभूव । स ह सर्वतः सर्वासु दिक्षु ग्रामेषु
नगरेषु आवसथान् एत्य वसन्ति येष्विति आवसथाः तान्
मापयांचक्रे कारितवानित्यर्थः । सर्वत एव मे मम अन्नं
तेष्वावसथेषु वसन्तः अत्स्यन्ति भोक्ष्यन्त इत्येवमभिप्रायः ॥

अथ हंसा निशायामतिपेतुस्तद्वै-
व हं सोहं समभ्युवाद हो होऽयि
भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य
समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षी
स्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥

तत्रैवं सति राजनि तस्मिन्घर्मकाले हर्म्यतलस्थे अथ ह
हंसा निशायां रात्रौ अतिपेतुः । ऋषयो देवता वा राज्ञो-
ऽन्नदानगुणैस्तोषिताः सन्तः हंसरूपा भूत्वा राज्ञो दर्शनगो-
चरे अतिपेतुः पतितवन्तः । तत् तस्मिन्काले तेषां पततां
हंसानाम् एकः पृष्ठतः पतन् अग्रतः पतन्तं हंसमभ्युवाद
अभ्युक्तवान्— हो होयीति भो भो इति संबोध्य भल्लाक्ष
भल्लाक्षेत्यादरं दर्शयन् यथा पश्य पश्याश्चर्यमिति तद्वत् ; भ-
ल्लाक्षेति मन्ददृष्टित्वं सूचयन्नाह ; अथवा सम्यग्ब्रह्मदर्शना-

भिमानवत्त्वात्तस्य असकृदुपालब्धस्तेन पीड्यमानोऽमर्षितया
तत्सूचयति भल्लाक्षेति ; जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं तुल्यं
दिवा द्युलोकेन ज्योतिः प्रभास्वरम् अन्नदानादिजनितप्रभावजम्
आततं व्याप्तं द्युलोकस्पृगित्यर्थः ; दिवा अह्ना वा समं
ज्योतिरित्येतत् ; तन्मा प्रसाङ्गीः सञ्जनं सक्तिं तेन ज्योति-
षा संबन्धं मा कार्षीरित्यर्थः । तत्प्रसञ्जनेन तत् ज्योतिः
त्वा त्वां मा प्रधाक्षीः मा दहत्वित्यर्थः ; पुरुषव्यत्ययेन मा
प्रधाक्षीदिति ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेत-
त्सन्तं सयुग्वानमिव रैकमात्थेति यो
नु कथं सयुग्वा रैक इति ॥ ३ ॥

तम् एवमुक्तवन्तं परः इतरोऽप्रगामी प्रत्युवाच— अरे
निकृष्टोऽयं राजा वराकः, तं कमु एनं सन्तं केन माहात्म्येन
युक्तं सन्तमिति कुत्सयति एनमेवं सबहुमानमेतद्वचनमात्थ
रैकमिव सयुग्वानम्, सह युग्वना गन्त्र्या वर्तत इति सयुग्वा
रैकः, तमिव आत्थ एनम् ; अननुरूपमस्मिन्नयुक्तमीदृशं वक्तुं
रैक इवेत्यभिप्रायः । इतरश्च आह— यो नु कथं त्वयोच्यते
सयुग्वा रैकः । इत्युक्तवन्तं भल्लाक्ष आह— शृणु यथा स रैकः ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संय-

न्येवमेनं सर्वं तदभिसमैति यत्किंच
 प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद
 स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

यथा लोके कृतायः कृतो नामायो शूतसमये प्रसिद्धश्च-
 तुरङ्गः, स यदा जयति शूते प्रवृत्तानाम्, तस्मै विजिताय तद-
 र्थमितरे त्रिव्येकाङ्का अधरेयाः त्रेताद्वापरकलिनामानः सं-
 यन्ति संगच्छन्तेऽन्तर्भवन्ति; चतुरङ्गे कृताये त्रिव्येकाङ्कानां
 विद्यमानत्वात्तदन्तर्भवन्तीत्यर्थः । यथा अयं दृष्टान्तः, एव-
 मेनं रैकं कृतायस्थानीयं त्रेताद्ययस्थानीयं सर्वं तदभिसमैति
 अन्तर्भवति रैके । किं तत्? यत्किंच लोके सर्वाः प्रजाः
 साधु शोभनं धर्मजातं कुर्वन्ति, तत्सर्वं रैकस्य धर्मेऽन्तर्भ-
 वति, तस्य च फले सर्वप्राणिधर्मफलमन्तर्भवतीत्यर्थः ।
 तथा अन्योऽपि कश्चित् यः तत् वेद्यं वेद । किं तत्? यत् वेद्यं
 सः रैकः वेद; तद्वेद्यमन्योऽपि यो वेद, तमपि सर्वप्राणि-
 धर्मजातं तत्फलं च रैकमिवाभिसमैतीत्यनुवर्तते । सः
 एवंभूतः अरैकवोऽपि मया विद्वान् एतदुक्तः एवमुक्तः, रैक्व-
 वत्स एव कृतायस्थानीयो भवतीत्यभिप्रायः ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशु-
 श्राव स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवा-

चाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्मात्थेति यो
 नु कथं सयुग्वा रैक् इति ॥ ५ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संय-
 न्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमैति यत्किंच
 प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स
 मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

तदु ह तदेतदीदृशं हंसवाक्यमात्मनः कुत्सारूपमन्यस्य
 विदुषो रैकादेः प्रशंसारूपम् उपशुश्राव श्रुतवान्हर्म्यतलस्थो
 राजा जानश्रुतिः पौत्रायणः । तच्च हंसवाक्यं स्मरन्नेव पौनः-
 पुन्येन रात्रिशेषमतिवाहयामास । ततः स वन्दिभी राजा
 स्तुतियुक्ताभिर्वाग्भिः प्रतिबोध्यमानः उवाच क्षत्तारं संजि-
 हान एव शयनं निद्रां वा परित्यजन्नेव, हेऽङ्ग वत्स अरे सयु-
 ग्वानमिव रैक्मात्थ किं माम् ; स एव स्तुत्यर्हो नाहमित्यभि-
 प्रायः । अथवा सयुग्वानं रैक्मात्थ गत्वा मम तद्दिदृक्षाम् ।
 तदा इवशब्दोऽवधारणार्थोऽनर्थको वा वाच्यः । स च क्षत्ता
 प्रत्युवाच रैक्वानयनकामो राज्ञोऽभिप्रायज्ञः— यो नु कथं
 सयुग्वा रैक् इति, राज्ञा एवं चोक्तः आनेतुं तच्चिह्नं ज्ञातु-
 मिच्छन् यो नु कथं सयुग्वा रैक् इत्यवोचत् । स च भ-
 लाक्षवचनमेवावोचत् तस्य स्मरन् ॥

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्ये-
याय त५ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेष-
णा तदेनमच्छेति ॥ ७ ॥

स ह क्षत्ता नगरं ग्रामं वा गत्वा अन्विष्य रैक्वं नाविदं
न व्यज्ञासिषमिति प्रत्येयाय प्रत्यागतवान् । तं होवाच क्षत्ता-
रम्— अरे यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मविद एकान्तेऽरण्ये नदीपु-
लिनादौ विविक्ते देशे अन्वेषणा अनुमार्गणं भवति, तत् तत्र
एनं रैक्वम् अच्छे कच्छ गच्छ, तत्र मार्गणं कुर्वित्यर्थः ॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाण-
मुपोपविवेश त५ हाभ्युवाद त्वं नु भग-
वः सयुग्वा रैक् इत्यह५ ह्यरा३ इति ह
प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताविदमिति प्रत्येयाय ॥

इत्युक्तः क्षत्ता अन्विष्य तं विजने देशे अधस्ताच्छकटस्य
गन्ध्याः पामानं खजूं कषमाणं कण्डूयमानं दृष्ट्वा, अयं नूनं
सयुग्वा रैक् इति उप समीपे उपविवेश विनयेनोपविष्ट-
वान् । तं च रैकं ह अभ्युवाद उक्तवान् । त्वमसि हे भगवः
भगवन् सयुग्वा रैक् इति । एवं पृष्ठः अहमस्मि हि अरा३
अरे इति ह अनादर एव प्रतिजज्ञे अभ्युपगतवान्— स तं
विज्ञाय अविदं विज्ञातवानस्मीति प्रत्येयाय प्रत्यागत इत्यर्थः ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः ॥

—*—

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्-
शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय
प्रतिचक्रमे त५ हाभ्युवाद ॥ १ ॥

तत् तत्र ऋषेर्गार्हस्थ्यं प्रति अभिप्रायं बुद्ध्वा धनार्थितां च
उ ह एव जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कं क-
ण्ठहारम् अश्वतरीरथम् अश्वतरीभ्यां युक्तं रथं तदादाय
धनं गृहीत्वा प्रतिचक्रमे रैकं प्रति गतवान् । तं च गत्वा
अभ्युवाद ह अभ्युक्तवान् ॥

रैकेमानि षट्शतानि गवामयं निष्को-
ऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देव-
ता५ शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥ २ ॥

हे रैक गवां षट् शतानि इमानि तुभ्यं मया आनीता-
नि, अयं निष्कः अश्वतरीरथश्चायम् एतद्धनमादत्स्व । भग-
वोऽनुशाधि च मे माम् एताम्, यां च देवतां त्वमुपास्से
तद्देवतोपदेशेन मामनुशाधीत्यर्थः ॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र
तवैव सह गोभिरस्त्विति तदु ह पुनरेव
जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां नि-
ष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिच-
क्रमे ॥ ३ ॥

तम् एवमुक्तवन्तं राजानं प्रत्युवाच परो रैकः । अहे-
त्ययं निपातो विनिग्रहार्थीयोऽन्यत्र, इह त्वनर्थकः, एव-
शब्दस्य पृथक्प्रयोगात् । हारेत्वा हारेण युक्ता इत्वा गन्त्री
सेयं हारेत्वा गोभिः सह तवैवास्तु तवैव तिष्ठतु न मम
अपर्याप्तेन कर्मार्थमनेन प्रयोजनमित्यभिप्रायः । हे शूद्रेति—
ननु राजासौ क्षत्तृसंबन्धात्, स ह क्षत्तारमुवाचेत्युक्तम्;
विद्याग्रहणाय च ब्राह्मणसमीपोपगमात् शूद्रस्य च अनधि-
कारात् कथमिदमननुरूपं रैकेणोच्यते हे शूद्रेति । तत्राहुरा-
चार्याः—हंसवचनश्रवणात् शुगेनमाविवेश; तेनासौ शुचा
श्रुत्वा रैक्यस्य महिमानं वा आद्रवतीति ऋषिः आत्मनः प-
रोक्षज्ञतां दर्शयन् शूद्रेत्याहेति । शूद्रवद्वा धनेनैव एनं विद्या-
ग्रहणायोपजगाम न च शुश्रूषया । न तु जात्यैव शूद्र इति ।
अपरे पुनराहुः अल्पं धनमाहृतमिति रूपैव एनमुक्तवान्
शूद्रेति । लिङ्गं च बद्धाहरणे उपादानं धनस्येति । तदु ह

ऋषेर्मतं ज्ञात्वा पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणो गवां सहस्रम-
धिकं जायां च ऋषेरभिमतं दुहितरमात्मनः तदादाय प्रति-
चक्रमे क्रान्तवान् ॥

त५ हाभ्युवाद रैकेद५ सहस्रं गवामयं
निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायायं ग्रामो
यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥

तस्या ह मुखमुपोद्बृहन्नुवाचाजहारेमाः
शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते
हैते रैकपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उ-
वास स तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

रैक्व इदं गवां सहस्रम् अयं निष्कः अयमश्वतरीरथः इयं
जाया जायार्थं मम दुहिता आनीता अयं च ग्रामः यस्मिन्नास्से
तिष्ठसि स च त्वदर्थं मया कल्पितः ; तदेतत्सर्वमादाय अनु-
शाध्येव मा मां हे भगवः, इत्युक्तः तस्या जायार्थमानीताया
राज्ञो दुहितुः ह एव मुखं द्वारं विद्याया दाने तीर्थम् उपो-
द्बृहन् जानन्नित्यर्थः । ‘ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः

प्रियः । विद्यया वा विद्यां प्राह तानि तीर्थानि षण्मम' इति विद्याया वचनं विज्ञायते हि । एवं जानन् उपो-
 दृहन् उवाच उक्तवान् । आजहार आहूतवान् भवान्
 इमाः गाः यच्चान्यद्धनं तत्साध्विति वाक्यशेषः । शूद्रेति
 पूर्वोक्तानुकृतिमात्रं न तु कारणान्तरापेक्षया पूर्ववत् । अने-
 नैव मुखेन विद्याग्रहणतीर्थेन आलापयिष्यथाः आलापय-
 सीति मां भाणयसीत्यर्थः । ते ह एते ग्रामा रैक्पर्णा नाम
 विख्याता महावृषेषु देशेषु यत्र येषु ग्रामेषु उवास उषित-
 वान् रैक्ः, तानसौ ग्रामानदादस्मै रैक्वाय राजा । तस्मै
 राज्ञे धनं दत्तवते ह किल उवाच विद्यां सः रैक्वः ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः ॥

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वा-
यति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति
वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायु-
मेवाप्येति ॥ १ ॥

वायुर्वाव संवर्गः वायुर्बाह्यः, वावेत्यवधारणार्थः, संव-
र्जनात्संग्रहणात्संग्रसनाद्वा संवर्गः; वक्ष्यमाणा अग्न्याद्या
देवता आत्मभावमापादयतीत्यतः संवर्गः संवर्जनाख्यो गुणो
ध्येयो वायोः, कृतायान्तर्भावदृष्टान्तात् । कथं संवर्गत्वं
वायोरिति, आह—यदा यस्मिन्काले वै अग्निः उद्वायति उद्वा-
सनं प्राप्नोति उपशाम्यति, तदा असौ अग्निः वायुमेव अ-
प्येति वायुस्वाभाव्यमपिगच्छति । तथा यदा सूर्योऽस्तमेति,
वायुमेवाप्येति । यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ।
ननु कथं सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपावस्थितयोः वार्यौ अपि-
गमनम्? नैष दोषः, अस्तमने अदर्शनप्राप्तेः वायुनिमित्त-
त्वात् ; वायुना हि अस्तं नीयते सूर्यः, चलनस्य वायुकार्य-
त्वात् । अथवा प्रलये सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपभ्रंशे तेजोरूप-
योर्वायावेव अपिगमनं स्यात् ॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति
वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥

तथा यदा आपः उच्छुष्यन्ति उच्छोषमाप्नुवन्ति, तदा वायुमेव अपियन्ति । वायुर्हि यस्मादेव एतान् अग्न्याद्या-
न्महाबलान् संवृङ्क्ते, अतो वायुः संवर्गगुण उपास्य इत्यर्थः ।
इत्यधिदैवतं देवतासु संवर्गदर्शनमुक्तम् ॥

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स
यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं
चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्ये-
वैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥

अथ अनन्तरम् अध्यात्मम् आत्मनि संवर्गदर्शनमिदमु-
च्यते । प्राणः मुख्यः वाव संवर्गः । स पुरुषः यदा य-
स्मिन्काले स्वपिति, तदा प्राणमेव वागप्येति—वायुमिवाग्निः ।
प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो हि यस्मादेवैता-
न्वागादीन् सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव दे-
वेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ संवर्जनगुणौ—वायुरेव देवेषु

संवर्गः प्राणः प्राणेषु वागादिषु मुख्यः ॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारि-
णं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्म-
चारी विभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥५॥

अथ एतयोः स्तुत्यर्थम् इयमाख्यायिका आरभ्यते ।
हेत्यैतिह्यार्थः । शौनकं च शुनकस्यापत्यं शौनकं कापेयं
कपिगोत्रमभिप्रतारिणं च नामतः कक्षसेनस्यापत्यं काक्षसेनिं
भोजनायोपविष्टौ परिविष्यमाणौ सूपकारैः ब्रह्मचारी ब्रह्मवि-
च्छौण्डो विभिक्षे भिक्षितवान् । ब्रह्मचारिणो ब्रह्मविन्मानि-
तां बुद्ध्वा तं जिज्ञासमानौ तस्मै उ भिक्षां न ददतुः न
दत्तवन्तौ ह किमयं वक्ष्यतीति ॥

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः
कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय
नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा
वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न द-
त्तमिति ॥ ६ ॥

स ह उवाच ब्रह्मचारी महात्मनश्चतुर इति द्वितीयाबहु-
वचनम् । देव एकः अग्न्यादीन्वायुर्वागादीन्प्राणः । कः

सः प्रजापतिः जगार प्रसितवान् । कः स जागरेति प्रश्न-
मेके । भुवनस्य भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनं भूरादिः सर्वो
लोकः तस्य गोपाः गोपायिता रक्षिता गोप्तेत्यर्थः । तं कं
प्रजापतिं हे कापेय नाभिपश्यन्ति न जानन्ति मर्त्याः मर-
णधर्माणोऽविवेकिनो वा हे अभिप्रतारिन् बहुधा अध्यात्मा-
धिदैवताधिभूतप्रकारैः वसन्तम् । यस्मै वै एतत् अहन्यहनि
अन्नम् अदनायाह्नियते संस्क्रियते च, तस्मै प्रजापतये एत-
दन्नं न दत्तमिति ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः
प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानां
हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तम-
स्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नम-
त्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे द-
त्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

तदु ह ब्रह्मचारिणो वचनं शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः
मनसा आलोचयन् ब्रह्मचारिणं प्रत्येयाय आजगाम । गत्वा
च आह यं त्वमवोचः नाभिपश्यन्ति मर्त्या इति, तं वयं
पश्यामः । कथम् ? आत्मा सर्वस्य स्थावरजङ्गमस्य । किंच
देवानामग्न्यादीनाम् आत्मनि संहृत्य प्रसित्वा पुनर्जनयिता

उत्पादयिता वायुरूपेणाधिदैवतमग्न्यादीनाम् । अध्यात्मं
 च प्राणरूपेण वागादीनां प्रजानां च जनिता । अथवा
 आत्मा देवानामग्निवागादीनां जनिता प्रजानां स्थावरजं-
 गमानाम् । हिरण्यदंष्ट्रः अमृतदंष्ट्रः अभग्नदंष्ट्र इति यावत् ।
 बभसो भक्षणशीलः । अनसूरिः सूरिर्मेधावी न सूरिरसू-
 रिस्तत्प्रतिषेधोऽनसूरिः सूरिरेवेत्यर्थः । महान्तमतिप्रमाण-
 मप्रमेयमस्य प्रजापतेर्महिमानं विभूतिम् आहुर्ब्रह्मविदः ।
 यस्मात्स्वयमन्यैरनद्यमानः अभक्ष्यमाणः यदनन्नम् अग्नि-
 वागादिदेवतारूपम् अस्ति भक्षयतीति । वा इति निरर्थकः ।
 वयं हे ब्रह्मचारिन्, आ इदम् एवं यथोक्तलक्षणं ब्रह्म
 वयमा उपास्महे । वयमिति व्यवहितेन संबन्धः । अन्ये
 न वयमिदमुपास्महे, किं तर्हि ? परमेव ब्रह्म उपास्महे इति
 वर्णयन्ति । दत्तास्मै भिक्षामित्यवोचद्भृत्यान् ॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये
 पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु
 दिक्ष्वन्नमेव दश कृतं सैषा विराडन्नादी
 तयेदं सर्वं दृष्टं सर्वमस्येदं दृष्टं भव-
 त्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

तस्मा उ ह ददुः ते हि भिक्षाम् । ते वै ये प्रस्यन्ते
 अग्न्यादयः यश्च तेषां प्रसिता वायुः पञ्चान्ये वागादिभ्यः,
 तथा अन्ये तेभ्यः पञ्चाध्यात्मं वागादयः प्राणश्च, ते सर्वे
 दश भवन्ति संख्यया, दश सन्तः तत्कृतं भवति ते, चतुरङ्क
 एकायः एवं चत्वारस्यङ्कायः एवं त्रयोऽपरे द्व्यङ्कायः एवं द्वाव-
 न्यावेकाङ्कायः एवमेकोऽन्यः इत्येवं दश सन्तः तत्कृतं भवति ।
 यत एवम्, तस्मात् सर्वासु दिक्षु दशस्वप्यग्न्याद्या वागाद्याश्च
 दशसंख्यासामान्यादन्नमेव, 'दशाक्षारा विराट्' 'विराडन्नम्'
 इति हि श्रुतिः । अतोऽन्नमेव, दशसंख्यत्वात् । तत एव दश
 कृतं कृतेऽन्तर्भावात् चतुरङ्कायत्वेनेत्यवोचाम् । सैषा विराट्
 दशसंख्या सती अन्नं च अन्नादी अन्नादिनी च कृतत्वेन ।
 कृते हि दशसंख्या अन्तर्भूता, अतोऽन्नमन्नादिनी च सा ।
 तथा विद्वान्दशदेवतात्मभूतः सन् विराट्त्वेन दशसंख्यया
 अन्नं कृतसंख्यया अन्नादी च । तया अन्नान्नादिन्या इदं सर्वं
 जगत् दशदिक्संस्थं दृष्टं कृतसंख्याभूतया उपलब्धम् । एवंविदः
 अस्य सर्वं कृतसंख्याभूतस्य दशदिक्संबद्धं दृष्टम् उपलब्धं
 भवति । किञ्च अन्नादश्च भवति, य एवं वेद यथोक्तदर्शी ।
 द्विरभ्यासः उपासनसमाप्त्यर्थः ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मात-
रमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विव-
त्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥ १ ॥

सर्वं वागाद्यग्न्यादि च अन्नान्नादत्वसंस्तुतं जगदेकीकृत्य
षोडशधा प्रविभज्य तस्मिन्ब्रह्मदृष्टिर्विधातव्येत्यारभ्यते ।
श्रद्धातपसोर्ब्रह्मोपासनाङ्गत्वप्रदर्शनाय आख्यायिका । सत्य-
कामो ह नामतः, ह-शब्द ऐतिह्यार्थः, जबालाया अपत्यं
जाबालः जबालां स्वां मातरम् आमन्त्रयांचक्रे आमन्त्रित-
वान् । ब्रह्मचर्यं स्वाध्यायग्रहणाय हे भवति विवत्स्यामि
आचार्यकुले, किंगोत्रोऽहं किमस्य मम गोत्रं सोऽहं किंगो-
त्रो नु अहमस्मीति ॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्वो-
त्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी
यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्वो-
तस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि स-

त्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव
जाबालो ब्रवीथा इति ॥ २ ॥

एवं पृष्ट्वा जबाला सा ह एनं पुत्रमुवाच—नाहमेतत् तव
गोत्रं वेद, हे तात यद्गोत्रस्त्वमसि । कस्मान्न वेत्सीत्युक्ता
आह— बहु भर्तृगृहे परिचर्याजातमतिथ्यभ्यागतादि चर-
न्ती अहं परिचारिणी परिचरन्तीति परिचरणशीलैवाहम्,
परिचरणचित्ततया गोत्रादिस्मरणे मम मनो नाभूत् । यौवने
च तत्काले त्वामलभे लब्धवत्यस्मि । तदैव ते पितोपरतः ;
अतोऽनाथा अहम्, साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला
तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि, स त्वं सत्यकाम
एवाहं जाबालोऽस्मीत्याचार्याय ब्रुवीथाः ; यद्याचार्येण पृष्ट
इत्याभिप्रायः ॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्र-
ह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगव-
न्तमिति ॥ ३ ॥

त५ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासी-
ति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रो-
ऽहमस्म्यपृच्छं मातर५ सा मा प्रत्यब्रवी-

ब्रह्महं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वा-
मलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि
जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम
त्वमसीति सोऽहं सत्यकामो जाबालो-
ऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥

स ह सत्यकामः हारिद्रुमतं हरिद्रुमतोऽपत्यं हारि-
द्रुमतं गौतमं गोत्रतः एत्य गत्वा उवाच— ब्रह्मचर्यं भग-
वति पूजावति त्वयि वत्स्यामि अतः उपेयाम् उपगच्छेयं
शिष्यतया भगवन्तम् इत्युक्तवन्तं तं ह उवाच गौतमः—किं-
गोत्रः नु सोम्य असीति, विज्ञातकुलगोत्रः शिष्य उपनेतव्यः ;
इति पृष्ठः प्रत्याह सत्यकामः । स ह उवाच— नाहमेतद्वेद
भो, यद्गोत्रोऽहमस्मि ; किं तु अपृच्छं पृष्ठवानस्मि मातरम् ;
सा मया पृष्टा मां प्रत्यब्रवीन्माता ; ब्रह्महं चरन्तीत्यादि
पूर्ववत् ; तस्या अहं वचः स्मरामि ; सोऽहं सत्यकामो जाबा-
लोऽस्मि भो इति ॥

तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुम-
र्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न
सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामब-

लानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः
 सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नु-
 वाच नासहस्रेणावर्तेयेति स ह वर्षगणं
 प्रोवास ता यदा सहस्रं संपेदुः ॥ ५ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

तं ह उवाच गौतमः—नैतद्वचः अब्राह्मणो विशेषेण
 वक्तुमर्हति आर्जवार्थसंयुक्तम् । ऋजवो हि ब्राह्मणा नेतरे
 स्वभावतः । यस्मान्न सत्यात् ब्राह्मणजातिधर्मात् अगाः
 नापेतवानसि, अतः ब्राह्मणं त्वामुपनेष्ये ; अंतः संस्कारार्थं
 होमाय समिधं सोम्य आहर, इत्युक्त्वा तमुपनीय कृशा-
 नामबलानां गयूथाभिराकृत्य अपकृष्य चतुःशता चत्वारिश-
 तानि गवाम् उवाच—इमाः गाः सोम्य अनुसंव्रज अनुगच्छ ।
 इत्युक्तः ता अरण्यं प्रत्यभिप्रस्थापयन्नुवाच— नासहस्रेण
 अपूर्णेन सहस्रेण नावर्तेय न प्रत्यागच्छेयम् । स एवमुक्त्वा
 गाः अरण्यं तृणोदकबहुलं द्वन्द्वरहितं प्रवेश्य स ह वर्षगणं
 दीर्घं प्रोवास प्रोषितवान् । ताः सम्यग्गावः रक्षिताः यदा
 यस्मिन्काले सहस्रं संपेदुः संपन्ना बभूवुः ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चमः खण्डः ॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकामः
इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः
सोम्य सहस्रं स्मः प्रापय न आचार्य-
कुलम् ॥ १ ॥

तमेतं श्रद्धातपोभ्यां सिद्धं वायुदेवता दिक्संबन्धिनी
तुष्टा सती ऋषभमनुप्रविश्य ऋषभभावमापन्ना अनुग्रहाय
अथ ह एनमृषभोऽभ्युवाद अभ्युक्तवान् सत्यकामः इति
संबोध्य । तम् असौ सत्यकामो भगव इति ह प्रतिशुश्राव
प्रतिवचनं ददौ । प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः, पूर्णा तव
प्रतिज्ञा, अतः प्रापय नः अस्मानाचार्यकुलम् ॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे
भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला
प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची
दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्म-
णः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

किञ्च अहं ब्रह्मणः परस्य ते तुभ्यं पादं ब्रवाणि कथ-
यानि । इत्युक्तः प्रत्युवाच—ब्रवीतु कथयतु मे मह्यं भग-

वान् । इत्युक्तः ऋषभः तस्मै सत्यकामाय ह उवाच—
 प्राची दिक्कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः । तथा प्रतीची
 दिक्कला दक्षिणा दिक्कला उदीची दिक्कला, एष वै सोम्य
 ब्रह्मणः पादः चतुष्कलः चतस्रः कला अवयवा यस्य
 सोऽयं चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम प्रकाशवा-
 नित्येव नाम अभिधानं यस्य । तथोत्तरेऽपि पादास्त्रयश्चतु-
 ष्कला ब्रह्मणः ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं
 ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवान-
 स्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोका-
 जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं
 ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

स यः कश्चित् एवं यथोक्तमेतं ब्रह्मणः चतुष्कलं पादं
 विद्वान् प्रकाशवानित्यनेन गुणेन विशिष्टम् उपास्ते, तस्येदं
 फलम्— प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रख्यातो भवतीत्यर्थः ;
 तथा अदृष्टं फलम्— प्रकाशवतः ह लोकान् देवादिसंबन्धिनः
 मृतः सन् जयति प्राप्नोति ; य एतमेवं विद्वान् चतुष्कलं
 पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते
गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि
सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उ-
परुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्मुपो-
पविवेश ॥

सोऽग्निः ते पादं वक्तेत्युपरराम ऋषभः । सः सत्य-
कामः ह श्वोभूते परेषुः नैत्यकं नित्यं कर्म कृत्वा गाः
अभिप्रस्थापयांचकार आचार्यकुलं प्रति । ताः शनैश्चरन्त्यः
आचार्यकुलाभिमुख्यः प्रस्थिताः यत्र यस्मिन्काले देशेऽभि
सायं निशायामभिसंबभूवुः एकत्राभिमुख्यः संभूताः, तत्रा-
ग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्मु-
खः उपविवेश ऋषभवचो ध्यायन् ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम३ इति भग-
व इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम३ इति संबोध्य । तम् असौ
सत्यकामो भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं ददौ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्र-

वीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी
 कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः क-
 लैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो-
 ऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति ।
 तस्मै ह उवाच, पृथिवी कला, अन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः
 कलेत्यात्मगोचरमेव दर्शनमग्निरब्रवीत् । एष वै सोम्य चतु-
 ष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं
 ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मि-
 ळ्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति
 य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो-
 ऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

स यः कश्चित् यथोक्तं पादमनन्तवत्त्वेन गुणेनोपास्ते,
 स तथैव तद्गुणो भवत्यस्मिँल्लोके, मृतश्च अनन्तवतो ह लो-
 कान् स जयति; य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥

इति षष्ठखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः ॥

ह५सस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते
गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि
सायं बभूवुस्तत्वाग्निमुपसमाधाय गा
उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्-
पोपविवेश ॥ १ ॥

त५ ह५स उपनिपत्याभ्युवाद सत्यका-
म३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

सोऽग्निः हंसः ते पादं वक्त्युक्त्वा उपरराम । हंस आ-
दित्यः, शौक्लयात्पतनसामान्याच्च । स ह श्वोभूते इत्यादि
समानम् ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवी-
तु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः
कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलै-

ष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो
ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं
ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योति-
ष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह
लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं
पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै
सोम्येति ज्योतिर्विषयमेव च दर्शनं प्रोवाच ; अतो हंसख्य
आदित्यत्वं प्रतीयते । विद्वत्फलम्—ज्योतिष्मान् दीप्तियु-
क्तोऽस्मिँल्लोके भवति । चन्द्रादित्यादीनां ज्योतिष्मत एव
च मृत्वा लोकान् जयति । समानमुत्तरम् ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा
अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं
बभूवुस्तत्राग्निसुपसमाधाय गा उपरुध्य
समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपवि-
वेश ॥ १ ॥

हंसोऽपि मद्गुष्टे पादं वक्त्युपरराम । मद्गुः उदकचरः
पक्षी, स च अप्संबन्धात्प्राणः । स ह श्वोभूते इत्यादि
पूर्ववत् ॥

तं मद्गुरूपनिपत्याभ्युवाद सत्यकामः
इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्र-
वीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः
कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष

वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयत-
नवान्नाम ॥ ३ ॥

स च मद्रुः प्राणः स्वविषयमेव च दर्शनमुवाच प्राणः
कलेत्याद्यायतनवानित्येवं नाम । आयतनं नाम मनः सर्व-
करणोपहृतानां भोगानां तद्यस्मिन्पादे विद्यत इत्यायतनवा-
न्नाम पादः ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं
ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवा-
नस्मिँलोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्ज-
यति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं
ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥

तं पादं तथैवोपास्ते यः स आयतनवान् आश्रयवान-
स्मिँलोके भवति । आयतनवत एव सावकाशाँल्लोकान्मृतो
जयति । य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः ॥

—*—

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद
सत्यकामः इति भगव इति ह प्रतिशु-
श्राव ॥ १ ॥

स एवं ब्रह्मविद्सन् प्राप ह प्राप्तावानाचार्यकुलम् ।
तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकामः इति ; भगव इति ह प्रति-
शुश्राव ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु
त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्र-
तिजज्ञे भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि । प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसितवद-
नश्च निश्चिन्तः कृतार्थो ब्रह्मविद्भवति । अत आह आचार्यो
ब्रह्मविदिव भासीति ; को न्विति वितर्कयन्नुवाच—कस्त्वाम-
नुशशासेति । स च आह सत्यकामः अन्ये मनुष्येभ्यः ।
देवता मामनुशिष्टवत्यः । कोऽन्यो भगवच्छिष्यं मां मनुष्यः
सन् अनुशासितुमुत्सहेत्यभिप्रायः । अतोऽन्ये मनुष्येभ्य

इति ह प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान् । भगवांस्त्वेव मे कामे ममे-
च्छायां ब्रूयात् किमन्यैरुक्तेन, नाहं तद्रणयामीत्यभिप्रायः ॥

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्या-
द्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति
तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीया-
येति वीयायेति ॥ ३ ॥

इति नवमः खण्डः ॥

किञ्च श्रुतं हि यस्मात् मम विद्यते एवास्मिन्नर्थे भगवद्दृ-
शेभ्यो भगवत्समेभ्यः ऋषिभ्यः । आचार्याद्वैव विद्या विदिता
साधिष्ठं साधुतमत्वं प्रापति प्राप्नोति ; अतो भगवानेव ब्रूया-
दित्युक्तः आचार्यः अब्रवीत् तस्मै तामेव दैवतैरुक्तां विद्याम् ।
अत्र ह न किञ्चन षोडशकलविद्यायाः किञ्चिदेकदेशमात्रमपि
न वीयाय न विगतमित्यर्थः । द्विरभ्यासो विद्यापरिसमा-
प्त्यर्थः ॥

इति नवमखण्डभाष्यम् ॥

दशमः खण्डः ॥

पुनर्ब्रह्मविद्यां प्रकारान्तरेण वक्ष्यामीत्यारभते गतिं च तद्विदोऽग्निविद्यां च । आख्यायिका पूर्ववच्छ्रद्धातपसोर्ब्रह्म-विद्यासाधनत्वप्रदर्शनार्था—

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्य-
कामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह
द्वादश वर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मा-
न्यानन्तेवासिनः समावर्तय५स्त५ ह स्मै-
व न समावर्तयति ॥ १ ॥

उपकोसलो ह वै नामतः कमलस्यापत्यं कामलायनः
सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास । तस्य, ह ऐतिह्यार्थः,
तस्य आचार्यस्य द्वादश वर्षाणि अग्नीन्परिचचार अग्नीनां
परिचरणं कृतवान् । स ह स्म आचार्यः अन्यान्रह्मचा-
रिणः स्वाध्यायं ग्राहयित्वा समावर्तयन् तमेवोपकोसलमेकं
न समावर्तयति स्म ह ॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशल-
मग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवो-
चन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवा-
सांचक्रे ॥ २ ॥

तम् आचार्यं जाया उवाच— तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं सम्यक् अग्नीन् परिचचारीत् परिचरितवान्; भगवांश्च अग्निषु भक्तं न समावर्तयति; अतः अस्मद्भक्तं न समावर्तयतीति ज्ञात्वा त्वाम् अग्नयः मा परिप्रवोचन् गह्रीं तव मा कुर्युः; अतः प्रब्रूहि अस्मै विश्यामिष्टाम् उपकोसलायेति । तस्मै एवं जायया उक्तोऽपि ह अप्रोच्यैव अनुक्त्वैव किञ्चित्प्रवासांचक्रे प्रवसितवान् ॥

स ह व्याधिना नशितुं दध्रे तमाचार्य-
जायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्रा-
सीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे
कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णा-
ऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

स ह उपकोसलः व्याधिना मानसेन दुःखेन अनशितुम् अनशनं कर्तुं दध्रे धृतवान्मनः । तं तूष्णीमग्न्यागारेऽवस्थितम् आचार्यजायोवाच—हे ब्रह्मचारिन् अशान भुङ्क्ष्व, किं नु कस्मान्नु कारणान्नाश्रासि? इति । स ह उवाच— बहवः अनेकेऽस्मिन्पुरुषेऽकृतार्थे प्राकृते कामाः इच्छाः कर्तव्यं प्रति नाना अत्ययः अतिगमनं येषां व्याधीनां कर्तव्यचिन्तानां ते नानात्ययाः व्याधयः कर्तव्यताप्राप्तिनिमित्तानि चित्तदुःखा-

नीत्यर्थः ; तैः प्रतिपूर्णेऽस्मि ; अतो नाशिष्यामीति ॥

अथ हाग्रयः समूदिरे तसो ब्रह्मचारी
कुशलं नः पर्यचारीद्वन्तास्मै प्रब्रवामेति
तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं
ब्रह्मेति ॥ ४ ॥

उक्त्वा तूष्णींभूते ब्रह्मचारिणि, अथ ह अग्रयः शुश्रूष-
यावर्जिताः कारुण्याविष्टाः सन्तः त्रयोऽपि समूदिरे संभू-
योक्तवन्तः— हन्त इदानीम् अस्मै ब्रह्मचारिणे अस्मद्भक्ताय
दुःखिताय तपस्विने श्रद्धधानाय सर्वेऽनुशास्मः अनुप्रब्रवाम
ब्रह्मविद्याम्, इति एवं संप्रधार्य, तस्मै ह ऊचुः उक्तवन्तः—
प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म
कं च तु खं च न विजानामीति ते होचु-
र्यद्वाच कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमि-
ति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

स ह उवाच ब्रह्मचारी— विजानाम्यहं यद्भवद्भिरुक्तं प्र-
सिद्धपदार्थकत्वात्प्राणो ब्रह्मेति, सः यस्मिन्सति जीवनं यदप-

गमे च न भवति, तस्मिन्वायुविशेषे लोके रूढः ; अतः युक्तं ब्रह्मत्वं तस्य ; तेन प्रसिद्धपदार्थकत्वाद्विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्मेति । कं च तु खं च न विजानामीति । ननु कंखंशब्दयोरपि सुखाकाशविषयत्वेन प्रसिद्धपदार्थकत्वमेव, कस्माद्ब्रह्मचारिणोऽज्ञानम् ? नूनम्, सुखस्य कंशब्दवाच्यस्य क्षणप्रध्वंसित्वात् खंशब्दवाच्यस्य च आकाशस्याचेतनस्य कथं ब्रह्मत्वमिति मन्यते ; कथं च भगवतां वाक्यमप्रमाणं स्यादिति ; अतो न विजानामीत्याह । तम एवमुक्तवन्तं ब्रह्मचारिणं ते ह अग्नय ऊचुः— यद्वाव यदेव वयं कम् अवोचाम, तदेव खम् आकाशम्, इत्येवं खेन विशेष्यमाणं कं विषयेन्द्रियसंयोगजात्सुखान्निवर्तितं स्यात्— नीलेनेव विशेष्यमाणमुत्पलं रक्तादिभ्यः । यदेव खम् इत्याकाशमवोचाम, तदेव च कं सुखमिति जानीहि । एवं च सुखेन विशेष्यमाणं खं भौतिकादचेतनात्खान्निवर्तितं स्यात्— नीलोत्पलवदेव । सुखमाकाशस्थं नेतरलौकिकम्, आकाशं च सुखाश्रयं नेतरद्वौतिकमित्यर्थः । नन्वाकाशं चेत् सुखेन विशेषयितुमिष्टम्, अस्त्वन्यतरदेव विशेषणम्—यद्वाव कं तदेव खम् इति, अतिरिक्तमितरत् ; यदेव खं तदेव कमिति पूर्वविशेषणं वा ; ननु सुखाकाशयोरुभयोरपि लौकिकसुखाकाशाभ्यां व्यावृत्तिरिष्टेत्य-

वोचाम । सुखेन आकाशे विशेषिते व्यावृत्तिरुभयोरर्थप्राप्तैवेति चेत्, सत्यमेवम् ; किंतु सुखेन विशेषितस्यैव आकाशस्य ध्येयत्वं विहितम् ; न त्वाकाशगुणस्य विशेषणस्य सुखस्य ध्येयत्वं विहितं स्यात्, विशेषणोपादानस्य विशेष्यनियन्तृत्वेनैवोपक्षयात् । अतः खेन सुखमपि विशेष्यते ध्येयत्वाय । कुतश्चैतन्निश्चीयते ? कंशब्दस्यापि ब्रह्मशब्दसंबन्धात् कं ब्रह्मेति । यदि हि सुखगुणविशिष्टस्य खस्य ध्येयत्वं विवक्षितं स्यात्, कं खं ब्रह्मेति ब्रूयुः अग्नयः प्रथमम् । न चैवमुक्तवन्तः । किं तर्हि ? कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति । अतः ब्रह्मचारिणो मोहापनयनाय कंखंशब्दयोरितरेतरविशेषणविशेष्यत्वनिर्देशो युक्त एव यद्वाव कमित्यादिः । तदेतदग्निभिरुक्तं वाक्यार्थमस्मद्वोधाया श्रुतिराह— प्राणं च ह अस्मै ब्रह्मचारिणे, तस्य आकाशः तदाकाशः, प्राणस्य संबन्धी आश्रयत्वेन हार्द आकाश इत्यर्थः, सुखगुणवत्त्वनिर्देशात् ; तं च आकाशं सुखगुणविशिष्टं ब्रह्म तत्स्थं च प्राणं ब्रह्मसंपर्कादेव ब्रह्मेत्युभयं प्राणं च आकाशं च समुच्चित्य ब्रह्मणी ऊचुः अग्नय इति ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥

एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्य-
ग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो
दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥

संभूयान्नयः ब्रह्मचारिणे ब्रह्म उक्तवन्तः । अथ अन-
न्तरं प्रत्येकं स्वस्वविषयां विद्यां वक्तुमारेभिरे । तत्र आदौ
एनं ब्रह्मचारिणं गार्हपत्यः अग्निः अनुशशास—पृथिव्यग्नि-
रन्नमादित्य इति ममैताश्चतस्रस्तनवः । तत्र य आदित्ये एष
पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि गार्हपत्योऽग्निः, यश्च गार्हपत्यो-
ऽग्निः स एवाहमादित्ये पुरुषोऽस्मि, इति पुनः परावृत्त्या स
एवाहमस्मीति वचनम् । पृथिव्यन्नयोरिव भोज्यत्वलक्षणयोः
संबन्धो न गार्हपत्यादित्ययोः । अतृत्वपक्वत्वप्रकाशनधर्मा
अविशिष्टा इत्यतः एकत्वमेवानयोरत्यन्तम् । पृथिव्यन्नयोस्तु
भोज्यत्वेन आभ्यां संबन्धः ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पाप-
कृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्यो-

ज्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप
वयं तं भुञ्जामोऽस्मि५श्च लोकेऽमुष्मि५श्च
य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति एकादशः खण्डः ॥

स यः कश्चित् एवं यथोक्तं गार्हपत्यमग्निम् अन्नान्ना-
दत्वेन चतुर्धा प्रविभक्तम् उपास्ते, सोऽपहते विनाशयति
पापकृत्यां पापं कर्म । लोकी लोकवांश्चास्मदीयेन लोकेना-
ग्नेयेन तद्वान्भवति यथा वयम् । इह च लोके सर्वं वर्षशतम्
आयुरेति प्राप्नोति । ज्योक् उज्ज्वलं जीवति नाप्रख्यात
इत्येतत् । न च अस्य अवराश्च ते पुरुषाश्च अस्य विदुषः
संततिजा इत्यर्थः, न क्षीयन्ते संतत्युच्छेदो न भवती-
त्यर्थः । किं च तं वयम् उपभुञ्जामः पालयामः अस्मिश्च
लोके जीवन्तम् अमुष्मिश्च परलोके । य एतमेवं विद्वानु-
पास्ते, यथोक्तं तस्य तत्फलमित्यर्थः ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वादशः खण्डः ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासा-
पो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य
एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि
स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पाप-
कृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्यो-
ग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप
वयं तं भुञ्जामोऽस्मि५श्च लोकेऽमुष्मि५श्च
य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

अथ ह एनम् अन्वाहार्यपचनः अनुशशास दक्षिणाग्निः—
आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इत्येता मम चतस्रस्तनवः
चतुर्धा अहमन्वाहार्यपचने आत्मानं प्रविभज्यावस्थितः ।
तत्र य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि, स एवा-
हमस्मीति पूर्ववत् । अन्नसंबन्धाज्ज्योतिष्ट्वसामान्याच्च अन्वा-
हार्यपचनचन्द्रमसोरेकत्वं दक्षिणदिक्संबन्धाच्च । अपां नक्ष-
त्राणां च पूर्ववदन्नत्वेनैव संबन्धः, नक्षत्राणां चन्द्रमसो भो-
ग्यत्वप्रसिद्धेः । अपामन्नोत्पादकत्वादन्नत्वं दक्षिणाग्नेः—पृथि-
वीवद्गार्हपत्यस्य । समानमन्यत् ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण
आकाशो द्यौर्विद्युदिति य एष विद्यु-
ति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवा-
हमस्मीति ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पाप-
कृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्यो-
ग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप-
वयं तं भुञ्जामोऽस्मिञ्च लोकेऽमुष्मिञ्-
श्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ ह एनमाहवनीयोऽनुशशास—प्राण आकाशो द्यौर्वि-
द्युदिति ममाप्येताश्चतस्रस्तनवः । य एष विद्युति पुरुषो दृ-
श्यते, सोऽहमस्मीत्यादि पूर्ववत् सामान्यात् । द्यूवाकाश-
योः स्वाश्रयत्वात् विद्युदाहवनीययोः भोग्यत्वेनैव संबन्धः ।
समानमन्यत् ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

ते होचुरूपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल३ इति ॥ १ ॥

ते पुनः संभूयोचुः ह—उपकोसल एषा सोम्य ते तव अस्मद्विद्या अग्निविद्येत्यर्थः ; आत्मविद्या पूर्वोक्ता प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति च ; आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता विद्याफलप्राप्तये इत्युक्त्वा उपरेमुरग्रयः । आजगाम ह अस्य आचार्यः कालेन । तं च शिष्यम् आचार्यो अभ्युवाद उपकोसल३ इति ॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्भो इतीहापेव निहुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल ते ऽवोचन्निति ॥ २ ॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव । ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं प्रसन्नं भाति को नु त्वा अनुशशास इत्युक्तः प्रत्याह— को नु मा अनुशिष्यात् अनुशासनं कुर्यात् भो भगवन् त्वयि प्रोषिते, इति इह अप इव निह्रुते अपनिह्रुत इवेति व्यवहितेन संबन्धः, न च अपनिह्रुते, न च यथावदग्निभिरुक्तं ब्रवीतीत्यभिप्रायः । कथम् ? इमे अग्नयः मया परिचरिताः उक्तवन्तः नूनम्, यतस्त्वां दृष्ट्वा वेपमाना इव ईदृशा दृश्यन्ते पूर्वमन्यादृशाः सन्तः, इति इह अग्नीन् अभ्यूदे अभ्युक्तवान् काका अग्नीन्दर्शयन् । किं नु सोम्य किल ते तुभ्यम् अवोचन् अग्नयः ? इति, पृष्टः इत्येवम् इदमुक्तवन्तः इत्येवं ह प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान् प्रतीकमात्रं किञ्चित्, न सर्वं यथोक्तमग्निभिरुक्तमवोचत् । यत आह आचार्यः— लोकान्वाव पृथिव्यादीन् हे सोम्य किल ते अवोचन्, न ब्रह्म साकल्येन । अहं तु ते तुभ्यं तद्ब्रह्म यदिच्छसि त्वं श्रोतुं वक्ष्यामि, शृणु तस्य मयोच्यमानस्य ब्रह्मणो ज्ञानमाहात्म्यम्—यथा पुष्करपलाशौ पद्मपत्रे आपो न श्लिष्यन्ते, एवं यथा वक्ष्यामि ब्रह्म, एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते न संबध्यते इति । एवमुक्तवति आचार्ये आह उपकोसलः— ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै ह उवाच आचार्यः ॥

इति चतुर्दशखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चदशः खण्डः ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष
आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति
तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति व-
र्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषः दृश्यते निवृत्तचक्षुर्भिर्ब्रह्मचर्यादि-
साधनसंपन्नैः शान्तैर्विवेकिभिः दृष्टेर्दृष्टा, 'चक्षुषश्चक्षुः' इत्या-
दिश्रुत्यन्तरात्; ननु अग्निभिरुक्तं वितथम्, यतः आचार्य-
स्तु ते गतिं वक्ता इति गतिमात्रस्य वक्तेत्यवोचन्, भवि-
ष्यद्विषयापरिज्ञानं च अग्नीनाम्; नैष दोषः, सुखाकाशस्यैव
अक्षिणि दृश्यत इति द्रष्टुरनुवादात् । एष आत्मा प्राणि-
नामिति ह उवाच एवमुक्तवान्; एतत् यदेव आत्मतत्त्वम-
वोचाम, एतदमृतम् अमरणधर्मि अविनाशि अत एवाभ-
यम्, यस्य हि विनाशाशङ्का तस्य भयोपपत्तिः तदभावादभ-
यम्, अत एव एतद्ब्रह्म बृहदनन्तमिति । किञ्च, अस्य ब्रह्म-
णोऽक्षिपुरुषस्य माहात्म्यम्—तत् तत्र पुरुषस्य स्थाने अक्षिणि

यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति, वर्त्मनी एव गच्छति
पक्ष्मावेव गच्छति; न चक्षुषा संबध्यते—पद्मपत्रेणैवोदकम् ।
स्थानस्याप्येतन्माहात्म्यम्, किं पुनः स्थानिनोऽक्षिपुरुषस्य
निरञ्जनत्वं वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥

एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हि
सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं
वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

एतं यथोक्तं पुरुषं संयद्वाम इत्याचक्षते । कस्मात् ? यस्मा-
देतं सर्वाणि वामानि वननीयानि संभजनीयानि शोभनानि
अभिसंयन्ति अभिसंगच्छन्तीत्यतः संयद्वामः । तथा एवंविद-
मेनं सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि
वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति
य एवं वेद ॥ ३ ॥

एष उ एव वामनीः, यस्मादेष हि सर्वाणि वामानि
पुण्यकर्मफलानि पुण्यानुरूपं प्राणिभ्यो नयति प्रापयति
बहति च आत्मधर्मत्वेन । विदुषः फलम्—सर्वाणि वामानि
नयति य एवं वेद ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लो-
केषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं
वेद ॥ ४ ॥

एष उ एव भामनीः, एष हि यस्मात् सर्वेषु लोकेषु आ-
दित्यचन्द्राग्न्यादिरूपैः भाति दीप्यते, 'तस्य भासा सर्वमिदं
विभाति' इति श्रुतेः । अतो भामानि नयतीति भामनीः ।
य एवं वेद, असावपि सर्वेषु लोकेषु भाति ॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छन्यं कुर्वन्ति यदि
च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह
आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुद-
ङ्गेति मासाःस्तान्मासेभ्यः संवत्सरः
संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्र-
मसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एना-
न्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन
प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त-
न्ते नावर्तन्ते ॥ ५ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

अथेदानीं यथोक्तब्रह्मविदः गतिरुच्यते । यत् यदि उ च
 एव अस्मिन् एवंविदि शव्यं शवकर्म मृते कुर्वन्ति, यदि च
 न कुर्वन्ति ऋत्विजः, सर्वथाप्येवंवित् तेन शवकर्मणा अकृते-
 नापि प्रतिबद्धो न ब्रह्म न प्राप्नोति ; न च कृतेन शवकर्मणा
 अस्य कश्चनाभ्यधिको लोकः, 'न कर्मणा वर्धते नो कनी-
 यान्' इति श्रुत्यन्तरात् । शवकर्मण्यनादरं दर्शयन् विद्यां
 स्तौति, न पुनः शवकर्म एवंविदः न कर्तव्यमिति ।
 अक्रियमाणे हि शवकर्मणि कर्मणां फलारम्भे प्रतिबन्धः क-
 श्चिदनुमीयतेऽन्यत्र । यत इह विद्याफलारम्भकाले शवकर्म
 स्याद्वा न वेति विद्यावतः अप्रतिबन्धेन फलारम्भं दर्शयति ।
 ये सुखाकाशमक्षिस्थं संयद्वागमो वामनीर्भामनीरित्येवंगुणमु-
 पासते प्राणसहितामग्निविद्यां च, तेषामन्यत्कर्म भवतु मा
 वा भूत् सर्वथा अपि ते अर्चिषमेवाभिसंभवन्ति अ-
 र्चिरभिमानिनीं देवतामभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।
 अर्चिषः अर्चिर्देवताया अहः अहरभिमानिनीं देवताम्, अहः
 आपूर्यमाणपक्षं शुक्लपक्षदेवताम्, आपूर्यमाणपक्षात् यान्षण्मा-
 सान् उदङ् उत्तरां दिशम् एति सविता तान्मासान् उत्तरायण-
 देवताम्, तेभ्यो मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरदेवताम्, ततः सं-
 वत्सरादादित्यम्, आदित्याञ्चन्द्रमसम्, चन्द्रमसो विद्युतम् ।

तत् तत्रस्थान् तान् पुरुषः कश्चिद्ब्रह्मलोकादेत्य अमानवः
मानव्यां सृष्टौ भवः मानवः न मानवः अमानवः स पुरुषः
एनान्ब्रह्म सत्यलोकस्थं गमयति गन्तृगन्तव्यगमयितृत्वव्य-
पदेशेभ्यः, सन्मात्रब्रह्मप्राप्तौ तदनुपपत्तेः । ‘ब्रह्मैव सन्ब्र-
ह्माप्येति’ इति हि तत्र वक्तुं न्याय्यम् । सर्वभेदनिरासेन
सन्मात्रप्रतिपत्तिं वक्ष्यति । न च अदृष्टो मार्गोऽगमनायो-
पतिष्ठते, ‘स एनमविदितो न भुनक्ति’ इति श्रुत्यन्त-
रात् । एष देवपथः देवैरर्चिरादिभिर्गमयितृत्वेनाधिकृतैरुपल-
क्षितः पन्था देवपथ उच्यते । ब्रह्म गन्तव्यं तेन च उप-
लक्षित इति ब्रह्मपथः । एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्म
इमं मानवं मनुसंबन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्तं नावर्तन्ते
आवर्तन्तेऽस्मिञ्जननमरणप्रबन्धचक्रारूढा घटीयन्त्रवत्पुनः
पुनरित्यावर्तः तं न प्रतिपद्यन्ते । नावर्तन्ते इति द्विरुक्तिः
सफलाया विद्यायाः परिसमाप्तिप्रदर्शनार्था ॥

इति पञ्चदशखण्डभाष्यम् ॥

षोडशः खण्डः ॥

रहस्यप्रकरणे प्रसङ्गात् आरण्यकत्वसामान्याच्च यज्ञे क्षत उत्पन्ने व्याहृतयः प्रायश्चित्तार्था विधातव्याः, तदभिज्ञस्य च ऋत्विजो ब्रह्मणो मौनमित्यत इदमारभ्यते—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥ १ ॥

एष वै एष वायुः योऽयं पवते अयं यज्ञः । ह वै इति प्रसिद्धार्थावद्योतकौ निपातौ । वायुप्रतिष्ठो हि यज्ञः प्रसिद्धः श्रुतिषु, 'स्वाहा वातेधाः' 'अयं वै यज्ञो योऽयं पवते' इत्यादिश्रुतिभ्यः । वात एव हि चलनात्मकत्वात्क्रियासमवायी, 'वात एव यज्ञस्यारम्भको वातः प्रतिष्ठा' इति च श्रवणात् । एष ह यन् गच्छन् चलन् इदं सर्वं जगत् पुनाति पावयति शोधयति । न हि अचलतः शुद्धिरस्ति । दोषनिरसनं चलतो हि दृष्टं न स्थिरस्य । यत् यस्माच्च यन् एष इदं सर्वं पुनाति, तस्मादेष एव यज्ञः यत्पुनातीति । तस्यास्यैवं विशिष्टस्य यज्ञस्य वाक्च मन्त्रोच्चारणे व्यापृता, मनश्च यथाभूतार्थज्ञाने व्यापृतम्, ते एते वाङ्मनसे वर्तनी मार्गौ, याभ्यां यज्ञस्तायमानः प्रवर्तते ते वर्तनी ; 'प्राणापानपरिचलनवत्या हि वाचश्चित्तस्य चोत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः' इति हि श्रुत्यन्तरम् । अतो वाङ्मनसाभ्यां

यज्ञो वर्तत इति वाङ्मनसे वर्तनी उच्येते यज्ञस्य ॥

तयोरन्यतरां मनसा स॑स्करोति
ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतरा॑ स
यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानी-
याया ब्रह्मा व्यवदति ॥ २ ॥

अन्यतरामेव वर्तनी॑ स॑स्करोति
हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद्वृजन् रथो वैके-
न चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो
रिष्यति यज्ञ॑ रिष्यन्तं यजमानोऽनुरि-
ष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥ ३ ॥

तयोः वर्तन्योः अन्यतरां वर्तनीं मनसा विवेकज्ञानवता सं-
स्करोति ब्रह्मा ऋत्विक्, वाचा वर्तन्या होताध्वर्युरुद्गाता इत्येते
त्रयोऽपि ऋत्विजः अन्यतरां वाग्लक्षणां वर्तनीं वाचैव संस्कुर्व-
न्ति । तत्रैवं सति वाङ्मनसे वर्तनी संस्कार्ये यज्ञे । अथ स ब्रह्मा
यत्र यस्मिन्काले उपाकृते प्रारब्धे प्रातरनुवाके शस्त्रे, पुरा पूर्वं प-
रिधानीयाया ऋचः ब्रह्मा एतस्मिन्नन्तरे काले व्यवदति मौनं प-
रित्यजति यदि, तदा अन्यतरामेव वाग्वर्तनीं संस्करोति । ब्रह्मणा
संस्क्रियमाणा मनोवर्तनी हीयते विनश्यति छिद्नीभवति अन्यत-
रा; स यज्ञः वाग्वर्तन्यैव अन्यतरया वर्तितुमशक्नुवन् रिष्यति ।

कथमिवेति, आह—स यथैकपात् पुरुषः ब्रजन् गच्छन्नध्वानं
 रिष्यति, रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो गच्छन् रिष्यति, एवमस्य य-
 जमानस्य कुब्रह्मणा यज्ञो रिष्यति विनश्यति । यज्ञं रिष्यन्तं यज-
 मानोऽनुरिष्यति । यज्ञप्राणो हि यजमानः । अतो युक्तो यज्ञरेषे
 रेषस्तस्य । सः तं यज्ञमिष्ट्वा तादृशं पापीयान् पापतरो भवति ॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा
 परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव व-
 र्तनी संस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥४॥

स यथोभयपाद्व्रजत्रथो वोभाभ्यां च-
 क्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः
 प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानो-
 ऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥

अथ पुनः यत्र ब्रह्मा विद्वान् मौनं परिगृह्य वाग्विसर्गमकु-
 र्वन् वर्तते यावत्परिधानीयाया न व्यवदति, तथैव सर्वर्त्विजः,
 उभे एव वर्तनी संस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरापि । किमिवेत्याह—
 पूर्वोक्तविपरीतौ दृष्टान्तौ । एवमस्य यजमानस्य यज्ञः स्ववर्तनी-
 भ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठति स्वेन आत्मनाविनश्यन्वर्तत इत्यर्थः ।
 यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति । सः यजमानः एवं मौ-
 नविज्ञानवद्ब्रह्मोपेतं यज्ञमिष्ट्वा श्रेयान्भवति श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥

इति षोडशखण्डभाष्यम् ॥

सप्तदशः खण्डः ॥

अत्र ब्रह्मणो मौनं विहितम्, तद्रेषे ब्रह्मत्वकर्मणि च अ-
थान्यस्मिंश्च हौत्रादिकर्मरेषे व्याहृतिहोमः प्रायश्चित्तमिति
तदर्थं व्याहृतयो विधातव्या इत्याह—

प्रजापतिलोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमा-
नानां रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुम-
न्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

प्रजापतिः लोकानभ्यतपत् लोकानुद्दिश्य तत्र सारजि-
घृक्षया ध्यानलक्षणं तपश्चचार । तेषां तप्यमानानां लोकानां
रसान् साररूपान्प्रावृहत् उद्धृतवान् जग्राहेत्यर्थः । कान् ?
अग्निं रसं पृथिव्याः, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां
तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वा-
योर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

पुनरप्येवमेवाग्न्याद्याः स एतास्तिस्रो देवता उद्दिश्य
अभ्यतपत् । ततोऽपि सारं रसं त्रयीविद्यां जग्राह ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्त-

प्यमानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुव-
रिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

तद्यदृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये
जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चा वीर्येणर्चा य-
ज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ॥ ४ ॥

स एतां पुनरभ्यतपत् त्रयीं विद्याम् । तस्यास्तप्यमा-
नाया रसं भूरिति व्याहृतिम् ऋग्भ्यो जग्राह; भुवरिति
व्याहृतिं यजुर्भ्यः; स्वरिति व्याहृतिं सामभ्यः । अत एव
लोकदेववेदरसा महाव्याहृतयः । अतः तत् तत्र यज्ञे यदि
ऋक्तः ऋक्संबन्धादृङ्निमित्तं रिष्येत् यज्ञः क्षतं प्राप्नुयात्,
भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः ।
कथम्? ऋचामेव, तदिति क्रियाविशेषणम्, रसेन ऋचां
वीर्येण ओजसा ऋचां यज्ञस्य ऋक्संबन्धिनो यज्ञस्य विरिष्टं
विच्छिन्नं क्षतरूपमुत्पन्नं संदधाति प्रतिसंधत्ते ॥

स यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति
दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन य-
जुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टं सं-
दधाति ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहे-
त्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन
साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टं
संदधाति ॥ १ ॥

अथ यदि यजुष्टो यजुर्निमित्तं रिष्येत्, भुवः स्वाहेति
दक्षिणाग्नौ जुहुयात् । तथा सामनिमित्ते रेषे स्वः स्वाहे-
त्याहवनीये जुहुयात् । तथा पूर्ववद्यज्ञं संदधाति । ब्रह्मनि-
मित्ते तु रेषे त्रिष्वग्निषु तिसृभिव्याहृतिभिर्जुहुयात् । त्रय्या
हि विद्यायाः स रेषः, 'अथ केन ब्रह्मत्वमित्यनयैव त्रय्या
विद्यया' इति श्रुतेः । न्यायान्तरं वा मृग्यं ब्रह्मत्वनिमित्ते
रेषे ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्सु-
वर्णेन रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं
सीसेन लौहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानाम-
स्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरि-
ष्टं संदधाति भेषजकृतो ह वा एष
यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात् । क्षारेण टङ्कणादिना
 खरे मृदुत्वकरं हि तत् । सुवर्णेन रजतमशक्यसंधानं संद-
 ध्यात् । रजतेन तथा त्रपु, त्रपुणा सीसम्, सीसेन लोहम्, लो-
 हेन दारु, दारु चर्मणा चर्मबन्धनेन । एवमेषां लोकानामासां
 देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण रसाख्येनौजसा यज्ञस्य
 विरिष्टं संदधाति । भेषजकृतो ह वा एष यज्ञः— रोगार्त
 इव पुमांश्चिकित्सकेन सुशिक्षितेन एष यज्ञो भवति । कोऽसौ ?
 यत्र यस्मिन्यज्ञे एवंवित् यथोक्तव्याहृतिहोमप्रायश्चित्तवित्
 ब्रह्मा ऋत्विग्भवति स यज्ञ इत्यर्थः ॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंवि-
 द्ब्रह्मा भवत्येवंविद ५ ह वा एषा ब्रह्माण-
 मनुगाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥

किं च, एष ह वा उदक्प्रवण उदङ्निम्नो दक्षिणोच्छ्रायो
 यज्ञो भवति ; उत्तरमार्गप्रतिपत्तिहेतुरित्यर्थः । यत्रैवंविद्ब्रह्मा
 भवति । एवंविदं ह वै ब्रह्माणम् ऋत्विजं प्रति एषा अनु-
 गाथा ब्रह्मणः स्तुतिपरा—यतो यत आवर्तते कर्म प्रदेशात्
 ऋत्विजां यज्ञः क्षतीभवन्, तत्तद्यज्ञस्य क्षतरूपं प्रतिसंदधत्
 प्रायश्चित्तेन गच्छति परिपालयतीत्येतत् ॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरुनश्वाभिर-

क्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वा-
 ऽश्रत्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव
 ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

मानवो ब्रह्मा मौनाचरणान्मननाद्वा ज्ञानवत्त्वात्; ततो
 ब्रह्मैवैकः ऋत्विक् कुरुन् कर्तृन्— योद्धुनारूढानश्वा बडबा
 यथा अभिरक्षति, एवंवित् ह वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाश्च
 ऋत्विजोऽभिरक्षति, तत्कृतदोषापनयनात् । यत एवं विशि-
 ष्टो ब्रह्मा विद्वान्, तस्मादेवंविदमेव यथोक्तव्याहृत्यादिविदं
 ब्रह्माणं कुर्वीत, नानेवंविदं कदाचनेति । द्विरभ्यासोऽध्याय-
 परिसमाप्त्यर्थः ॥

इति सप्तदशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभग-
 वत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
 छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्

पञ्चमोऽध्यायः

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

—*—



गुणब्रह्मविद्याया उत्तरा गतिरुक्ता । अथे-
दानीं पञ्चमेऽध्याये पञ्चाग्निविदो गृहस्थस्य
ऊर्ध्वरेतसां च श्रद्धालूनां विद्यान्तरशीलिनां
तामेव गतिमनूद्य अन्या दक्षिणादिकसंबन्धिनी
केवलकर्मिणां धूमादिलक्षणा, पुनरावृत्तिरूपा तृ-
तीया च ततः कष्टतरा संसारगतिः, वैराग्यहेतोः वक्तव्येत्या-
रभ्यते । प्राणः श्रेष्ठो वागादिभ्यः प्राणो वाव संवर्ग इत्या-
दि च बहुशोऽतीते ग्रन्थे प्राणग्रहणं कृतम्, स कथं श्रेष्ठो
वागादिषु सर्वैः संहत्यकारित्वाविशेषे, कथं च तस्योपासन-
मिति तस्य श्रेष्ठत्वादिगुणविधित्सया इदमनन्तरमारभ्यते—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च
ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च
श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

यो ह वै कश्चित् ज्येष्ठं च प्रथमं वयसा श्रेष्ठं च गुणैर-
भ्यधिकं वेद, स ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति । फलेन

पुरुषं प्रलोभ्याभिमुखीकृत्य आह—प्राणो वाव ज्येष्ठश्च वयसा वागादिभ्यः; गर्भस्थे हि पुरुषे प्राणस्य वृत्तिर्वागादिभ्यः पूर्वं लब्धात्मिका भवति, यया गर्भो विवर्धते । चक्षुरादिस्थानावयवनिष्पत्तौ सत्यां पश्चाद्वागादीनां वृत्तिलाभ इति प्राणो ज्येष्ठो वयसा भवति । श्रेष्ठत्वं तु प्रतिपादयिष्यति— ‘सुहृय’ इत्यादिनिदर्शनेन । अतः प्राण एव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च अस्मिन्कार्यकरणसंघाते ॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां

भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वसितृतममाच्छादयितृतमं वसुमत्तमं वा यो वेद, स तथैव वसिष्ठो ह भवति स्वानां ज्ञातीनाम् । कस्तर्हि वसिष्ठ इति, आह— वाग्वाव वसिष्ठः, वाग्मिनो हि पुरुषा वसन्ति अभिभवन्त्यन्यान् वसुमत्तमाश्च, अतो वाग्वसिष्ठः ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद, स अस्मिँल्लोके अमुष्मिश्च परे प्रतितिष्ठति ह । का तर्हि प्रतिष्ठेति, आह— चक्षुर्वाव

प्रतिष्ठा । चक्षुषा हि पश्यन् समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति
यस्मात्, अतः प्रतिष्ठा चक्षुः ॥

यो ह वै संपदं वेद स५हास्मै कामाः

पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥

यो ह वै संपदं वेद, तस्मा अस्मै दैवाश्च मानुषाश्च
कामाः संपद्यन्ते ह । का तर्हि संपदिति, आह— श्रोत्रं
वाव संपत् । यस्माच्छ्रोत्रेण वेदा गृह्यन्ते तदर्थविज्ञानं च,
ततः कर्माणि क्रियन्ते ततः कामसंपदित्येवम्, कामसंपद्धेतु-
त्वाच्छ्रोत्रं वाव संपत् ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतन५ ह

स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥

यो ह वा आयतनं वेद, आयतनं ह स्वानां भवतीत्यर्थः ।
किं तदायतनमिति, आह— मनो ह वा आयतनम् ।
इन्द्रियोपहृतानां विषयाणां भोक्त्रर्थानां प्रत्ययरूपाणां मन
आयतनमाश्रयः । अतो मनो ह वा आयतनमित्युक्तम् ॥

अथ ह प्राणा अह५श्रेयसि व्यूदिरे-

ऽह५श्रेयानस्म्यह५श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

अथ ह प्राणाः एवं यथोक्तगुणाः सन्तः अहंश्रेयसि

अहं श्रेयानस्मि अहं श्रेयानस्मि इत्येतस्मिन्प्रयोजने व्यूदिरे
नाना विरुद्धं चोदिरै उक्तवन्तः ॥

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचु-
र्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच य-
स्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव
दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

ते ह ते हैवं विवदमाना आत्मनः श्रेष्ठत्वविज्ञानाय
प्रजापतिं पितरं जनयितारं कंचिदेत्य ऊचुः उक्तवन्तः—
हे भगवन् कः नः अस्माकं मध्ये श्रेष्ठः अभ्यधिकः गुणैः ?
इत्येवं पृष्ठवन्तः । तान् पितोवाच ह—यस्मिन् वः युष्माकं
मध्ये उत्क्रान्ते शरीरमिदं पापिष्ठमिवातिशयेन जीवतोऽपि
समुत्क्रान्तप्राणं ततोऽपि पापिष्ठतरमिवातिशयेन दृश्येत
कुणपमस्पृश्यमशुचि दृश्येत, सः वः युष्माकं श्रेष्ठ इत्यवो-
चत् काका तद्दुःखं परिजिहीर्षुः ॥

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य
पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमि-
ति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन
पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्या-

यन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

तथोक्तेषु पित्रा प्राणेषु सा ह वाक् उत्क्राम उत्क्रान्त-

वती; सा च उत्क्रम्य संवत्सरमात्रं प्रोष्य स्वव्यापारान्नि-
वृत्ता सती पुनः पर्येत्य इतरान्प्राणानुवाच— कथं केन
प्रकारेणाशक्त शक्तवन्तो यूयं महते मां विना जीवितुं
धारयितुमात्मानमिति ; ते ह ऊचुः— यथा कला इत्यादि,
कलाः मूकाः यथा लोकेऽवदन्तो वाचा जीवन्ति । कथम् ?
प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्या-
यन्तो मनसा, एवं सर्वकरणचेष्टां कुर्वन्त इत्यर्थः । एवं वय-
मजीविष्मेत्यर्थः । आत्मनोऽश्रेष्ठतां प्राणेषु बुद्ध्वा प्रविवेश
ह वाक् पुनः स्वव्यापारे प्रवृत्ता बभूवेत्यर्थः । समानमन्यत्
चक्षुर्होच्चक्राम श्रोत्रं होच्चक्राम मनो होच्चक्रामेत्यादि । यथा
बाला अमनसः अपरूढमनस इत्यर्थः ॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सु-
हयः पङ्कशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणा-
न्समखिदत्तः ५ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि
त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥ १२ ॥

एवं परीक्षितेषु वागादिषु, अथ अनन्तरं ह स मुख्यः
प्राणः उच्चिक्रमिषन् उत्क्रमितुमिच्छन् किमकरोदिति, उ-
च्यते—यथा लोके सुहयः शोभनोऽश्वः पङ्कशशङ्कून् पाद-
बन्धनकीलान् परीक्षणाय आरूढेन कशया हतः सन् सं-

खिदेत् समुत्खनेत् समुत्पाटयेत्, एवमितरान्वागादीन्प्राणान्
समखिदत् समुद्धृतवान् । ते प्राणाः संचालिताः सन्तः
स्वस्थाने स्थातुमनुत्सहमानाः अभिसमेत्य मुख्यं प्राणं त-
मूचुः—हे भगवन् एधि भव नः स्वामी, यस्मात् त्वं नः
श्रेष्ठोऽसि ; मा च अस्माद्देहादुत्कमीरिति ॥

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि
त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच य-
दहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ॥

अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं संप-
दस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच
यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥

अथ हैनं वागादयः प्राणस्य श्रेष्ठत्वं कार्येण आपादयन्तः
आहुः—बलिमिव हरन्तो राज्ञे विशः । कथम् ? वाक् तावदु-
वाच—यदहं वसिष्ठोऽस्मि, यदिति क्रियाविशेषणम्, यद्वसिष्ठ-
त्वगुणास्मीत्यर्थः ; त्वं तद्वसिष्ठः तेन वसिष्ठत्वगुणेन त्वं तद्व-
सिष्ठोऽसि तद्गुणस्त्वमित्यर्थः । अथवा तच्छब्दोऽपि क्रियावि-
शेषणमेव । त्वत्कृतस्त्वदीयोऽसौ वसिष्ठत्वगुणोऽज्ञानान्ममेति
मया अभिमत इत्येतत् । तथोत्तरेषु योज्यं चक्षुःश्रोत्रमनःसु ॥

न वै वाचो न चक्षूषि न श्रोत्राणि

न मनाऽसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाच-
क्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥

श्रुतेरिदं वचः— युक्तमिदं वागादिभिर्मुख्यं प्राणं प्रत्यभिहि-
तम्; यस्मान्न वै लोके वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनां-
सीति वागादीनि करणान्याचक्षते लौकिका आगमज्ञा वा; किं
तर्हि, प्राणा इत्येव आचक्षते कथयन्ति; यस्मात्प्राणो ह्येवैतानि
सर्वाणि वागादीनि करणजातानि भवति; अतो मुख्यं प्राणं
प्रत्यनुरूपमेव वागादिभिर्मुक्तमिति प्रकरणार्थमुपसंजिहीर्षति ॥

ननु कथमिदं युक्तं चेतनावन्त इव पुरुषा अहंश्रेष्ठतायै वि-
वदन्तः अन्योन्यं स्पर्धेरन्निति; न हि चक्षुरादीनां वाचं प्रत्या-
ख्याय प्रत्येकं वदनं संभवति; तथा अपगमो देहात् पुनः प्रवे-
शो ब्रह्मगमनं प्राणस्तुतिर्वोपपद्यते । तत्र अग्न्यादिचेतनावदे-
वताधिष्ठितत्वात् वागादीनां चेतनावत्त्वं तावत् सिद्धमागमतः ।
तार्किकसमयविरोध इति चेत् देहे एकस्मिन्ननेकचेतनावत्त्वे, न,
ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वाभ्युपगमात् । ये तावदीश्वरमभ्युपग-
च्छन्ति तार्किकाः, ते मनआदिकार्यकरणानामाध्यात्मिकानां
बाह्यानां च पृथिव्यादीनामीश्वराधिष्ठितानामेव नियमेन प्रवृ-
त्तिमिच्छन्ति— रथादिवत् । न च अस्माभिः अग्न्याद्याश्चेतना-
वत्योऽपि देवता अध्यात्मं भोक्तव्यः अभ्युपगम्यन्ते; किं तर्हि,

कार्यकरणवतीनां हि तासां प्राणैकदेवताभेदानामध्यात्माधिभू-
 ताधिदैवभेदकोटिविकल्पानामध्यक्षतामात्रेण नियन्ता ईश्वरो-
 ऽभ्युपगम्यते । स ह्यकरणः, 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्य-
 त्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादिमन्त्रवर्णात्; 'हिरण्यगर्भं
 पश्यत जायमानम्' 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इत्यादि
 च श्वेताश्वतरीयाः पठन्ति । भोक्ता कर्मफलसंबन्धी देहे तद्वि-
 लक्षणो जीव इति वक्ष्यामः । वागादीनां च इह संवादः कल्पि-
 तः विदुषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रेष्ठतानिर्धारणार्थम्—
 यथा लोके पुरुषा अन्योन्यमात्मनः श्रेष्ठतायै विवदमानाः कं-
 चिद्गुणविशेषाभिज्ञं पृच्छन्ति को नः श्रेष्ठो गुणैरिति; तेनोक्ता
 ऐकैकश्येन अदः कार्यं साधयितुमुद्यच्छत, येनादः कार्यं सा-
 ध्यते, स वः श्रेष्ठः—इत्युक्ताः तथैवोद्यच्छन्तः आत्मनोऽन्यस्य
 वा श्रेष्ठतां निर्धारयन्ति—तथेमं संव्यवहारं वागादिषु कल्पि-
 तवती श्रुतिः— कथं नाम विद्वान् वागादीनामेकैकस्याभावे-
 ऽपि जीवनं दृष्टं न तु प्राणस्येति प्राणश्रेष्ठतां प्रतिपद्येतेति ।
 तथा च श्रुतिः कौषीतकिनाम्— 'जीवति वागपेतो मूकान्हि
 पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान्हि पश्यामो जीवति श्रोत्रा-
 पेतो बधिरान्हि पश्यामो जीवति मनोपेतो बालान्हि पश्या-
 मो जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्नः' इत्याद्या ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः ॥

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति
यत्किञ्चिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य
इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै
नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं
भवतीति ॥ १ ॥

स होवाच मुख्यः प्राणः— किं मेऽन्नं भविष्यतीति । मुख्यं
प्राणं प्रष्टारमिव कल्पयित्वा वागादीन्प्रतिवक्तृनिव कल्पय-
न्ती श्रुतिराह— यदिदं लोकेऽन्नजातं प्रसिद्धम् आ श्वभ्यः
श्वभिः सह आ शकुनिभ्यः सह शकुनिभिः सर्वप्राणिनां यद-
न्नम्, तत् तवान्नमिति होचुर्वागादय इति । प्राणस्य सर्वमन्नं
प्राणोऽन्ता सर्वस्यान्नस्येत्येवं प्रतिपत्तये कल्पिताख्यायिकारूपा-
द्यावृत्य स्वेन श्रुतिरूपेण आह—तद्वै एतत् यत्किञ्चिल्लोके प्रा-
णिभिरन्नमद्यते, अनस्य प्राणस्य तदन्नं प्राणेनैव तदद्यत इत्य-
र्थः । सर्वप्रकारचेष्टाव्याप्तिगुणप्रदर्शनार्थम् अन इति प्राणस्य
प्रत्यक्षं नाम । प्राद्युपसर्गपूर्वत्वे हि विशेषगतिरेव स्यात् । तथा
च सर्वान्नानामत्तुर्नामग्रहणमितीदं प्रत्यक्षं नाम अन इति स-
र्वान्नानामत्तुः साक्षादभिधानम् । न ह वा एवंविदि यथोक्त-
प्राणविदि प्राणोऽहमस्मि सर्वभूतस्थः सर्वान्नानामत्तेति, त-
स्मिन्नेवंविदि ह वै किञ्चन किञ्चिदपि प्राणिभिरद्यं सर्वैः

अनन्नम् अनद्यं न भवति, सर्वमेवंविद्यन्नं भवतीत्यर्थः, प्राण-
भूतत्वाद्विदुषः, 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' इत्युप-
क्रम्य 'एवंविदो ह वा उदेति सूर्य एवंविद्यस्तमेति' इति
श्रुत्यन्तरात् ॥

**स होवाच किं मे वासो भविष्यती-
त्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः
पुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्चाद्भिः परिदधति लम्भु-
को ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥ २ ॥**

स ह उवाच पुनः प्राणः— पूर्ववदेव कल्पना । किं मे
वासो भविष्यतीति । आप इति होचुर्वागादयः । यस्मात्प्राण-
स्य वासः आपः, तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः भोक्ष्यमाणा भुक्त-
वन्तश्च ब्राह्मणा विद्वांसः एतत्कुर्वन्ति । किम् ? अद्भिः वास-
स्थानीयाभिः पुरस्तात् भोजनात्पूर्वम् उपरिष्ठाच्च भोजनादूर्ध्वं
च परिदधति परिधानं कुर्वन्ति मुख्यस्य प्राणस्य । लम्भुको
लम्भनशीलो वासो ह भवति ; वाससो लब्धैव भवती-
त्यर्थः । अनग्नो ह भवति । वाससो लम्भुकत्वेनार्थसिद्धैवा-
नग्नतेति अनग्नो ह भवतीत्युत्तरीयवान्भवतीत्येतत् ॥

भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं शुद्धयर्थं विज्ञातम्,
तस्मिन् प्राणस्य वास इति दर्शनमात्रमिह विधीयते—अद्भिः

परिदधतीति; न आचमनान्तरम्—यथा लौकिकैः प्राणिभि-
 रद्यमानमन्नं प्राणस्येति दर्शनमात्रम्, तद्वत्; किं मेऽन्नं किं मे
 वास इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनयोस्तुल्यत्वात् । यद्याचमनमपूर्वं ता-
 दर्थ्येन क्रियेत, तदा कृम्याद्यन्नमपि प्राणस्य भक्ष्यत्वेन विहितं
 स्यात् । तुल्ययोर्विज्ञानार्थयोः प्रश्नप्रतिवचनयोः प्रकरणस्य
 विज्ञानार्थत्वादर्थजरतीयो न्यायो न युक्तः कल्पयितुम् ।
 यत्तु प्रसिद्धमाचमनं प्रायत्यर्थं प्राणस्यानन्नतार्थं च न भव-
 तीत्युच्यते, न तथा वयमाचमनमुभयार्थं ब्रूमः । किं तर्हि,
 प्रायत्यार्थाचमनसाधनभूता आपः प्राणस्य वास इति दर्शनं
 चोद्यत इति ब्रूमः । तत्र आचमनस्योभयार्थत्वप्रसङ्गदोषचो-
 दना अनुपपन्ना । वासोऽर्थ एव आचमने तद्दर्शनं स्यादिति
 चेत्, न, वासोज्ञानार्थवाक्ये वासोर्थापूर्वाचमनविधाने तत्रा-
 नन्नतार्थत्वदृष्टिविधाने च वाक्यभेदः । आचमनस्य तदर्थत्व-
 मन्यार्थत्वं चेति प्रमाणाभावात् ॥

तद्वैतसत्यकामो जाबालो गोश्रुतये
 वैयाघ्रपद्यायोक्तवोवाच यद्यप्येनच्छुष्का-
 य स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः
 प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

तदेतत्प्राणदर्शनं स्तूयते । कथम्? तद्वैतत्प्राणदर्शनं सत्य-

कामो जाबालो गोश्रुतये नाम्ना वैयाघ्रपद्याय व्याघ्रपदोऽपत्यं
वैयाघ्रपद्यः तस्मै गोश्रुत्याख्याय उक्त्वा उवाच अन्यदपि
वक्ष्यमाणं वचः । किं तदुवाचेति, आह—यद्यपि शुष्काय
स्थानवे एतद्दर्शनं ब्रूयात्प्राणवित्, जायेरन् उत्पद्येरन्नेव अ-
स्मिन्स्थानौ शाखाः प्ररोहेयुश्च पलाशानि पत्राणि, किमु
जीवते पुरुषाय ब्रूयादिति ॥

यथोक्तप्राणदर्शनविदः इदं मन्थाख्यं कर्म आरभ्यते—

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां
दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य
मन्थं दधिमधुनोरुपममध्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय
स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपात-
मवनयेत् ॥ ४ ॥

अथ अनन्तरं यदि महत् महत्त्वं जिगमिषेत् गन्तुमि-
च्छेत्, महत्त्वं प्राप्तुं यदि कामयेतेत्यर्थः, तस्येदं कर्म विधी-
यते । महत्त्वे हि सति श्रीरूपनमते । श्रीमतो हि अर्थप्राप्तं
धनम्, ततः कर्मानुष्ठानम्, ततश्च देवयानं पितृयाणं वा
पन्थानं प्रतिपत्स्यत इत्येतत्प्रयोजनमुररीकृत्य महत्त्वप्रेप्सोरिदं
कर्म, न विषयोपभोगकामस्य । तस्यायं कालादिविधिरुच्यते—
अमावास्यायां दीक्षित्वा दीक्षित इव भूमिशयनादिनियमं

कृत्वा तपोरूपं सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमित्यादिधर्मवान्भूत्वेत्यर्थः ।
 न पुनर्दैक्षमेव कर्मजातं सर्वमुपादत्ते, अतद्विकारत्वान्मन्था-
 ख्यस्य कर्मणः । 'उपसद्रती' इति श्रुत्यन्तरात् पयोमात्र-
 भक्षणं च शुद्धिकारणं तप उपादत्ते । पौर्णमास्यां रात्रौ कर्म
 आरभते—सर्वौषधस्य ग्राम्यारण्यानामोषधीनां यावच्छक्य-
 ल्पमल्पमुपादाय तद्वितुषीकृत्य आममेव पिष्टं दधिमधुनोरौ-
 दुम्बरे कंसाकारे चमसाकारे वा पात्रे श्रुत्यन्तरात्प्रक्षिप्य
 उपमथ्य अग्रतः स्थापयित्वा ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावा-
 वसथ्ये आज्यस्य आवापस्थाने हुत्वा सुवसंलग्नं मन्थे संपात-
 मवनयेत् संस्रवमधः पातयेत् ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा
 मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्ना-
 वाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे
 स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपात-
 मवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य
 हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥

समानमन्यत्, वसिष्ठाय प्रतिष्ठायै संपदे आयतनाय
 स्वाहेति, प्रत्येकं तथैव संपातमवनयेत् हुत्वा ॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जप-

त्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदं स हि
 ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यं
 श्रेष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदं
 सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

अथ प्रतिसृप्य अग्नेरीषदपसृत्य अञ्जलौ मन्थमाधाय जप-
 ति इमं मन्त्रम्— अमो नामास्यमा हि ते ; अम इति प्राण-
 स्य नाम । अन्नेन हि प्राणः प्राणिति देहे इत्यतो मन्थद्रव्यं
 प्राणस्य अन्नत्वात् प्राणत्वेन स्तूयते अमो नामासीति ;
 कुतः ? यतः अमा सह हि यस्मात्ते तव प्राणभूतस्य सर्वं
 समस्तं जगदिदम् , अतः । स हि प्राणभूतो मन्थो ज्येष्ठः
 श्रेष्ठश्च ; अत एव च राजा दीप्तिमान् अधिपतिश्च अधिष्ठाय
 पालयिता सर्वस्य । सः मा मामपि मन्थः प्राणो ज्यैष्ठ्या-
 दिगुणपूगमात्मनः गमयतु, अहमेवेदं सर्वं जगदसानि भवानि
 प्राणवत् । इति-शब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति त-
 त्सवितुर्वृणीमिह इत्याचामति वयं देवस्य
 भोजनमित्याचामति श्रेष्ठं सर्वधातममि-
 त्याचामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं

पिबति निर्णिज्य कंसं चमसं वा पश्चा-
दग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा
वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्ये-
त्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ७ ॥

अथ अनन्तरं खलु एतया वक्ष्यमाणया ऋचा पच्छः
पादशः आचामति भक्षयति, मन्त्रस्यैकैकेन पादेनैकैकं ग्रासं
भक्षयति । तत् भोजनं सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः, प्राणमा-
दित्यं च एकीकृत्योच्यते, आदित्यस्य वृणीमहे प्रार्थयेमहि
मन्थरूपम्; येनाग्नेन सावित्रेण भोजनेनोपभुक्तेन वयं
सवितृस्वरूपापन्ना भवेमेत्यभिप्रायः । देवस्य सवितुरिति
पूर्वेण संबन्धः । श्रेष्ठं प्रशस्यतमं सर्वाग्नेभ्यः सर्वधा-
तमं सर्वस्य जगतो धारयितृतमम् अतिशयेन विधातृत-
ममिति वा; सर्वथा भोजनविशेषणम् । तुरं त्वरं तूर्णं
शीघ्रमित्येतत्, भगस्य देवस्य सवितुः स्वरूपमिति शेषः;
धीमहि चिन्तयेमहि विशिष्टभोजनेन संस्कृताः शुद्धात्मानः
सन्त इत्यभिप्रायः । अथवा भगस्य श्रियः कारणं महत्त्वं
प्राप्तुं कर्म कृतवन्तो वयं तद्धीमहि चिन्तयेमहीति सर्वं च
मन्थलेपं पिबति । निर्णिज्य प्रक्षाल्य कंसं कंसाकारं चमसं
चमसाकारं वा औदुम्बरं पात्रम्; पीत्वा आचम्य पश्चादग्नेः

प्राक्किशराः संविशति चर्मणि वा अजिने स्थण्डिले केवलायां
वा भूमौ, वाचंयमो वाग्यतः सन्नित्यर्थः, अप्रसाहो न
प्रसह्यते नाभिभूयते स्र्याद्यनिष्टस्वप्नदर्शनेन यथा, तथा सं-
यतचित्तः सन्नित्यर्थः । स एवंभूतो यदि स्त्रियं पश्येत्स्वप्नेषु,
तदा विद्यात्समृद्धं ममेदं कर्मेति ॥

तदेष श्लोको यदा कर्मसु काम्येषु
स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जा-
नीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिद-
र्शने ॥ ८ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

तदेतस्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रोऽपि भवति—यदा कर्मसु
काम्येषु कामार्थेषु स्त्रियं स्वप्नेषु स्वप्नदर्शनेषु स्वप्नकालेषु वा
पश्यति, समृद्धिं तत्र जानीयात्, कर्मणां फलनिष्पत्तिर्भवि-
ष्यतीति जानीयादित्यर्थः; तस्मिन्स्र्यादिप्रशस्तस्वप्नदर्शने
सतीत्यभिप्रायः । द्विरुक्तिः कर्मसमाप्त्यर्था ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः ॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः संसारगतयो वक्तव्याः वैराग्यहेतो-
र्मुमुक्षूणाम् इत्यत आख्यायिका आरभ्यते—

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समिति-
मेयाय तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कु-
मारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥

श्वेतकेतुर्नामतः, ह इति ऐतिह्यार्थः, अरुणस्यापत्यमा-
रुणिः तस्यापत्यमारुणेयः पञ्चालानां जनपदानां समितिं
सभाम् एयाय आजगाम । तमागतवन्तं ह प्रवाहणो नामतः
जीवलस्यापत्यं जैवलिः उवाच उक्तवान्—हे कुमार अनु त्वा
त्वाम् अशिषत् अन्वशिषत् पिता ? किमनुशिष्टस्त्वं पित्रेत्यर्थः ।
इत्युक्तः स आह—अनु हि अनुशिष्टोऽस्मि भगव इति सूच-
यन्नाह ॥

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न
भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त इति
न भगव इति वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृ-
याणस्य च व्यावर्तना इति न भगव
इति ॥ २ ॥

तं ह उवाच—यद्यनुशिष्टोऽसि, वेत्थ यदिदः अस्माल्लो-
कात् अधि ऊर्ध्वं यत्प्रजाः प्रयन्ति यदूच्छन्ति, तत्किं जानीषे
इत्यर्थः । न भगव इत्याह इतरः, न जानेऽहं तत् यत्पृच्छसि ।
एवं तर्हि, वेत्थ जानीषे यथा येन प्रकारेण पुनरावर्तन्त
इति । न भगव इति प्रत्याह । वेत्थ पथोर्मार्गयोः सहप्रयाण-
योर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना व्यावर्तनमितरेतर-
वियोगस्थानं सह गच्छतामित्यर्थः ॥

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते इति
न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुता-
वापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव
इति ॥ ३ ॥

वेत्थ यथा असौ लोकः पितृसंबन्धी—यं प्राप्य पुनरा-
वर्तन्ते, बहुभिः प्रयद्भिरपि येन कारणेन न संपूर्यते इति ।
न भगव इति प्रत्याह । वेत्थ यथा येन क्रमेण पञ्चम्यां
पञ्चसंख्याकायामाहुतौ हुतायाम् आहुतिनिर्वृत्ता आहुतिसा-
धनाश्च आपः पुरुषवचसः पुरुष इत्येवं वचोऽभिधानं यासां
हूयमानानां क्रमेण षष्ठाहुतिभूतानां ताः पुरुषवचसः पुरुष-
शब्दवाच्या भवन्ति पुरुषाख्यां लभन्त इत्यर्थः । इत्युक्तो
नैव भगव इत्याह ; नैवाहमत्र किञ्चन जानामीत्यर्थः ॥

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो ही-
मानि न विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवी-
तेति स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तं हो-
वाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवान्ब्र-
वीदनु त्वाशिषमिति ॥ ४ ॥

अथ एवमज्ञः सन् किमनु कस्मात्त्वम् अनुशिष्टोऽस्मीति-
अवोचथा उक्तवानसि ; यो हि इमानि मया पृष्टान्यर्थजा-
तानि न विद्यात् न विजानीयात्, कथं स विद्वत्सु अनुशि-
ष्टोऽस्मीति ब्रुवीत । इत्येवं स श्वेतकेतुः राज्ञा आयस्तः आ-
यासितः सन् पितुरर्धं स्थानम् एयाय आगतवान्, तं च
पितरमुवाच—अननुशिष्य अनुशासनमकृत्वैव मा मां किल
भगवान् समावर्तनकालेऽब्रवीत् उक्तवान् अनु त्वाशिषम्
अन्वशिषं त्वामिति ॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्ते-
षां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति स होवा-
च यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां
नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते
नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह
 प्राप्तायाह्नी चकार स ह प्रातः सभाग
 उदेयाय तं होवाच मानुषस्य भगवन्गौ-
 तम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच
 तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमार-
 स्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति
 स ह कृच्छ्री बभूव ॥ ६ ॥

यतः पञ्च पञ्चसंख्याकान्प्रश्नान् राजन्यबन्धुः राजन्या
 बन्धवोऽस्येति राजन्यबन्धुः स्वयं दुर्वृत्त इत्यर्थः, अप्राक्षीत्
 पृष्ठवान् । तेषां प्रश्नानां नैकंचन एकमपि नाशकं न शक्तवा-
 नहं विवक्तुं विशेषेणार्थतो निर्णेतुमित्यर्थः । स ह उवाच
 पिता— यथा मा मां वत्स त्वं तदा आगतमात्र एव एतान्प्र-
 श्नान् अवद उक्तवानसि—तेषां नैकंचन अशकं विवक्तुमिति,
 तथा मां जानीहि, त्वदीयाज्ञानेन लिङ्गेन मम तद्विषयम-
 ज्ञानं जानीहीत्यर्थः । कथम् ? यथा अहमेषां प्रश्नानाम् एकं
 चन एकमपि न वेद न जाने इति—यथा त्वमेवाङ्ग एता-
 न्प्रश्नान् न जानीषे, तथा अहमपि एतान्न जाने इत्यर्थः ।
 अतो मय्यन्यथाभावो न कर्तव्यः । कुत एतदेवम् ? यतो
 न जाने; यद्यहमिमान्प्रश्नान् अवेदिष्यं विदितवानास्मि, कथं

ते तुभ्यं प्रियाय पुत्राय समावर्तनकाले पुरा नावक्ष्यं नोक्त-
वानस्मि—इत्युक्त्वा स ह गौतमः गोत्रतः राज्ञः जैबलेः अर्धं
स्थानम् एयाय गतवान् । तस्मै ह गौतमाय प्राप्ताय अर्हाम्
अर्हणां चकार कृतवान् । स च गौतमः कृतातिथ्यः उषित्वा
परेद्युः प्रातःकाले सभागे सभां गते राज्ञि उदेयाय ।
भजनं भागः पूजा सेवा सह भागेन वर्तमानो वा सभागः
पूज्यमानोऽन्यैः स्वयं गौतमः उदेयाय राजानमुद्गतवान् । तं
होवाच गौतमं राजा— मानुषस्य भगवन्गौतम मनुष्यसंब-
न्धिनो वित्तस्य ग्रामादेः वरं वरणीयं कामं वृणीथाः प्रार्थये-
थाः । स ह उवाच गौतमः— तवैव तिष्ठतु राजन् मानुषं
वित्तम् ; यामेव कुमारस्य मम पुत्रस्य अन्ते समीपे वाचं
पञ्चप्रश्नलक्षणाम् अभाषथाः उक्तवानसि, तामेव वाचं मे
मह्यं ब्रूहि कथय— इत्युक्तो गौतमेन राजा स ह कृच्छ्री
दुःखी बभूव— कथं त्विदमिति ॥

त५ ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार त५
होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं
न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छ-
ति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशा-
सनमभूदिति तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

स ह कृच्छ्रीभूतः अप्रत्याख्येयं ब्राह्मणं मन्वानः न्यायेन विद्या वक्तव्येति मत्वा तं ह गौतमं चिरं दीर्घकालं वस-
इत्येवमाज्ञापयांचकार आज्ञप्तवान् । यत्पूर्वं प्रख्यातवान्
राजा विद्याम्, यच्च पश्चाच्चिरं वसेत्याज्ञप्तवान्, तन्निमित्तं
ब्राह्मणं क्षमापयति हेतुवचनोक्त्या । तं ह उवाच राजा—
सर्वविद्यो ब्राह्मणोऽपि सन् यथा येन प्रकारेण मा मां हे
गौतम अवदः त्वम्—तामेव विद्यालक्षणां वाचं मे ब्रूहि—इत्यज्ञा-
नात्, तेन त्वं जानीहि । तत्रास्ति वक्तव्यम्—यथा येन प्रका-
रेण इयं विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्मणान् न गच्छति न गतवती, न
च ब्राह्मणा अनया विद्यया अनुशासितवन्तः, तथा एतत्प्रसिद्धं
लोके यतः, तस्मादु पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्र-
जातेरेव अनया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणाम-
भूत् बभूव ; क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्या एतावन्तं कालमा-
गता ; तथाप्यहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि ; त्वत्संप्रदानादूर्ध्वं ब्रा-
ह्मणान्गमिष्यति ; अतो मया यदुक्तम्, तत्क्षन्तुमर्हसीत्यु-
क्त्वा तस्मै ह उवाच विद्यां राजा ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

‘पञ्चम्यामाहुतावापः’ इत्ययं प्रश्नः प्राथम्येनापाक्रियते, तदपाकरणमनु इतरेषामपाकरणमनुकूलं भवेदिति । अग्निहोत्राहुत्योः कार्यारम्भो यः, स उक्तो वाजसनेयके— तं प्रति प्रश्नाः । उत्क्रान्तिराहुत्योर्गतिः प्रतिष्ठा तृप्तिः पुनरावृत्तिलोकं प्रत्युत्थायी इति । तेषां च अपाकरणमुक्तं तत्रैव— ‘ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशतस्ते अन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वाते वायुं समिधं मरीचीरेव शुक्लामाहुतिं ते अन्तरिक्षं तर्पयतस्ते तत उत्क्रामत’ इत्यादि ; एवमेव पूर्ववदिवं तर्पयतस्ते तत आवर्तेते । इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविशतः । ततः स्त्रियमाविश्य लोकं प्रत्युत्थायी भवति इति । तत्र अग्निहोत्राहुत्योः कार्यारम्भमात्रमेवंप्रकारं भवतीत्युक्तम्, इह तु तं कार्यारम्भमग्निहोत्रापूर्वविपरिणामलक्षणं पञ्चधा प्रविभज्य अग्नित्वेनोपासनमुत्तरमार्गप्रतिपत्ति-साधनं विधित्सन् आह—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्या-
दित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्र-
मा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥

असौ वाव लोको गौतमाग्निरित्यादि । इह सायंप्रातर-
 ग्निहोत्वाहुती हुते पयआदिसाधने श्रद्धापुरःसरे आहवनीया-
 ग्निसमिद्धमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गभाविते कर्त्रादिकारकभाविते
 च अन्तरिक्षक्रमेणोत्क्रम्य द्युलोकं प्रविशन्त्यौ सूक्ष्मभूते अ-
 प्समवायित्वादप्शब्दवाच्ये श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दवाच्ये ।
 तयोरधिकरणः अग्निः अन्यच्च तत्संबन्धं समिदादीत्युच्यते ।
 या च असावग्न्यादिभावना आहुत्योः, सापि तथैव निर्दि-
 श्यते । असौ वाव लोकोऽग्निः हे गौतम—यथाग्निहोत्वाधिकर-
 णमाहवनीय इह । तस्याग्नेर्द्युलोकाख्यस्य आदित्य एव स-
 मित्, तेन हि इद्धः असौ लोको दीप्यते, अतः समिन्ध-
 नात् समिदादित्यः । रश्मयो धूमः, तदुत्थानात्; समिधो
 हि धूम उत्तिष्ठति । अहरर्चिः प्रकाशसामान्यात्, आदि-
 त्यकार्यत्वाच्च । चन्द्रमा अङ्गाराः, अहः प्रशमेऽभिव्यक्तेः;
 अर्चिषो हि प्रशमेऽङ्गारा अभिव्यज्यन्ते । नक्षत्राणि विस्फु-
 लिङ्गाः, चन्द्रमसोऽवयवा इव विप्रकीर्णत्वसामान्यात् ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुहति
 तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

तस्मिन्नेतस्मिन् यथोक्तलक्षणेऽग्नौ देवा यजमानप्राणा
 अग्न्यादिरूपा अधिदैवतम् । श्रद्धाम् अग्निहोत्राहुतिपरिणामाव-
 स्थारूपाः सूक्ष्मा आपः श्रद्धाभाविताः श्रद्धा उच्यन्ते,
 ‘पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ इत्यपां होम्य-
 तथा प्रश्ने श्रुतत्वात्; ‘श्रद्धा वा आपः श्रद्धामेवारभ्य
 प्रणीय प्रचरन्ति’ इति च विज्ञायते । तां श्रद्धाम् अब्रूपां
 जुह्वति; तस्या आहुतेः सोमो राजा अपां श्रद्धाशब्दवा-
 च्यानां युलोकाग्नौ हुतानां परिणामः सोमो राजा संभवति—
 यथा ऋग्वेदादिपुष्परसा ऋगादिमधुकरोपनीतास्ते आदित्ये
 यशआदिकार्यं रोहितादिरूपलक्षणमारभन्ते इत्युक्तम्—तथेमा
 अग्निहोत्राहुतिसमवायिन्यः सूक्ष्माः श्रद्धाशब्दवाच्या आपः
 युलोकमनुप्रविश्य चान्द्रं कार्यमारभन्ते फलरूपमग्निहोत्रा-
 हुत्योः । यजमानाश्च तत्कर्तार आहुतिमया आहुतिभावना-
 भाविता आहुतिरूपेण कर्मणा आकृष्टाः श्रद्धाप्समवायिनो
 युलोकमनुप्रविश्य सोमभूता भवन्ति । तदर्थं हि तैरग्निहोत्रं
 हुतम् । अत्र तु आहुतिपरिणाम एव पञ्चाग्निसंबन्धक्रमेण
 प्राधान्येन विवक्षित उपासनार्थं न यजमानानां गतिः । तां
 त्वविदुषां धूमादिक्रमेणोत्तरत्र वक्ष्यति, विदुषां च उत्तरा
 विद्याकृताम् ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चमः खण्डः ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायु-
रेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशानिरङ्गारा
ह्लादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

द्वितीयहोमपर्यायार्थमाह— पर्जन्यो वाव पर्जन्य एव
गौतमाग्निः पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानि देवताविशे-
षः । तस्य वायुरेव समित्, वायुना हि पर्जन्योऽग्निः
समिध्यते ; पुरोवातादिप्राबल्ये वृष्टिदर्शनात् । अभ्रं धूमः,
धूमकार्यत्वाद्भूमवच्च लक्ष्यमाणत्वात् । विद्युदर्चिः, प्रकाशसा-
मान्यात् । अशनिः अङ्गाराः, काठिन्याद्विद्युत्संबन्धाद्वा ।
ह्लादनयो विस्फुलिङ्गाः, ह्लादनयः गर्जितशब्दाः मेघानाम्,
विप्रकीर्णत्वसामान्यात् ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुहति
तस्या आहुतेर्वर्षं सं-
भवति ॥ २ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पूर्ववत्सोमं राजानं जुहति ।
तस्या आहुतेर्वर्षं संभवति ; श्रद्धाख्या आपः सोमाकारपरि-
णता द्वितीये पर्याये पर्जन्याग्निं प्राप्य वृष्टित्वेन परिणमन्ते ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संव-
त्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चि-
र्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निरित्यादि पूर्ववत् । तस्याः पृथि-
व्याख्यस्याग्नेः संवत्सर एव समित्, संवत्सरेण हि कालेन
समिद्धा पृथिवी ब्रीह्यादिनिष्पत्तये भवति । आकाशो धूमः,
पृथिव्या इवोत्थित आकाशो दृश्यते— यथा अग्नेर्धूमः ।
रात्रिरर्चिः, पृथिव्या हि अप्रकाशात्मिकाया अनुरूपा रात्रिः,
तमोरूपत्वात्—अग्नेरिवानुरूपमर्चिः । दिशः अङ्गाराः, उप-
शान्तत्वसामान्यात् । अवान्तरदिशः विस्फुलिङ्गाः, क्षुद्र-
त्वसामान्यात् ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुहति
तस्या आहुतेरन्नं संभवति ॥ २ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

तस्मिन्नित्यादि समानम् । तस्या आहुतेरन्नं ब्रीहियवादि
संभवति ॥

इति षष्ठखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव
समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः
श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निः । तस्य वागेव समित्, वाचा
हि मुखेन समिध्यते पुरुषो न मूकः । प्राणो धूमः, धूम
इव मुखान्निर्गमनात् । जिह्वा अर्चिः, लोहितत्वात् । चक्षुः
अङ्गाराः, भास आश्रयत्वात् । श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः, विप्रकी-
र्णत्वसाम्यात् ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति
तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

समानमन्यत् । अन्नं जुह्वति ब्रीह्यादिसंस्कृतम् । तस्या
आहुते रेतः संभवति ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ
एव समिध्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनि-
रर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा
विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

योषा वाव गौतमान्निः । तस्या उपस्थ एव समित्, तेन
हि सा पुत्राद्युत्पादनाय समिध्यते । यदुपमन्त्रयते स धूमः,
स्त्रीसंभवादुपमन्त्रणस्य । योनिरर्चिः, लोहितत्वात् । यदन्तः
करोति तेऽङ्गाराः, अग्निसंबन्धात् । अभिनन्दाः सुखलवाः
विस्फुलिङ्गाः, क्षुद्रत्वात् ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुहति
तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥ २ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुहति । तस्या आहुते-
र्गर्भः संभवतीति । एवं श्रद्धासोमवर्षान्नरेतोहवनपर्यायक-

मेण आप एव गर्भीभूतास्ताः । तत्र अपामाहुतिसमवायि-
त्वात् प्राधान्यविवक्षा—आपः पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचसो
भवन्तीति । न त्वाप एव केवलाः सोमादिकार्यमारभन्ते ।
न च आपोऽत्रिवृत्कृताः सन्तीति । त्रिवृत्कृतत्वेऽपि विशेष-
संज्ञालाभो दृष्टः—पृथिवीयमिमा आपोऽयमग्निरित्यन्यतम-
बाहुल्यनिमित्तः । तस्मात्समुदितान्येव भूतान्यन्वाहुल्या-
त्कर्मसमवायीनि सोमादिकार्यारम्भकाण्याप इत्युच्यन्ते ।
दृश्यते च द्रवबाहुल्यं सोमवृष्ट्यन्नरेतोदेहेषु । बहुद्रवं च
शरीरं यद्यपि पार्थिवम् । तत्र पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां रेतो-
रूपा आपो गर्भीभूताः ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः ॥

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवच-
सो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश
वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ
जायते १ ॥

इति तु एवं तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती-
ति व्याख्यातः एकः प्रश्नः । यत्तु द्युलोकादिमां प्रत्यावृत्तयो-
राहुत्योः पृथिवीं पुरुषं स्त्रियं क्रमेण आविश्य लोकं प्रत्यु-
त्थायी भवतीति वाजसनेयके उक्तम्, तत्प्रासङ्गिकमिहो-
च्यते । इह च प्रथमे प्रश्ने उक्तम्— वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः
प्रयन्तीति । तस्य च अयमुपक्रमः—स गर्भोऽपां पञ्चमः परि-
णामविशेष आहुतिकर्मसमवायिनीनां श्रद्धाशब्दवाच्यानाम्
उल्बावृतः उल्बेन जरायुणा आवृतः वेष्टितः दश वा नव वा
मासान् अन्तः मातुः कुक्षौ शयित्वा यावद्वा यावता का-
लेन न्यूनेनातिरिक्तेन वा अथ अनन्तरं जायते ॥

उल्बावृत इत्यादि वैराग्यहेतोरिदमुच्यते । कष्टं हि मातुः
कुक्षौ मूत्रपूरीषवातपित्तश्लेष्मादिपूर्णे तदनुलिप्तस्य गर्भस्यो-
ल्बाशुचिपटावृतस्य लोहितरेतोशुचिबीजस्य मातुरशितपी-

तरसानुप्रवेशेन विवर्धमानस्य निरुद्धशक्तिबलवीर्यतेजःप्रज्ञा-
चेष्टस्य शयनम् । ततो योनिद्वारेण पीड्यमानस्य कष्टतरा
निःसृतिर्जन्मेति वैराग्यं ग्राहयति, मुहूर्तमप्यसह्यं दश वा
नव वा मासानतिदीर्घकालमन्तः शयित्वेति च ॥

**स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं
दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो
यतः संभूतो भवति ॥ २ ॥**

इति नवमः खण्डः ॥

स एवं जातः यावदायुषं पुनः पुनर्घटीयन्नवद्रमनागम-
नाय कर्म कुर्वन् कुलालचक्रवद्वा तिर्यग्भ्रमणाय यावत्कर्म-
णोपात्तमायुः तावज्जीवति । तमेनं क्षीणायुषं प्रेतं मृतं दिष्टं
कर्मणा निर्दिष्टं परलोकं प्रति—यदि चेज्जीवन् वैदिके कर्मणि
ज्ञाने वा अधिकृतः— तमेनं मृतम् इतः अस्माद्भामात् अग्नये
अग्न्यर्थम् ऋत्विजो हरन्ति पुत्रा वा अन्यकर्मणे । यत
एव इत आगतः अग्नेः सकाशात् श्रद्धाद्याहुतिक्रमेण, यतश्च
पञ्चभ्योऽग्निभ्यः संभूतः उत्पन्नः भवति, तस्मै एव अग्नये
हरन्ति स्वामेव योनिम् अग्निम् आपादयन्तीत्यर्थः ॥

इति नवमखण्डभाष्यम् ॥

दशमः खण्डः ॥

तद्य इत्थं विदुः । ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा
तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्य-
र्चिषोऽहरह आ पूर्यमाणपक्षमा पूर्यमाणप-
क्षाद्यान्षडुदङ्गेति मासाःस्तान् ॥ १ ॥

मासेभ्यः संवत्सरः संवत्सरादादित्य-
मादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं त-
त्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष
देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

‘वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्ति’ इत्ययं प्रश्नः प्रत्युपस्थितो-
ऽपाकर्तव्यतया । तत् तत्र लोकं प्रति उत्थितानाम् अधिकृतानां
गृहमेधिनां ये इत्थम् एवं यथोक्तं पञ्चाग्निदर्शनम्—द्युलोकाद्य-
ग्निभ्यो वयं क्रमेण जाता अग्निस्वरूपाः पञ्चाग्न्यात्मानः—
इत्येवं विदुः जानीयुः । कथमवगम्यते इत्थं विदुरिति गृहस्था
एव उच्यन्ते नान्य इति ? गृहस्थानां ये त्वनित्थंविदः
केवलेष्टापूर्तदत्तपराः ते धूमादिना चन्द्रं गच्छन्तीति वक्ष्यति ।
ये च अरण्योपलक्षिता वैखानसाः परिव्राजकाश्च श्रद्धा तप

इत्युपासते, तेषां च इत्थंविद्धिः सह अर्चिरादिना गमनं
 वक्ष्यति, पारिशेष्यादग्निहोत्राहुतिसंबन्धाच्च गृहस्था एव गृह्य-
 न्ते—इत्थं विदुरिति । ननु ब्रह्मचारिणोऽप्यगृहीता ग्रामश्रुत्या
 अरण्यश्रुत्या च अनुपलक्षिता विद्यन्ते, कथं पारिशेष्यसिद्धिः ?
 नैष दोषः । पुराणस्मृतिप्रामाण्यात् ऊर्ध्वरेतसां नैष्ठिकब्रह्म-
 चारिणाम् उत्तरेणार्यम्णः पन्थाः प्रसिद्धः, अतः तेऽप्यरण्य-
 वासिभिः सह गमिष्यन्ति । उपकुर्वाणकास्तु स्वाध्यायग्रह-
 णार्था इति न विशेषनिर्देशार्हाः । ननु ऊर्ध्वरेतस्त्वं चेत्
 उत्तरमार्गप्रतिपत्तिकारणं पुराणस्मृतिप्रामाण्यादिष्यते, इत्थं-
 वित्त्वमनर्थकं प्राप्तम् । न, गृहस्थान्प्रत्यर्थवत्त्वात् । ये
 गृहस्था अनित्यंविदः, तेषां स्वभावतो दक्षिणो धूमादिः
 पन्थाः प्रसिद्धः, तेषां य इत्थं विदुः सगुणं वा अन्यद्ब्रह्म विदुः,
 ‘अथ यदु चैवास्मिञ्शब्दं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेव’
 इति लिङ्गात् उत्तरेण ते गच्छन्ति । ननु ऊर्ध्वरेतसां गृहस्थानां
 च समाने आश्रमित्वे ऊर्ध्वरेतसामेव उत्तरेण पथा गमनं न
 गृहस्थानामिति न युक्तम् अग्निहोत्रादिवैदिककर्मबाहुल्ये च
 सति ; नैष दोषः, अपूता हि ते—शत्रुमित्रसंयोगनिमित्तौ
 हि तेषां रागद्वेषौ, तथा धर्माधर्मौ हिंसानुग्रहनिमित्तौ,
 हिंसानृतमायाब्रह्मचर्यादि च बह्वशुद्धिकारणमपरिहार्यं ते-

षाम्, अतोऽपूताः । अपूतत्वात् न उत्तरेण पथा गमनम् ।
 हिंसानृतमायाब्रह्मचर्यादिपरिहाराच्च शुद्धात्मानो हि इतरे,
 शत्रुमित्ररागद्वेषादिपरिहाराच्च विरजसः ; तेषां युक्त उत्तरः
 पन्थाः । तथा च पौराणिकाः— ‘ये प्रजामीषिरेऽधीरास्ते
 श्मशानानि भेजिरे । ये प्रजां नेषिरे धीरास्तेऽमृतत्वं हि
 भेजिरे’ इत्याहुः । इत्थंविदां गृहस्थानामरण्यवासिनां च
 समानमार्गत्वेऽमृतत्वफले च सति, अरण्यवासिनां विद्यान-
 र्थक्यं प्राप्तम् ; तथा च श्रुतिविरोधः—‘न तत्र दक्षिणा यन्ति
 नाविद्वांसस्तपस्विनः’ इति, ‘स एनमविदितो न भुनक्ति’
 इति च विरुद्धम् । न, आभूतसंप्लवस्थानस्यामृतत्वेन विव-
 क्षितत्वात् । तत्रैवोक्तं पौराणिकैः—‘आभूतसंप्लवं स्थान-
 ममृतत्वं हि भाष्यते’ इति । यच्च आत्यन्तिकममृतत्वम्, तद-
 पेक्षया ‘न तत्र दक्षिणा यन्ति’ ‘स एनमविदितो न भुनक्ति’
 इत्याद्याः श्रुतयः— इत्यतो न विरोधः । ‘न च पुन-
 रावर्तन्ते’ इति ‘इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते’ इत्यादि-
 श्रुतिविरोध इति चेत्, न ; ‘इमं मानवम्’ इति विशेषणात्
 ‘तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति’ इति च । यदि हि एकान्तेनैव
 नावर्तेरन्, इमं मानवम् इह इति च विशेषणमनर्थकं स्यात् ।
 इममिह इत्याकृतिमात्रमुच्यत इति चेत्, न ; अनावृत्तिशब्दे-

नैव नित्यानावृत्त्यर्थस्य प्रतीतत्वात् आकृतिकल्पना अन-
 र्थिका । अतः इममिह इति च विशेषणार्थवत्त्वाय अन्यत्र
 आवृत्तिः कल्पनीया । न च सदेकमेवाद्वितीयमित्येवं प्रत्य-
 यवतां मूर्धन्यनाड्या अर्चिरादिमार्गेण गमनम्, 'ब्रह्मैव स-
 न्ब्रह्माप्येति' 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' 'न तस्य प्राणा
 उत्क्रामन्ति । अत्रैव समवलीयन्ते' इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः ।
 ननु तस्माज्जीवादुच्चिक्रमिषोः प्राणा नोत्क्रामन्ति सहैव ग-
 च्छन्तीत्ययमर्थः कल्प्यत इति चेत्; न, 'अत्रैव समवली-
 यन्ते' इति विशेषणानर्थक्यात्, 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'
 इति च प्राणैर्गमनस्य प्राप्तत्वात् । तस्मादुत्क्रामन्तीत्यनाशङ्कै-
 वैषा । यदापि मोक्षस्य संसारगतिवैलक्षण्यात्प्राणानां जी-
 वेन सह आगमनमाशङ्क्य तस्मान्नोत्क्रामन्तीत्युच्यते, तदा-
 पि 'अत्रैव समवलीयन्ते' इति विशेषणमनर्थकं स्यात् ।
 न च प्राणैर्वियुक्तस्य गतिरूपपद्यते जीवत्वं वा, सर्वगत-
 त्वात्सदात्मनो निरवयवत्वात् प्राणसंबन्धमात्रमेव हि अ-
 भिविस्फुलिङ्गवज्जीवत्वभेदकारणमित्यतः तद्वियोगे जीवत्वं
 गतिर्वा न शक्या परिकल्पयितुम्, श्रुतयश्चेत्प्रमाणम् । न
 च सतोऽणुरवयवः स्फुटितो जीवाख्यः सद्रूपं छिद्रीकुर्वन्
 गच्छतीति शक्यं कल्पयितुम् । तस्मात् 'तयोर्ध्वमायन्नमृ-

तत्त्वमेति' इति सगुणब्रह्मोपासकस्य प्राणैः सह नाड्या गमनम्, सापेक्षमेव च अमृतत्वम्, न साक्षान्मोक्ष इति गम्यते, 'तदपराजिता पूस्तदैरं मदीयं सरः' इत्याद्युक्त्वा 'तेषामेवैष ब्रह्मलोकः' इति विशेषणात् ॥

अतः पञ्चाग्निविदो गृहस्थाः, ये च इमे अरण्ये वान-
प्रस्थाः परिव्राजकाश्च सह नैष्ठिकब्रह्मचारिभिः श्रद्धा तप
इत्येवमाद्युपासते श्रद्धधानास्तपस्विनश्चेत्यर्थः; उपासनशब्द-
स्तात्पर्यार्थः; इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासत इति यद्वत् । श्रुत्य-
न्तरात् ये च सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यमुपासते, ते सर्वे अर्चि-
षम् अर्चिरभिमानिनीं देवताम् अभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते ।
समानमन्यत् चतुर्थगतिव्याख्यानेन । एष देवयानः पन्था
व्याख्यातः सत्यलोकावसानः, न अण्डाद्वहिः, 'यदन्तरा
पितरं मातरं च' इति मन्त्रवर्णात् ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमि-
त्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमा-
द्रात्रिः रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्द-
क्षिणैति मासाः स्तान्नैते संवत्सरमभि-
प्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

अथेत्यर्थान्तरप्रस्तावनार्थः, य इमे गृहस्थाः ग्रामे, ग्राम इति गृहस्थानामसाधारणं विशेषणम् अरण्यवासिभ्यो व्यावृत्त्यर्थम्— यथा वानप्रस्थपरिव्राजकानामरण्यं विशेषणं गृहस्थेभ्यो व्यावृत्त्यर्थम्, तद्वत्; इष्टापूर्ते इष्टमग्निहोत्रादि वैदिकं कर्म, पूर्ते वापीकूपतडागारामादिकरणम्; दत्तं बहिर्वेदि यथाशक्त्यर्हेभ्यो द्रव्यसंविभागो दत्तम्; इति एवंविधं परिचरणपरिव्राणादि उपासते, इति-शब्दस्य प्रकारदर्शिनार्थत्वात् । ते दर्शनवर्जितत्वाद्धूमं धूमाभिमानिनीं देवताम् अभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते । तथा अतिवाहिता धूमाद्रात्रि रात्रिदेवतां रात्रेरपरपक्षदेवताम् एवमेव कृष्णपक्षाभिमानिनीम् अपरपक्षात् यान्षणमासान् दक्षिणा दक्षिणां दिशमेति सविता, तान्मासान् दक्षिणायनषणमासाभिमानिनीर्देवताः प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । संघचारिण्यो हि षण्मासदेवता इति मासानिति बहुवचनप्रयोगः तासु । नैते कर्मिणः प्रकृताः संवत्सरं संवत्सराभिमानिनीं देवतामभिप्राप्नुवन्ति । कुतः पुनः संवत्सरप्राप्तिप्रसङ्गः, यतः प्रतिषिध्यते ? अस्ति हि प्रसङ्गः—संवत्सरस्य हि एकस्यावयवभूते दक्षिणोत्तरायणे, तत्र अर्चिरादिमार्गप्रवृत्तानामुदगयनमासेभ्योऽवयविनः संवत्सरस्य प्राप्तिरुक्ता ; अतः इहापि तदवयवभूतानां दक्षिणायन-

मासानां प्राप्तिं श्रुत्वा तदवयविनः संवत्सरस्यापि पूर्ववत्प्रा-
मिरापन्नेति । अतः तत्प्राप्तिः प्रतिषिध्यते— नैते संवत्सरम-
भिप्राप्नुवन्तीति ॥

**मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाका-
शमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्दे-
वानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥**

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशम् आकाशाच्चन्द्रम-
सम् । कोऽसौ, यस्तैः प्राप्यते चन्द्रमाः ? य एष दृश्यतेऽन्त-
रिक्षे सोमो राजा ब्राह्मणानाम्, तदन्नं देवानाम्, तं चन्द्रमस-
मन्नं देवा इन्द्रादयो भक्षयन्ति । अतस्ते धूमादिना गत्वा चन्द्र-
भूताः कर्मिणो देवैर्भक्ष्यन्ते । ननु अनर्थाय इष्टादिकरणम्,
यद्यन्नभूता देवैर्भक्ष्येरन् । नैष दोषः, अन्नमित्युपकरणमा-
त्रस्य विवक्षितत्वात्—न हि ते कबलोत्क्षेपेण देवैर्भक्ष्यन्ते ।
किं तर्हि, उपकरणमात्रं देवानां भवन्ति ते, स्त्रीपशुभृत्या-
दिवत्, दृष्टश्चान्नशब्द उपकरणेषु—स्त्रियोऽन्नं पशवोऽन्नं वि-
शोऽन्नं राज्ञामित्यादि । न च तेषां स्त्र्यादीनां पुरुषोपभो-
ग्यत्वेऽप्युपभोगो नास्ति । तस्मात्कर्मिणो देवानामुपभोग्या
अपि सन्तः सुखिनो देवैः क्रीडन्ति । शरीरं च तेषां सुखो-
पभोगयोग्यं चन्द्रमण्डले आप्यमारभ्यते । तदुक्तं पुरस्तात्—

श्रद्धाशब्दा आपो द्युलोकाग्नौ हुताः सोमो राजा संभव-
तीति । ता आपः कर्मसमवायिन्यः इतरैश्च भूतैरनुगता
द्युलोकं प्राप्य चन्द्रत्वमापन्नाः शरीराद्यारम्भिका इष्टाद्युपा-
सकानां भवन्ति । अन्त्यायां च शरीराहुतावग्नौ हुतायाम-
ग्निना दह्यमाने शरीरे तदुत्था आपो धूमेन सह ऊर्ध्वं यज-
मानमावेष्ट्य चन्द्रगण्डलं प्राप्य कुशमृत्तिकास्थानीया बाह्य-
शरीरारम्भिका भवन्ति । तदारब्धेन च शरीरेण इष्टादि-
फलमुपभुञ्जाना आसते ॥

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वा-
नं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशा-
द्रायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भू-
त्वाभ्रं भवति ॥ ५ ॥

यावत् तदुपभोगनिमित्तस्य कर्मणः क्षयः, संपतन्ति येने-
ति संपातः कर्मणः क्षयः यावत्संपातं यावत्कर्मणः क्षय इत्यर्थः ,
तावत् तस्मिंश्चन्द्रमण्डले उषित्वा अथ अनन्तरम् एतमेव वक्ष्य-
माणमध्वानं मार्गं पुनर्निवर्तन्ते । पुनर्निवर्तन्त इति प्रयोगा-
त्पूर्वमप्यसकृच्चन्द्रमण्डलं गता निवृत्ताश्च आसन्निति गम्य-
ते । तस्मादिह लोके इष्टादिकर्मोपचित्य चन्द्रं गच्छन्ति ;
तत्क्षये च आवर्तन्ते ; क्षणमात्रमपि तत्र स्थातुं न लभ्यते,

स्थितिनिमित्तकर्मक्षयात्—स्नेहक्षयादिव प्रदीपस्य ॥

तत्र किं येन कर्मणा चन्द्रमण्डलमारूढस्तस्य सर्वस्य क्षये तस्मादवरोहणम्, किं वा सावशेष इति । किं ततः ? यदि सर्वस्यैव क्षयः कर्मणः, चन्द्रमण्डलस्थस्यैव मोक्षः प्राप्नोति ; तिष्ठतु तावत्तत्रैव, मोक्षः स्यात्, न वेति ; तत आगतस्य इह शरीरोपभोगादि न संभवति । ‘ततः शेषेण’ इत्यादिस्मृतिविरोधश्च स्यात् । नन्विष्टापूर्तदत्तव्यतिरेकेणापि मनुष्यलोके शरीरोपभोगनिमित्तानि कर्माण्यनेकानि संभवन्ति, न च तेषां चन्द्रमण्डले उपभोगः, अतोऽक्षीणानि तानि ; यन्निमित्तं चन्द्रमण्डलमारूढः, तान्येव क्षीणानीत्य-विरोधः ; शेषशब्दश्च सर्वेषां कर्मत्वसामान्यादविरुद्धः ; अत एव च तत्रैव मोक्षः स्यादिति दोषाभावः ; विरुद्धाने-कयोन्युपभोगफलानां च कर्मणाम् एकैकस्य जन्तोरारम्भक-त्वसंभवात् । न च एकस्मिज्जन्मनि सर्वकर्मणां क्षय उपप-द्यते, ब्रह्महत्यादेश्च एकैकस्य कर्मण अनेकजन्मारम्भकत्वस्म-रणात्, स्थावरादिप्राप्तानां च अत्यन्तमूढानामुत्कर्षहेतोः कर्मण आरम्भकत्वासंभवात् । गर्भभूतानां च संसमानानां कर्मासंभवे संसारानुपपत्तिः । तस्मात् न एकस्मिज्जन्मनि सर्वे-षां कर्मणामुपभोगः ॥

यत्तु कैश्चिदुच्यते— सर्वकर्माश्रयोपमर्देन प्रायेण कर्म-
 णां जन्मारम्भकत्वम् । तत्र कानिचित्कर्माण्यनारम्भक-
 त्वेनैव तिष्ठन्ति कानिचिज्जन्म आरभन्त इति नोप-
 पद्यते, मरणस्य सर्वकर्माभिव्यञ्जकत्वात्, स्वगोचराभिव्य-
 ञ्जकप्रदीपवदिति । तदसत्, सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युप-
 गमात्—न हि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे देशकालनिमित्तावरुद्ध-
 त्वात्सर्वास्यनोपमर्दः कस्यचित्कचिदभिव्यक्तिर्वा सर्वात्मनोप-
 पद्यते, तथा कर्मणामपि साश्रयाणां भवेत्— यथा च
 पूर्वानुभूतमनुष्यमयूरमर्कटादिजन्माभिसंस्कृताः विरुद्धानेक-
 वासनाः मर्कटत्वप्रापकेन कर्मणा मर्कटजन्म आरभमाणेन
 नोपमृद्यन्ते—तथा कर्मण्यप्यन्यजन्मप्राप्तिनिमित्तानि नोपमृ-
 द्यन्त इति युक्तम् । यदि हि सर्वाः पूर्वजन्मानुभववासनाः
 उपमृद्येरन्, मर्कटजन्मनिमित्तेन कर्मणा मर्कटजन्मन्यारब्धे
 मर्कटस्य जातमात्रस्य मातुः शाखायाः शाखान्तरगमने
 मातुरुदरसंलग्नत्वादिकौशलं न प्राप्नोति, इह जन्मन्यनभ्य-
 स्तत्वात् । न च अतीतानन्तरजन्मानि मर्कटत्वमेव आसी-
 त्तस्येति शक्यं वक्तुम्, ‘तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्व-
 प्रज्ञा च’ इति श्रुतेः । तस्माद्वासनावन्नाशेषकर्मोपमर्द इति
 शेषकर्मसंभवः । यत एवम्, तस्माच्छेषेणोपभुक्तात्कर्मणः

संसार उपपद्यत इति न कश्चिद्विरोधः ॥

कोऽसावध्वा यं प्रति निवर्तन्त इति, उच्यते— यथेतं यथागतं निवर्तन्ते । ननु मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमिति गमनक्रम उक्तः, न तथा निवृत्तिः; किं तर्हि, आकाशाद्वायुमित्यादि; कथं यथेतमित्युच्यते । नैष दोषः, आकाशप्राप्तेस्तुल्यत्वात्पृथिवीप्राप्तेश्च । न च अत्र यथेतमेवेति नियमः, अनेवंविधमपि निवर्तन्ते; पुनर्निवर्तन्त इति तु नियमः । अत उपलक्षणार्थमेतत्— यद्यथेतमिति । अतो भौतिकमाकाशं तावत्प्रतिपद्यन्ते— यास्तेषां चन्द्रमण्डले शरीरारम्भिका आप आसन्, तास्तेषां तत्रोपभोगनिमित्तानां कर्मणां क्षये विलीयन्ते— घृतसंस्थानमिवाग्नि-संयोगे, ता विलीना अन्तरिक्षस्था आकाशभूता इव सूक्ष्माः भवन्ति । ता अन्तरिक्षाद्वायुर्भवन्ति, वायुप्रतिष्ठा वायुभूता इतश्चासुतश्च ऊह्यमानाः ताभिः सह क्षीणकर्मा वायुभूतो भवति । वायुर्भूत्वा ताभिः सहैव धूमो भवति । धूमो भूत्वा अभ्रम् अब्भरणमात्ररूपो भवति ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु

दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमस्ति यो रेतः
सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

अभ्रं भूत्वा ततः सेचनसमर्थो मेघो भवति; मेघो भूत्वा उन्नतेषु प्रदेशेष्वथ प्रवर्षति; वर्षधारारूपेण शेषकर्मा पततीत्यर्थः । त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इत्येवंप्रकारा जायन्ते; क्षीणकर्मणामनेकत्वात् बहुवचननिर्देशः । मेघादिषु पूर्वेष्वेकरूपत्वात् एकवचननिर्देशः । यस्माद्गिरितटदुर्गनदीसमुद्रारण्यमरुदेशादिसंनिवेशसहस्राणि वर्षधाराभिः पतितानाम्, अतः तस्माद्धेतोः वै खलु दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्क्रमणं दुर्निःसरणम्—यतो गिरितटादुदकस्रोतसोह्यमाना नदीः प्राप्नुवन्ति, ततः समुद्रम्, ततो मकरादिभिर्भक्ष्यन्ते; तेऽप्यन्येन; तत्रैव च सह मकरेण समुद्रे विलीनाः समुद्राम्भोभिर्जलधरैराकृष्टाः पुनर्वर्षधाराभिर्मरुदेशे शिलातटे वा अगम्ये पतितास्तिष्ठन्ति, कदाचिद्ब्यालमृगादिपीता भक्षिताश्चान्यैः तेऽप्यन्यैरित्येवंप्रकाराः परिवर्तेरन्; कदाचिदभक्ष्येषु स्थावरेषु जातास्तत्रैव शुष्येरन्; भक्ष्येष्वपि स्थावरेषु जातानां रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्लभ एव, बहुत्वात्स्थावराणाम्—इत्यतो दुर्निष्क्रमणत्वम् । अथवा अतः अस्माद्ब्रीहियवादिभावात् दुर्निष्प्रपतरं दुर्निर्गमतरम् । दुर्निष्प्रपत-

रमिति तकार एको लुप्तो द्रष्टव्यः; त्रीहियवादिभावो दु-
 निष्प्रपतः, तस्मादपि दुर्निष्प्रपताद्रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्निष्प्र-
 पततर इत्यर्थः; यस्मादूर्ध्वरेतोभिर्बालैः पुंस्त्वरहितैः स्थवि-
 रैर्वा भक्षिता अन्तराले शीर्यन्ते, अनेकत्वादन्नादानाम् ।
 कदाचित्काकतालीयवृत्त्या रेतःसिग्भिर्भक्ष्यन्ते यदा, तदा
 रेतःसिग्भावं गतानां कर्मणो वृत्तिलाभः । कथम् ? यो यो
 हि अन्नमत्ति अनुशयिभिः संश्लिष्टं रेतःसिक्, यश्च रेतः
 सिञ्चति ऋतुकाले योषिति, तद्भूय एव तदाकृतिरेव भवति ;
 तदवयवाकृतिभूयस्त्वं भूय इत्युच्यते रेतोरूपेण योषितो
 गर्भाशयेऽन्तः प्रविष्टोऽनुशयी, रेतसो रेतःसिगाकृतिभावि-
 तत्वात्, 'सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम्' इति हि श्रुत्यन्त-
 रात् । अतो रेतःसिगाकृतिरेव भवतीत्यर्थः । तथा हि—
 पुरुषात्पुरुषो जायते गोर्गवाकृतिरेव न जात्यन्तराकृतिः,
 तस्माद्युक्तं तद्भूय एव भवतीति ॥

ये त्वन्ये अनुशयिभ्यश्चन्द्रमण्डलमनारुह्य इहैव पापकर्म-
 भिर्घोरैर्त्रीहियवादिभावं प्रतिपद्यन्ते, पुनर्मनुष्यादिभावम्,
 तेषां नानुशयिनामिव दुर्निष्प्रपतरम् । कस्मात् ? कर्मणा हि
 तैर्त्रीहियवादिदेह उपात्त इति तदुपभोगनिमित्तश्रये त्रीह्यादि-
 स्तम्बदेहविनाशे यथाकर्माजितं देहान्तरं नवं नवं जल्लकाव-

त्संक्रमन्ते सविज्ञाना एव 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमे-
वान्ववक्रामति' इति श्रुत्यन्तरात् । यद्यप्युपसंहृतकरणाः
सन्तो देहान्तरं गच्छन्ति, तथापि स्वप्नवत् देहान्तरप्राप्तिनि-
मित्तकर्मोद्भावितावासनाज्ञानेन सविज्ञाना एव देहान्तरं
गच्छन्ति, श्रुतिप्रामाण्यात् । तथा अर्चिरादिना धूमादिना
च गमनं स्वप्न इवोद्भूतविज्ञानेन, लब्धवृत्तिकर्मनिमित्तत्वा-
द्गमनस्य । न तथा अनुशयिनां ब्रह्मादिभावेन जातानां
सविज्ञानमेव रेतःसिग्योषिदेहसंबन्ध उपपद्यते, न हि
ब्रह्मादिलवनकण्डनपेषणादौ च सविज्ञानानां स्थितिरस्ति ।
ननु चन्द्रमण्डलादप्यवरोहतां देहान्तरगमनस्य तुल्यत्वात्
जल्लूकावत्सविज्ञानतैव युक्ता, तथा सति घोरो नरका-
नुभव इष्टापूर्तादिकारिणां चन्द्रमण्डलादारभ्य प्राप्तो याव-
द्ब्राह्मणादिजन्म ; तथा च सति, अनर्थायैव इष्टापूर्-
ताद्युपासनं विहितं स्यात् ; श्रुतेश्च अप्रामाण्यं प्राप्तम्,
वैदिकानां कर्मणाम् अनर्थानुबन्धित्वात् । न, वृक्षारोहण-
पतनवद्विशेषसंभवात्— देहादेहान्तरं प्रतिपित्सोः कर्मणो
लब्धवृत्तित्वात् कर्मणोद्भावितेन विज्ञानेन सविज्ञानत्वं यु-
क्तम्— वृक्षाग्रमारोहत इव फलं जिघृक्षोः । तथा अर्चिरा-
दिना गच्छतां सविज्ञानत्वं भवेत् ; धूमादिना च चन्द्रमण्ड-

लमारुरुक्षताम् । न तथा चन्द्रमण्डलादवरुरुक्षतां वृक्षाग्रा-
 दिव पततां सचेतनत्वम्— यथा च मुद्रराद्यभिहतानां तद-
 भिघातवेदनानिमित्तसंमूर्छितप्रतिबद्धकरणानां स्वदेहेनैव दे-
 शादेशान्तरं नीयमानानां विज्ञानशून्यता दृष्टा, तथा चन्द्र-
 मण्डलात् मानुषादिदेहान्तरं प्रति अवरुरुक्षतां स्वर्गभोग-
 निमित्तकर्मक्षयात् मृदिताब्देहानां प्रतिबद्धकरणानाम् ।
 अतः ते अपरित्यक्तदेहबीजभूताभिरद्भिः मूर्छिता इव आका-
 शादिक्रमेण इमामवरुह्य कर्मनिमित्तजातिस्थावरदेहैः संश्लि-
 ष्यन्ते प्रतिबद्धकरणतया अनुद्भूतविज्ञाना एव । तथा लवन-
 कण्डनपेषणसंस्कारभक्षणरसादिपरिणामरेतःसेककालेषु मू-
 र्छितवदेव, देहान्तरारम्भकस्य कर्मणोऽलब्धवृत्तित्वात् । देह-
 बीजभूताप्संबन्धापरित्यागेनैव सर्वास्ववस्थासु वर्तन्त इति
 जलूकावत् चेतनावत्त्वं न विरुध्यते । अन्तराले त्वविज्ञानं
 मूर्छितवदेवेत्यदोषः । न च वैदिकानां कर्मणां हिंसायुक्तत्वे-
 नोभयहेतुत्वं शक्यमनुमातुम्, हिंसायाः शास्त्रचोदितत्वात् ।
 ‘अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः’ इति श्रुतेः शास्त्रचोदि-
 ताया हिंसाया न अधर्महेतुत्वमभ्युपगम्यते । अभ्युपगतेऽप्य-
 धर्महेतुत्वे मन्त्रैर्विषादिवत् तदपनयोपपत्तेः न दुःखकार्यारम्भ-
 णोपपत्तिः वैदिकानां कर्मणाम्— मन्त्रेणेव विषभक्षणस्येति ॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह
 यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं
 वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य
 इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपू-
 यां योनिमापद्येरब्ध्वयोनिं वा सूकरयोनिं
 वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥

तत् तत्र तेष्वनुशयिनां ये इह लोके रमणीयं शोभनं
 चरणं शीलं येषां ते रमणीयचरणेनोपलक्षितः शोभनोऽनु-
 शयः पुण्यं कर्म येषां ते—रमणीयचरणाः उच्यन्ते; क्रौर्या-
 नृतमायावर्जितानां हि शक्य उपलक्षयितुं शुभानुशयस-
 द्भावः; तेनानुशयेन पुण्येन कर्मणा चन्द्रमण्डले भुक्तशेषेण
 अभ्याशो ह क्षिप्रमेव, यदिति क्रियाविशेषणम्, ते रमणी-
 यां क्रौर्यादिवर्जितां योनिमापद्येरन् प्राप्नुयुः ब्राह्मणयोनिं वा
 क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा स्वकर्मानुरूपेण । अथ पुनर्ये
 तद्विपरीताः कपूयचरणोपलक्षितकर्माणः अशुभानुशया अ-
 भ्याशो ह यत्ते कपूयां यथाकर्म योनिमापद्येरन् कपूयामेव
 धर्मसंबन्धवर्जितां जुगुप्सितां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा
 सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा स्वकर्मानुरूपेणैव ॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमा-
 नि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भव-
 न्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं
 तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्से-
 त तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

ये तु रमणीयचरणा द्विजातयः, ते स्वकर्मस्थाश्चेदिष्टा-
 दिकारिणः, ते धूमादिगत्या गच्छन्त्यागच्छन्ति च पुनः
 पुनः, घटीयन्त्रवत् । विद्यां चेत्प्राप्नुयुः, तदा अर्चिरादिना
 गच्छन्ति ; यदा तु न विद्यासेविनो नापि इष्टादिकर्म सेवन्ते,
 तदा अथैतयोः पथोः यथोक्तयोरर्चिर्धूमादिलक्षणयोः न कत-
 रेण अन्यतरेण चनापि यन्ति । तानीमानि भूतानि क्षुद्राणि
 दंशमशककीटादीन्यसकृदावर्तीनि भवन्ति । अतः उभयमा-
 र्गपरिभ्रष्टा हि असकृज्जायन्ते म्रियन्ते च इत्यर्थः । तेषां ज-
 ननमरणसंततेरनुकरणमिदमुच्यते । जायस्व म्रियस्व इति
 ईश्वरनिमित्तचेष्टा उच्यते । जननमरणलक्षणेनैव कालयापना
 भवति, न तु क्रियासु शोभनेषु भोगेषु वा कालोऽस्तीत्यर्थः ।
 एतत् क्षुद्रजन्तुलक्षणं तृतीयं पूर्वोक्तौ पन्थानावपेक्ष्य स्थानं
 संसरताम्, येनैवं दक्षिणमार्गगा अपि पुनरागच्छन्ति,

अनधिकृतानां ज्ञानकर्मणोरगमनमेव दक्षिणेन पथेति, ते-
 नासौ लोको न संपूर्यते । पञ्चमस्तु प्रश्नः पञ्चाग्निविद्यया
 व्याख्यातः । प्रथमो दक्षिणोत्तरमार्गाभ्यामपाकृतः । दक्षिणो-
 त्तरयोः पथोर्व्यावर्तनापि—मृतानामग्नौ प्रक्षेपः समानः, ततो
 व्यावर्त्य अन्येऽर्चिरादिना यन्ति, अन्ये धूमादिना, पुनरुत्तर-
 दक्षिणायने षण्मासान्प्राप्नुवन्तः संयुज्य पुनर्व्यावर्तन्ते, अन्ये
 संवत्सरमन्ये मासेभ्यः पितृलोकम्—इति व्याख्याता । पुन-
 रावृत्तिरपि क्षीणानुशयानां चन्द्रमण्डलादाकाशादिक्रमेण उ-
 क्ता । अमुष्य लोकख्यापूरणं स्वशब्देनैवोक्तम्—तेनासौ लोको न
 संपूर्यत इति । यस्मादेवं कष्टा संसारगतिः, तस्माज्जुगुप्सेत ।
 यस्माच्च जन्ममरणजनितवेदनानुभवकृतक्षणाः क्षुद्रजन्तवो
 ध्वान्ते च घोरे दुस्तरे प्रवेशिताः—सागर इव अगाधेऽप्लवे
 निराशाश्चोत्तरणं प्रति, तस्माच्चैवंविधां संसारगतिं जुगुप्सेत
 बीभत्सेत घृणी भवेत्—मा भूदेवंविधे संसारमहोदधौ
 घोरे पात इति । तदेतस्मिन्नर्थे एषः श्लोकः पञ्चाग्निविद्या-
 स्तुतये ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिब५श्च गुरो-
 स्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः
 पञ्चमश्चाचर५स्तैरिति ॥ ९ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता, सुरां पिबन् ब्राह्मणः सन्, गुरोश्च तल्पं दारानावसन्, ब्रह्महा ब्राह्मणस्य हन्ता चेत्येते पतन्ति चत्वारः । पञ्चमश्च तैः सह आचरन्ति ॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥

इति दशमः खण्डः ॥

अथ ह पुनः यो यथोक्तान्पञ्चाग्नीन्वेद, स तैरप्याचरन् महापातकिभिः सह न पाप्मना लिप्यते, शुद्ध एव । तेन पञ्चाग्निदर्शनेन पावितः यस्मात्पूतः, पुण्यो लोकः प्राजापत्यादिर्यस्य सोऽयं पुण्यलोकः भवति; य एवं वेद यथोक्तं समस्तं पञ्चभिः प्रश्नैः पृष्ठमर्थजातं वेद । द्विरुक्तिः समस्तप्रश्ननिर्णयप्रदर्शनार्था ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥

एकादशः खण्डः ॥

दक्षिणेन पथा गच्छतामन्नभाव उक्तः—‘तद्देवानामन्नम्’
‘तं देवा भक्षयन्ति’ इति ; क्षुद्रजन्तुलक्षणा च कष्टा संसार-
गतिरुक्ता । तदुभयदोषपरिजिहीर्षया वैश्वानरात्तृभावप्रति-
पत्त्यर्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते, ‘अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्’
इत्यादिलिङ्गात् । आख्यायिका तु सुखावबोधार्था विद्यासंप्र-
दानन्यायप्रदर्शनार्था च—

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः
पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्क-
राक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महा-
शाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमां-
सां चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

प्राचीनशाल इति नामतः, उपमन्योरपत्यमौपमन्यवः ।
सत्ययज्ञो नामतः, पुलुषस्यापत्यं पौलुषिः । तथेन्द्रद्युम्नो
नामतः, भल्लवेरपत्यं भाल्लविः तस्यापत्यं भाल्लवेयः । जन
इति नामतः, शर्कराक्षस्यापत्यं शार्कराक्ष्यः । बुडिलो
नामतः, अश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वतराश्विः । पञ्चापि ते हैते
महाशालाः महागृहस्था विस्तीर्णाभिः शालाभिर्युक्ताः संपन्ना
इत्यर्थः, महाश्रोत्रियाः श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्ना इत्यर्थः, ते एवं-

भूताः सन्तः समेत्य संभूय क्वचित् मीमांसां विचारणां चक्रुः कृतवन्त इत्यर्थः । कथम् ? को नः अस्माकमात्मा किं ब्रह्म—इति ; आत्मब्रह्मशब्दयोरितरेतरविशेषणविशेष्यत्वम् । ब्रह्मेति अध्यात्मपरिच्छिन्नमात्मानं निवर्तयति, आत्मेति च आत्मव्यतिरिक्तस्य आदित्यादिब्रह्मण उपास्यत्वं निवर्तयति । अभेदेन आत्मैव ब्रह्म ब्रह्मैव आत्मेत्येवं सर्वात्मा वैश्वानरो ब्रह्म स आत्मेत्येतत्सिद्धं भवति, ‘मूर्धा ते व्यपतिष्यत्’ ‘अन्धोऽभविष्यः’ इत्यादिलिङ्गात् ॥

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगव-
न्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वा-
नरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छामेति तं
हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

ते ह मीमांसन्तोऽपि निश्चयमलभमानाः संपादयांचक्रुः संपादितवन्तः आत्मन उपदेष्टारम् । उद्दालको वै प्रसिद्धो नामतः, भगवन्तः पूजावन्तः, अयमारुणिः अरुणस्यापत्यं संप्रति सम्यगिममात्मानं वैश्वानरम् अस्मदभिप्रेतमध्येति स्मरति । तं हन्त इदानीमभ्यागच्छाम इत्येवं निश्चित्य तं ह अभ्याजग्मुः गतवन्तः तम् आरुणिम् ॥

स ह संपादयांचकार प्रक्षयन्ति मा-

मिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न
सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनु-
शासानीति ॥ ३ ॥

स ह तान् दृष्ट्वैव तेषामागमनप्रयोजनं बुद्ध्वा संपादयां-
चकार । कथम् ? प्रक्षयन्ति मां वैश्वानरम् इमे महाशालाः
महाश्रोत्रियाः, तेभ्योऽहं न सर्वमिव पृष्टं प्रतिपत्स्ये वक्तुं
नोत्सहे ; अतः हन्ताहमिदानीमन्यम् एषामभ्यनुशासानि
वक्ष्याम्युपदेष्टारमिति ॥

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैके-
यः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं
हन्ताभ्यागच्छामेति तं हाभ्याजग्मुः ॥

एवं संपाद्य तान् ह उवाच— अश्वपतिर्वै नामतः भग-
वन्तः अयं केकयस्यापत्यं कैकेयः संप्रति सम्यगिममात्मानं
वैश्वानरमध्येतीत्यादि समानम् ॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयां-
चकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे
स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नाना-
हिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो
यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदे-

कैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भ-
गवद्भयो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥

तेभ्यो ह राजा प्राप्तेभ्यः पृथक्पृथग्दर्शाणि अर्हणानि
पुरोहितैर्भृत्यैश्च कारयांचकार कारितवान् । स ह अन्येद्युः
राजा प्रातः संजिहान उवाच विनयेन उपगम्य—एतद्धनं
मत्त उपादध्वमिति । तैः प्रत्याख्यातो मयि दोषं पश्यन्ति
नूनम्, यतो न प्रतिगृह्णन्ति मत्तो धनम् इति मन्वानः
आत्मनः सद्वृत्ततां प्रतिपिपादयिषन्नाह— न मे मम जनपदे
स्तेनः परस्वहर्ता विद्यते; न कदर्यः अदाता सति विभवे;
न मद्यपः द्विजोत्तमः सन्; न अनाहिताग्निः शतगुः; न
अविद्वान् अधिकारानुरूपम्; न स्वैरी परदारेषु गन्ता;
अत एव स्वैरिणी कुतः दुष्टचारिणी न संभवतीत्यर्थः ।
तैश्च न वयं धनेनार्थिन इत्युक्तः आह— अल्पं मत्वा एते
धनं न गृह्णन्तीति, यक्ष्यमाणो वै कतिभिरहोभिरहं हे भगव-
न्तोऽस्मि । तदर्थं क्लृप्तं धनं मया यावदेकैकस्मै यथोक्तम्
ऋत्विजे धनं दास्यामि, तावत् प्रत्येकं भगवद्भयोऽपि दा-
स्यामि । वसन्तु भगवन्तः, पश्यन्तु च मम यागम् ॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्त५ हैव
वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानर५ संप्रत्यध्येषि

तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥

इत्युक्ताः ते ह ऊचुः— येन ह एव अर्थेन प्रयोजनेन यं प्रति चरेत् गच्छेत् पुरुषः, तं ह एवार्थं वदेत् । इदमेव प्रयोजनमागमनस्येत्ययं न्यायः सताम् । वयं च वैश्वानर-
ज्ञानार्थिनः । आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि सम्यग्जा-
नासि । अतस्तमेव नः अस्मभ्यं ब्रूहि ॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते
ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे ता-
न्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥ ७ ॥

इत्युक्तः तान् ह उवाच । प्रातः वः युष्मभ्यं प्रतिवक्तास्मि
प्रतिवाक्यं दातास्मीत्युक्ताः ते ह राज्ञोऽभिप्रायज्ञाः समि-
त्पाणयः समिद्भारहस्ताः अपरेद्युः पूर्वाह्णे राजानं प्रतिचक्र-
मिरे गतवन्तः । यत एवं महाशालाः महाश्रोत्रियाः ब्रा-
ह्मणाः सन्तः महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्भारहस्ताः
जातितो हीनं राजानं विद्यार्थिनः विनयेनोपजग्मुः । तथा
अन्यैर्विद्योपादित्सुभिर्भवितव्यम् । तेभ्यश्च अदाद्विद्याम् अ-
नुपनीयैः उपनयनमकृत्वैव तान् । यथा योग्येभ्यो विद्या-
मदात्, तथा अन्येनापि विद्या दातव्येति आख्यायिकार्थः ।
एतद्वैश्वानरविज्ञानमुवाचेति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वादशः खण्डः ॥

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति
दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै
सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मान-
मुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले
दृश्यते ॥ १ ॥

स कथमुवाचेति, आह— औपमन्यव हे कम् आत्मानं
वैश्वानरं त्वमुपास्से इति पप्रच्छ । नन्वयमन्यायः—आचार्यः
सन् शिष्यं पृच्छतीति । नैष दोषः, ‘यद्वेत्थ तेन मोपसीद
ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि’ इति न्यायदर्शनात् । अन्यत्राप्याचा-
र्यस्य अप्रतिभानवति शिष्ये प्रतिभोत्पादनार्थः प्रश्नो दृष्टोऽजा-
तशत्रोः, ‘कैष तदाभूत्कुत एतदागात्’ इति । दिवमेव द्युलो-
कमेव वैश्वानरमुपासे भगवो राजन् इति ह उवाच । एष वै
सुतेजाः शोभनं तेजो यस्य सोऽयं सुतेजा इति प्रसिद्धो
वैश्वानर आत्मा, आत्मनः अवयवभूतत्वात् । यं त्वम् आ-
त्मानम् आत्मैकदेशम् उपास्से, तस्मात् सुतेजसो वैश्वानरस्य

उपासनात् तव सुतमभिषुतं सोमरूपं कर्मणि प्रसुतं प्रकर्षेण
च सुतम् आसुतं च अहर्गणादिषु तव कुले दृश्यते ; अतीव
कर्मिणस्त्वत्कुलीना इत्यर्थः ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमन्यन्नं पश्यति
प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमे-
वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष
आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपति-
ष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

अत्स्यन्नं दीप्ताग्निः सन् पश्यसि च पुत्रपौत्रादि प्रिय-
मिष्टम् । अन्योऽप्यन्यन्नं पश्यति च प्रियं भवत्यस्य सुतं
प्रसुतमासुतमित्यादि कर्मित्वं ब्रह्मवर्चसं कुले, यः कश्चित्
एतं यथोक्तम् एवं वैश्वानरमुपास्ते । मूर्धा त्वात्मनो
वैश्वानरस्य एष न समस्तो वैश्वानरः । अतः समस्तबुद्ध्या
वैश्वानरस्योपासनात् मूर्धा शिरस्ते विपरीतग्राहिणो व्यप-
तिष्यत् विपतितमभविष्यत् यत् यदि मां नागतोऽभवि-
ष्यः । साध्वकार्षीः यन्मामागतोऽसीत्यभिप्रायः ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

तयोदशः खण्डः ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीन-
योग्यं कं त्वमात्मानमुपास्से इत्यादित्यमेव
भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप
आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से
तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम्—हे प्राचीनयोग्यं कं त्वमा-
त्मानमुपास्से इति ; आदित्यमेव भगवो राजन् इति ह उवाच ।
शुक्लनीलादिरूपत्वाद्विश्वरूपत्वमादित्यस्य, सर्वरूपत्वाद्वा, सर्वा-
णि रूपाणि हि त्वाष्ट्राणि यतः, अतो वा विश्वरूप आदित्यः ; त-
दुपासनात् तव बहु विश्वरूपमिहामुन्नार्थमुपकरणं दृश्यते कुले ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं
पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्य-
स्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वै-
श्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेत्तदात्मन इति होवा-
चान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥

किंच त्वामनु प्रवृत्तः अश्वतरीभ्यां युक्तो रथोऽश्वतरी-
रथः दासीनिष्को दासीभिर्युक्तो निष्को हारो दासीनिष्कः ।
अत्स्यन्नमित्यादि समानम् । चक्षुर्वैश्वानरस्य तु सविता ।
तस्य समस्तबुद्धयोपासनात् अन्धोऽभविष्यः चक्षुर्हीनोऽभ-
विष्यः यन्मां नागमिष्य इति पूर्ववत् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्र-
पद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव
भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्व-
र्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से
तस्मात्त्वां पृथग्वलय आयन्ति पृथग्रथश्रे-
णयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥

अथ ह उवाच इन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम्— वैयाघ्रपद्य कं त्व-
मात्मानमुपास्से इत्यादि समानम् । पृथग्वर्त्मा नाना वर्त्मानि
यस्य वायोरावहोद्वहादिभिर्भेदैः वर्तमानस्य सोऽयं पृथग्व-
र्त्मा वायुः । तस्मात् पृथग्वर्त्मात्मनो वैश्वानरस्योपासनात् पृथ-
क् नानादिक्काः त्वां बलयः वस्त्रानादिलक्षणा बलयः आयन्ति
आगच्छन्ति । पृथग्रथश्रेणयः रथपङ्क्तयोऽपि त्वामनुयन्ति ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति
प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमे-
वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष
आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमि-
ष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अत्स्यन्नमित्यादि समानम् । प्राणस्त्वेष आत्मन इति ह
उवाच । प्राणस्ते तव उदक्रमिष्यन् उत्क्रान्तोऽभविष्यन्,
यन्मां नागमिष्य इति ॥

पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ होवाच जनः शार्कराक्ष्य कं त्व-
मात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो
राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वै-
श्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं
बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥

अथ ह उवाच जनमित्यादि समानम् । एष वै बहुल
आत्मा वैश्वानरः । बहुलत्वमाकाशस्य सर्वगतत्वात् बहुल-
गुणोपासनाच्च । त्वं बहुलोऽसि प्रजया च पुत्रपौत्रादिलक्ष-
णया धनेन च हिरण्यादिना ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति
प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमे-
वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष
आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्य-
यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

संदेहस्त्वेष संदेहः मध्यमं शरीरं वैश्वानरस्य । दिहेरुप-
चयार्थत्वात् मांसरुधिरास्थ्यादिभिश्च बहुलं शरीरं तत्संदेहः ते
तव शरीरं व्यशीर्यत् शीर्णमभविष्यत् यन्मां नागमिष्य इति ॥

इति पञ्चदशखण्डभाष्यम् ।

षोडशः खण्डः ॥

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वै-
याघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप
एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयि-
रात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से
तस्मात्त्व५ रयिमान्पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

अथ ह उवाच बुडिलमाश्वतराश्विमित्यादि समानम् ।
एष वै रयिरात्मा वैश्वानरो धनरूपः । अञ्घ्रोऽन्नं ततो
धनमिति । तस्माद्रयिमान् धनवान् त्वं पुष्टिमांश्च शरीरेण
पुष्टेश्चान्ननिमित्तत्वात् ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति
प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमे-
वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष
आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्स्य-
द्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति षोडशः खण्डः ॥

बस्तिस्त्वेष आत्मनो वैश्वानरस्य, बस्तिः मूत्रसंग्रहस्थानम्,
बस्तिस्ते व्यभेत्स्यत् भिन्नोऽभविष्यत् यन्मां नागमिष्य इति ॥

इति षोडशखण्डभाष्यम् ॥

सप्तदशः खण्डः ॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं
त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भग-
वो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वै-
श्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं
प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमन्त्यन्नं पश्य-
ति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य
एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ
त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्य-
म्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

अथ ह उवाच उद्दालकमित्यादि समानम् । पृथिवीमेव
भगवो राजन्निति ह उवाच । एष वै प्रतिष्ठा पादौ वैश्वा-
नरस्य । पादौ ते व्यम्लास्येतां विम्लानावभविष्यतां ऋथी-
भूतौ यन्मां नागमिष्य इति ॥

इति सप्तदशखण्डभाष्यम् ॥

अष्टादशः खण्डः ॥

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेम-
मात्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्थ य-
स्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मा-
नं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु स-
र्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

तान् यथोक्तवैश्वानरदर्शनवतो ह उवाच— एते यूयम्, वै
खल्वित्यनर्थकौ, यूयं पृथगिव अपृथक्सन्तमिममेकं वैश्वानर-
मात्मानं विद्वांसः अन्नमत्थ, परिच्छिन्नात्मबुद्धयेत्येतत्—हस्ति-
दर्शन इव जात्यन्धाः । यस्त्वेतमेवं यथोक्तावयवैः शुमूर्धादिभिः
पृथिवीपादान्तैर्विशिष्टमेकं प्रादेशमात्रं प्रादेशैः शुमूर्धादिभिः
पृथिवीपादान्तैः अध्यात्मं मीयते ज्ञायत इति प्रादेशमात्रम् ।
मुखादिषु वा करणेष्वत्तत्त्वेन मीयत इति प्रादेशमात्रः । द्युलोका-
दिपृथिव्यन्तप्रदेशपरिमाणो वा प्रादेशमात्रः । प्रकर्षेण शास्त्रेण
आदिश्यन्त इति प्रादेशा द्युलोकादय एव तावत्परिमाणः प्रादे-
शमात्रः । शाखान्तरे तु मूर्धादिश्चिबुकप्रतिष्ठ इति प्रादेशमात्रं
कल्पयन्ति । इह तु न तथा अभिप्रेतः, 'तस्य ह वा एतस्या-

त्मनः' इत्याद्युपसंहारात् । प्रत्यगात्मतया अभिविमीयतेऽहमिति ज्ञायत इत्यभिविमानः तमेतमात्मानं वैश्वानरम्—विश्वान्न-
रान्नयति पुण्यपापानुरूपां गतिं सर्वात्मैष ईश्वरो वैश्वानरः, वि-
श्वो नर एव वा सर्वात्मत्वात्, विश्वैर्वा नरैः प्रत्यगात्मतया प्र-
विभज्य नीयत इति वैश्वानरः तमेवमुपास्ते यः, सोऽदन् अ-
न्नादी सर्वेषु लोकेषु द्युलोकादिषु सर्वेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वे-
ष्वात्मसु शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिषु, तेषु हि आत्मकल्पनाव्यप-
देशः, प्राणिनामन्नमत्ति, वैश्वानरवित्सर्वात्मा सन् अन्नमत्ति ।
न यथा अन्नः पिण्डमात्राभिमानः सन् इत्यर्थः ॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य
मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथ-
ग्वत्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः
पृथिव्येव पादावुर एव वेदिलोमानि ब-
र्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन
आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

इति अष्टादशः खण्डः ॥

कस्मादेवम्? यस्मात्तस्य ह वै प्रकृतस्यैव एतस्य आ-
त्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथ-

ग्वर्त्मात्मा संदेहः बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ ।
 अथवा विध्यर्थमेतद्वचनम्—एवमुपास्य इति । अथेदानीं वै-
 श्वानरविदो भोजनेऽग्निहोत्रं संपिपादयिषन् आह— एतस्य
 वैश्वानरस्य भोक्तुः उर एव वेदिः, आकारसामान्यात् ।
 लोमानि बर्हिः, वेद्यामिवोरसि लोमान्यास्तीर्णानि दृश्यन्ते ।
 हृदयं गार्हपत्यः, हृदयाद्धि मनः प्रणीतमिवानन्तरी भवति ;
 अतोऽन्वाहार्यपचनोऽग्निः मनः । आस्यं मुखमाहवनीय
 इव आहवनीयो हूयतेऽस्मिन्नन्नमिति ॥

इति अष्टादशखण्डभाष्यम् ॥

एकोनविंशः खण्डः ॥

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स
यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्रा-
णाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

तत् तत्रैवं सति यद्भक्तं प्रथमं भोजनकाले आगच्छेद्भो-
जनार्थम्, तद्धोमीयं तद्धोतव्यम्, अग्निहोत्रसंपन्मात्रस्य वि-
वक्षितत्वान्नाग्निहोत्राङ्गेतिकर्तव्यताप्राप्तिरिह; स भोक्ता यां
प्रथमामाहुतिं जुहुयात्, तां कथं जुहुयादिति, आह— प्रा-
णाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण; आहुतिशब्दात् अवदानप्रमाणमन्नं
प्रक्षिपेदित्यर्थः । तेन प्राणस्तृप्यति ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि
तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौ-
स्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौ-
श्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु-
तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन

तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

इति एकोनविंशः खण्डः ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति, चक्षुषि तृप्यति आदित्यो
द्यौश्चेत्यादि तृप्यति, यच्चान्यत् द्यौश्च आदित्यश्च स्वामित्वेना-
धितिष्ठतः तच्च तृप्यति, तस्य तृप्तिमनु स्वयं भुञ्जानः तृप्यति
एवं प्रत्यक्षम् । किं च प्रजादिभिश्च । तेजः शरीरस्था
दीप्तिः उज्ज्वलत्वं प्रागल्भ्यं वा, ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्याय-
निमित्तं तेजः ॥

इति एकोनविंशखण्डभाष्यम् ॥

विंशः खण्डः ॥

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुया-
द्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे
तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृ-
प्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु
यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति
तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया
पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥

इति विंशः खण्डः ॥

एकविंशः खण्डः ॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयाद-
पानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि
तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी
तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथि-
वी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु
तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेज-
सा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

इति एकविंशः खण्डः ॥

द्वाविंशः खण्डः ॥

अथ यां चतुर्थी जुहुयात्तां जुहुयात्स-
मानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि
तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति
विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच
विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तृप्यति त-
स्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्ना-
द्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

इति द्वाविंशः खण्डः ॥

त्रयोविंशः खण्डः ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादु-
दानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृ-
प्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याका-
शस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायु-
श्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तृप्यति तस्यानु
तृप्तिं प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्र-
ह्मवर्चसेन ॥ २ ॥

अथ यां द्वितीयां तृतीयां चतुर्थीं पञ्चमीमिति समानम् ॥

इति त्रयोविंशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्विंशः खण्डः ॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति
यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्त-
त्स्यात् ॥ १ ॥

स यः कश्चित् इदं वैश्वानरदर्शनं यथोक्तम् अविद्वान्सन्
अग्निहोत्रं प्रसिद्धं जुहोति, यथा अङ्गारानाहुतियोग्यानपो-
ह्यानाहुतिस्थाने भस्मनि जुहुयात्, तादृक् तत्तुल्यं तस्य तद-
ग्निहोत्रहवनं स्यात्, वैश्वानरविदः अग्निहोत्रमपेक्ष्य— इति
प्रसिद्धाग्निहोत्रनिन्दया वैश्वानरविदोऽग्निहोत्रं स्तूयते ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति
तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व-
त्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥

अतश्च एतद्विशिष्टमग्निहोत्रम् । कथम् ? अथ य एतदेवं
विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति, तस्य यथोक्तवैश्वानरविज्ञानवतः

सर्वेषु लोकेष्वित्याद्युक्तार्थम् , हुतम् अन्नमस्ति इत्यनयोरेकार्थ-
त्वात् ॥

तद्यथेष्ठीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव ५
हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं
विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

किंच तद्यथा इष्ठीकायास्तूलम् अग्नौ प्रोतं प्रक्षिप्तं प्रदू-
येत प्रदह्येत क्षिप्रम् , एवं ह अस्य विदुषः सर्वात्मभूतस्य सर्वा-
न्नानामत्तुः सर्वे निरवशिष्टाः पाप्मानः धर्माधर्माख्याः अने-
कजन्मसंचिताः इह च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः ज्ञानसहभाविनश्च
प्रदूयन्ते प्रदह्येरन् वर्तमानशरीरारम्भकपाप्मवर्जम् ; लक्ष्यं
प्रति मुक्तेषुवत् प्रवृत्तफलत्वात् तस्य न दाहः । य एतदेवं
विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति मुञ्जे ॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छि-
ष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हु-
तः स्यादिति तदेष श्लोकः ॥ ४ ॥

स यद्यपि चण्डालाय उच्छिष्टानर्हाय उच्छिष्टं दद्यात्
प्रतिषिद्धमुच्छिष्टदानं यद्यपि कुर्यात् , आत्मनि हैव अस्य
चण्डालदेहस्थे वैश्वानरे तद्भुतं स्यात् न अधर्मनिमित्तम्—

इति विद्यामेव स्तौति । तदेतस्मिन्स्तुत्यर्थे श्लोकः मन्त्रोऽप्येष भवति ॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत
एव५ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत
इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

इति चतुर्विंशः खण्डः ॥

यथा इह लोके क्षुधिता बुभुक्षिता बाला मातरं पर्युपासते—कदा नो माता अन्नं प्रयच्छतीति, एवं सर्वाणि भूतान्यन्नादानि एवंविदः अग्निहोत्रं भोजनमुपासते—कदा त्वसौ भोक्ष्यत इति, जगत्सर्वं विद्वद्भोजनेन तृप्तं भवतीत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥

इति चतुर्विंशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम् षष्ठोऽध्यायः

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

—*—



तकेतुः ह आरुणेय आस इत्याद्यध्यायसं-
बन्धः— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्'
इत्युक्तम्, कथं तस्मात् जगदिदं जायते तस्मि-
न्नेव च लीयते अनिति च तेनैव इत्येतद्वक्त-
व्यम् । अनन्तरं च एकस्मिन्भुक्ते विदुषि सर्वं जगत्तृप्तं
भवतीत्युक्तम्, तत् एकत्वे सति आत्मनः सर्वभूतस्थस्य उप-
पद्यते, न आत्मभेदे; कथं च तदेकत्वमिति तदर्थोऽयं षष्ठो-
ऽध्याय आरभ्यते—

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस त५ ह पितो-
वाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सो-
म्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भ-
वतीति ॥ १ ॥

पितापुत्राख्यायिका विद्यायाः सारिष्ठत्वप्रदर्शनार्था ।
श्वेतकेतुरिति नामतः, ह इत्यैतिह्यार्थः, आरुणेयः अरुणस्य

पौत्रः आस बभूव । तं पुत्रं ह आरुणिः पिता योग्यं
विद्याभाजनं मन्वानः तस्योपनयनकालात्ययं च पश्यन्
उवाच— हे श्वेतकेतो अनुरूपं गुरुं कुलस्य नो गत्वा वस
ब्रह्मचर्यम् ; न च एतद्युक्तं यदस्मत्कुलीनो हे सोम्य अननूच्य
अनधीत्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ब्राह्मणान्वन्धून्व्यपदिशति
न स्वयं ब्राह्मणवृत्त इति । तस्य अतः प्रवासो अनुमीयते
पितुः, येन स्वयं गुणवान्सन् पुत्रं नोपनेष्यति ॥

**स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशति-
वर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचा-
नमानी स्तब्ध एयाय तं ह पितोवाच ॥**

सः पित्रोक्तः श्वेतकेतुः ह द्वादशवर्षः सन् उपेत्य आ-
चार्यं यावच्चतुर्विंशतिवर्षो बभूव, तावत् सर्वान्वेदान् चतुरो-
ऽप्यधीत्य तदर्थं च बुद्ध्वा महामनाः महत् गम्भीरं मनः
यस्य असममात्मानमन्यैर्मन्यमानं मनः यस्य सोऽयं महा-
मनाः अनूचानमानी अनूचानमात्मानं मन्यत इति एवं-
शीलो यः सोऽनूचानमानी स्तब्धः अप्रणतस्वभावः एयाय
गृहम् । तम् एवंभूतं ह आत्मनोऽननुरूपशीलं स्तब्धं
मानिनं पुत्रं दृष्ट्वा पितोवाच सद्धर्मावतारचिकीर्षया ॥

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनू-
 चानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः
 येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं
 विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो
 भवतीति ॥ ३ ॥

श्वेतकेतो यन्नु इदं महामनाः अनूचानमानी स्तब्धश्चासि,
 कस्तेऽतिशयः प्राप्तः उपाध्यायात्, उत अपि तमादेशं आदि-
 श्यत इत्यादेशः केवलशास्त्राचार्योपदेशगम्यमित्येतत्, येन वा
 परं ब्रह्म आदिश्यते स आदेशः तमप्राक्ष्यः पृष्ठवानस्याचा-
 र्यम्? तमादेशं विशिनष्टि— येन आदेशेन श्रुतेन अश्रुतमपि
 अन्यच्छ्रुतं भवति अमतं मतम् अतर्कितं तर्कितं भवति
 अविज्ञातं विज्ञातं अनिश्चितं निश्चितं भवतीति । सर्वानपि
 वेदानधीत्य सर्वं च अन्यद्वेद्यमधिगम्यापि अकृतार्थ एव
 भवति यावदात्मतत्त्वं न जानातीत्याख्यायिकातोऽवगम्यते ।
 तदेतदद्भुतं श्रुत्वा आह, कथं नु एतदप्रसिद्धम् अन्यविज्ञाने-
 नान्यद्विज्ञातं भवतीति; एवं मन्वानः पृच्छति— कथं नु
 केन प्रकारेण हे भगवः स आदेशो भवतीति ॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्म-

यं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

यथा स आदेशो भवति तच्छृणु हे सोम्य—यथा लोके
एकेन मृत्पिण्डेन रुचककुम्भादिकारणभूतेन विज्ञातेन सर्व-
मन्यत्तद्विकारजातं मृन्मयं मृद्विकारजातं विज्ञातं स्यात् ।
कथं मृत्पिण्डे कारणे विज्ञाते कार्यमन्यद्विज्ञातं स्यात् ?
नैष दोषः, कारणेनानन्यत्वात्कार्यस्य । यन्मन्यसे अन्य-
स्मिन्विज्ञातेऽन्यन्न ज्ञायत इति—सत्यमेवं स्यात्, यद्यन्य-
त्कारणात्कार्यं स्यात्, न त्वेवमन्यत्कारणात्कार्यम् । कथं तर्हीदं
लोके—इदं कारणमयमस्य विकार इति ? शृणु । वाचा-
रम्भणं वागारम्भणं वागालम्बनमित्येतत् । कोऽसौ ? वि-
कारो नामधेयं नामैव नामधेयम्, स्वार्थे धेयप्रत्ययः, वागा-
लम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्त्वस्ति ; पर-
मार्थतो मृत्तिकेत्येव मृत्तिकैव तु सत्यं वस्त्वस्ति ॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोह-
मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥

यथा सोम्य एकेन लोहमणिना सुवर्णपिण्डेन सर्वमन्य-

द्विकारजातं कटकमुकुटकेयूरादि विज्ञातं स्यात् । वाचार-
म्भणमित्यादि समानम् ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं
काष्णायसं विज्ञातं ५ स्याद्वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्य-
मेव ५ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥

यथा सोम्य एकेन नखनिकृन्तनेनोपलक्षितेन कृष्णाय-
सपिण्डेनेत्यर्थः ; सर्वं काष्णायसं कृष्णायसविकारजातं वि-
ज्ञातं स्यात् । समानमन्यत् । अनेकदृष्टान्तोपादानं दार्ष्टा-
न्तिकानेकभेदानुगमार्थम् , दृढप्रतीत्यर्थं च । एवं सोम्य स
आदेशः, यः मयोक्तः भवति । इत्युक्तवति पितरि, आह
इतरः—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषु-
र्यद्व्येतदवेदिष्यन्कथं मे नावक्ष्यन्निति
भगवा ५स्त्वेव मे तद्वीत्विति तथा सो-
म्येति होवाच ॥ ७ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

न वै नूनं भगवन्तः पूजावन्तः गुरवः मम ये, ते एतत्
यद्भवदुक्तं वस्तु नावेदिषुः न विज्ञातवन्तः नूनम् । यत्
यदि हि अवेदिष्यन् विदितवन्तः एतद्वस्तु, कथं मे गुणवते
भक्तायानुगताय नावक्ष्यन् नोक्तवन्तः, तेनाहं मन्ये— न
विदितवन्त इति । अवाच्यमपि गुरोर्न्यग्भावमवादीत् पुन-
र्गुरुकुलं प्रति प्रेषणभयात् । अतो भगवांस्त्वेव मे मह्यं
तद्वस्तु, येन सर्वज्ञत्वं ज्ञातेन मे स्यात्, तद्व्रीतु कथयतु ;
इत्युक्तः पितोवाच— तथास्तु सोम्येति ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वि-
तीयम् । तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसी-
देकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥ १ ॥

सदेव सदिति अस्तितामात्रं वस्तु सूक्ष्मं निर्विशेषं सर्व-
गतमेकं निरञ्जनं निरवयवं विज्ञानम्, यदवगम्यते सर्ववे-
दान्तेभ्यः । एव-शब्दः अवधारणार्थः । किं तदवधियत
इति, आह— इदं जगत्, नामरूपक्रियावद्विकृतमुपलभ्यते
यत्, तत्सदेवासीत् इति आसीच्छब्देन संबध्यते । कदा
सदेवेदमासीदिति, उच्यते— अग्रे जगतः प्रागुत्पत्तेः ।
किं नेदानीमिदं सत्, येन अग्रे आसीदिति विशेष्यते ?
न । कथं तर्हि विशेषणम् ? इदानीमपीदं सदेव, किंतु
नामरूपविशेषणवदिदंशब्दबुद्धिविषयं च इतीदं च भवति ।
प्रागुत्पत्तेस्तु अग्रे केवलसच्छब्दबुद्धिमात्रगम्यमेवेति सदेवे-
दमग्र आसीदित्यवधार्यते । न हि प्रागुत्पत्तेः नामवद्रूपवद्वा
इदमिति ग्रहीतुं शक्यं वस्तु सुषुप्तकाले इव । यथा सुषु-
प्तादुत्थितः सत्त्वमात्रमवगच्छति सुषुप्ते सन्मात्रमेव केवलं
वस्त्विति, तथा प्रागुत्पत्तेरित्यभिप्रायः । यथा इदमुच्यते

लोके—पूर्वाह्णे घटादि सिसृक्षुणा कुलालेन मृत्पिण्डं प्रसारितमुपलभ्य ग्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागतः अपराह्णे तत्रैव घटशरावाद्यनेकभेदभिन्नं कार्यमुपलभ्य मृदेवेदं घटशरावादि केवलं पूर्वाह्ण आसीदिति, तथा इहाप्युच्यते—सदेवेदमग्र आसीदिति । एकमेवेति । स्वकार्यपतितमन्यन्नास्तीति एकमेवेत्युच्यते । अद्वितीयमिति । मृद्व्यतिरेकेण मृदः यथा अन्यद्वृद्धाद्याकारेण परिणमयितृकुलालादिनिमित्तकारणं दृष्टम्, तथा सव्यतिरेकेण सतः सहकारिकारणं द्वितीयं वस्त्वन्तरं प्राप्तं प्रतिषिध्यते—अद्वितीयमिति, नास्य द्वितीयं वस्त्वन्तरं विद्यते इत्यद्वितीयम् । ननु वैशेषिकपक्षेऽपि सत्सामानाधिकरण्यं सर्वस्योपपद्यते, द्रव्यगुणादिषु सच्छब्दबुद्धयनुवृत्तेः—सद्रव्यं सन्गुणः सन्कर्मत्यादिदर्शनान् । सयमेवं स्यादिदानीम् ; प्रागुत्पत्तेस्तु नैवेदं कार्यं सदेवासीदित्यभ्युपगम्यते वैशेषिकैः, प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वाभ्युपगमात् । न च एकमेव सदद्वितीयं प्रागुत्पत्तेरिच्छन्ति । तस्माद्वैशेषिकपरिकल्पितात्सतः अन्यत्कारणमिदं सदुच्यते मृदादिदृष्टान्तभ्यः । तत् तत्र ह एतस्मिन्प्रागुत्पत्तेर्वस्तुनिरूपणे एके वैनाशिका आहुः वस्तु निरूपयन्तः—असत् सदभावमात्रं प्रागुत्पत्तेः इदं जगत् एकमेव अग्रे अद्वितीय-

मासीदिति । सदभावमात्रं हि प्रागुत्पत्तेस्तत्त्वं कल्पयन्ति
 बौद्धाः । न तु सत्प्रतिद्वन्द्वा वस्त्वन्तरमिच्छन्ति । यथा स-
 चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतं तद्विपरीतं तत्त्वं भवतीति नै-
 यायिकाः । ननु सदभावमात्रं प्रागुत्पत्तेश्चेदभिप्रेतं वैना-
 शिकैः, कथं प्रागुत्पत्तेरिदमासीदसदेकमेवाद्वितीयं चेति
 कालसंबन्धः संख्यासंबन्धोऽद्वितीयत्वं च उच्यते तैः ।
 बाढं न युक्तं तेषां भावाभावमात्रमभ्युपगच्छताम् । अस-
 त्वमात्राभ्युपगमोऽप्ययुक्त एव, अभ्युपगन्तुरनभ्युपगमानुप-
 पत्तेः । इदानीमभ्युपगन्ता अभ्युपगम्यते न प्रागुत्पत्तेरिति
 चेत्, न, प्रागुत्पत्तेः सदभावस्य प्रमाणाभावात् । प्रागुत्पत्ते
 रसदेवेति कल्पनानुपपत्तिः । ननु कथं वस्त्वाकृतेः शब्दार्थ-
 त्वे असदेकमेवाद्वितीयमिति पदार्थवाक्यार्थोपपत्तिः, तदनु-
 पपत्तौ च इदं वाक्यमप्रमाणं प्रसज्येतेति चेत्, नैष दोषः,
 सद्गृहणनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य । सदित्ययं तावच्छब्दः सदा-
 कृतिवाचकः । एकमेवाद्वितीयमित्येतौ च सच्छब्देन समान
 धिकरणौ; तथेदमासीदिति च । तत्र नञ् सद्वाक्ये प्रयुक्तः
 सद्वाक्यमेवावलम्ब्य सद्वाक्यार्थविषयां बुद्धिं सदेकमेवाद्वि-
 तीयमिदमासीदित्येवंलक्षणां ततः सद्वाक्यार्थान्निवर्तयति,
 अश्वारूढ इव अश्वालम्बनः अश्वं तदभिमुखविषयान्निवर्त-

यति— तद्वत् । न तु पुनः सदभावमेव अभिधत्ते । अतः पुरुषस्य विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थपरम् इदमसदेवेत्यादि वाक्यं प्रयुज्यते । दर्शयित्वा हि विपरीतग्रहणं ततो निवर्तयितुं शक्यत इत्यर्थवत्त्वात् असदादिवाक्यस्य श्रौतत्वं प्रामाण्यं च सिद्धमित्यदोषः । तस्मात् असतः सर्वाभावरूपात् सत् विद्यमानम् जायत समुत्पन्नम् । अडभावः छान्दसः ॥

**कुतस्तु खलु सोम्यैव स्यादिति हो-
वाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव
सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥**

तदेतद्विपरीतग्रहणं महावैनाशिकपक्षं दर्शयित्वा प्रतिषे-
धति— कुतस्तु प्रमाणात्खलु हे सोम्य एवं स्यात् असतः
सज्जायेत इत्येवं कुतो भवेत् ? न कुतश्चित्प्रमाणादेवं संभवती-
त्यर्थः । यदपि बीजोपमर्देऽङ्कुरो जायमानो दृष्टः अभावादे-
वेति, तदप्यभ्युपगमविरुद्धं तेषाम् । कथम् ? ये तावद्वीजावय-
वाः बीजसंस्थानविशिष्टाः तेऽङ्कुरेऽप्यनुवर्तन्त एव, न तेषामुप-
मर्देऽङ्कुरजन्मनि । यत्पुनर्बीजाकारसंस्थानम्, तद्वीजावयव-
व्यतिरेकेण वस्तुभूतं न वैनाशिकैरभ्युपगम्यते, यदङ्कुरज-
न्मन्युपमृद्येत । अथ तदस्ति अवयवव्यतिरिक्तं वस्तुभूतम्,

तथा च सति अभ्युपगमविरोधः । अथ संवृत्या अभ्युपगतं बीजसंस्थानरूपमुपमृद्यत इति चेत्, केयं संवृतिर्नाम—किमसावभावः, उत भावः इति ? यद्यभावः, दृष्टान्ताभावः । अथ भावः, तथापि नाभावादङ्कुरोत्पत्तिः, बीजावयवेभ्यो हि अङ्कुरोत्पत्तिः । अवयवा अप्युपमृद्यन्तं इति चेत्, न, तदवयवेषु तुल्यत्वात् । यथा वैनाशिकानां बीजसंस्थानरूपोऽवयवी नास्ति, तथा अवयवा अपीति तेषामप्युपमर्दानुपपत्तिः । बीजावयवानामपि सूक्ष्मावयवाः तदवयवानामप्यन्ये सूक्ष्मतरावयवाः इत्येवं प्रसङ्गस्यानिवृत्तेः सर्वत्रोपमर्दानुपपत्तिः । सदुद्धयनुवृत्तेः सत्त्वानिवृत्तिश्चेति सद्वादिनां सत एव सदुत्पत्तिः सेत्स्यति । न तु असद्वादिनां दृष्टान्तोऽस्ति असतः सदुत्पत्तेः । मृत्पिण्डाद्वटोत्पत्तिर्दृश्यते सद्वादिनाम्, तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् । यद्यभावादेव घट उत्पद्येत, घटार्थिना मृत्पिण्डो नोपादीयेत, अभावशब्दबुद्ध्यनुवृत्तिश्च घटादौ प्रसज्येत ; न त्वेतदस्ति ; अतः नासतः सदुत्पत्तिः । यदप्याहुः मृदुद्धिर्घटबुद्धेर्निमित्तमिति मृदुद्धिर्घटबुद्धेः कारणमुच्यते, न तु परमार्थत एव मृद्वटो वा अस्तीति, तदपि मृदुद्धिर्विद्यमाना विद्यमानाया एव घटबुद्धेः कारणमिति नासतः सदुत्पत्तिः । मृद्वटबुद्धयोः निमित्तनैमित्तिकतया आनन्त-

र्यमात्रम्, न तु कार्यकारणत्वमिति चेत्, न, बुद्धीनां
नैरन्तर्ये गम्यमाने वैनाशिकानां बहिर्दृष्टान्ताभावात् ।
अतः कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यात् इति ह उवाच—
कथं केन प्रकारेण असतः सज्जायेत इति ; असतः सद्-
त्पत्तौ न कश्चिदपि दृष्टान्तप्रकारोऽस्तीत्यभिप्रायः । एवमस-
द्वादिपक्षमुन्मथ्य उपसंहरति— सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसी-
दिति स्वपक्षसिद्धिम् । ननु सद्वादिनोऽपि सतः सद्दुत्पद्यते
इति नैव दृष्टान्तोऽस्ति, घटाद्वटान्तरोत्पत्त्यदर्शनात् । सत्य-
मेवं न सतः सदन्तरमुत्पद्यते ; किं तर्हि, सदेव संस्थाना-
न्तरेणावतिष्ठते— यथा सर्पः कुण्डली भवति, यथा च
घृत् चूर्णपिण्डघटकपालादिप्रभेदैः । यद्येवं सदेव सर्वप्रकारा-
वस्थम्, कथं प्रागुत्पत्तेरिदमासीदित्युक्ते ? ननु न श्रुतं
त्वया, सदेवेत्यवधारणम् इदं-शब्दवाच्यस्य कार्यस्य । प्राप्तं
तर्हि प्रागुत्पत्तेः असदेवासीत् न इदं-शब्दवाच्यम्, इदानी-
मिदं जातमिति । न, सत एव इदं-शब्दबुद्धिविषयतया
अवस्थानात्, यथा मृदेव पिण्डघटादिशब्दबुद्धिविषयत्वेना-
वतिष्ठते— तद्वत् । ननु यथा मृद्वस्तु एवं पिण्डघटाद्यपि,
तद्वत् सद्बुद्धेरन्यबुद्धिविषयत्वात्कार्यस्य सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं
स्यात्कार्यजातं यथा अश्वाद्गौः । न, पिण्डघटादीनामितरे-

तरव्यभिचारेऽपि मृत्त्वाव्यभिचारात् । यद्यपि घटः पिण्डं
 व्यभिचरति पिण्डश्च घटम्, तथापि पिण्डघटौ मृत्त्वं न
 व्यभिचरतः तस्मान्मृन्मात्रं पिण्डघटौ । व्यभिचरति त्वश्चं
 गौः अश्वो वा गाम् । तस्मान्मृदादिसंस्थानमात्रं घटादयः ।
 एवं सत्संस्थानमात्रमिदं सर्वमिति युक्तं प्रागुत्पत्तेः सदेवेति,
 वाचारम्भणमात्रत्वाद्विकारसंस्थानमात्रस्य । ननु निरवयवं
 सत्, 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं दिव्यो
 ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' इत्यादिश्रुतिभ्यः;
 निरवयवस्य सतः कथं विकारसंस्थानमुपपद्यते? नैष दोषः,
 रज्ज्वाद्यवयवेभ्यः सर्पादिसंस्थानवत् बुद्धिपरिकल्पितेभ्यः
 सदवयवेभ्यः विकारसंस्थानोपपत्तेः । 'वाचारम्भणं वि-
 कारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' एवं सदेव सत्यम्— इति
 श्रुतेः । एकमेवाद्वितीयं परमार्थतः इदंबुद्धिकालेऽपि ॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽ-
 सृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति
 तदपोऽसृजत । तस्माद्यत्र कच शोचति
 स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो
 जायन्ते ॥ ३ ॥

तत् सत् ऐक्षत ईक्षां दर्शनं कृतवत् । अतश्च न प्रधानं

सांख्यपरिकल्पितं जगत्कारणम्, प्रधानस्याचेतनत्वाभ्युपग-
मात् । इदं तु सत् चेतनम्, ईक्षितृत्वात् । तत्कथमैक्षतेति,
आह— बहु प्रभूतं स्यां भवेयं प्रजायेय प्रकर्षेणोत्पद्येय,
यथा मृद्वृद्धाद्याकारेण यथा वा रज्ज्वादि सर्पाद्याकारेण
बुद्धिपरिकल्पितेन । असदेव तर्हि सर्वम्, यद्रूढ्यते रज्जुरिव
सर्पाद्याकारेण । न, सत एव द्वैतभेदेन अन्यथागृह्यमाणत्वात् न
असत्त्वं कस्यचित्क्वचिदिति ब्रूमः । यथा सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं प-
रिकल्प्य पुनस्तस्यैव प्रागुत्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्वम् असत्त्वं ब्रुवते
तार्किकाः, न तथा अस्माभिः कदाचित्क्वचिदपि सतोऽन्य-
दभिधानमभिधेयं वा वस्तु परिकल्प्यते । सदेव तु सर्वम-
भिधानमभिधीयते च यदन्यबुद्ध्या, यथा रज्जुरेव सर्प-
बुद्ध्या सर्प इत्यभिधीयते, यथा वा पिण्डघटादि मृदोऽन्य-
बुद्ध्या पिण्डघटादिशब्देनाभिधीयते लोके । रज्जुविवेकद-
र्शिनां तु सर्पाभिधानबुद्धी निवर्तते, यथा च मृद्विवेकदर्शिनां
घटादिशब्दबुद्धी, तद्वत् सद्विवेकदर्शिनामन्यविकारशब्दबुद्धी
निवर्तते— ‘यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह’
इति, ‘अनिरुक्तेऽनिलयने’ इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवमीक्षि-
त्वा तत् तेजः असृजत तेजः सृष्टवत् । ननु ‘तस्माद्वा एत-
स्मादात्मन आकाशः संभूतः’ इति श्रुत्यन्तरे आकाशाद्वायुः

ततस्तृतीयं तेजः श्रुतम्, इह कथं प्राथम्येन तस्मादेव तेजः
 सृज्यते तत एव च आकाशमिति विरुद्धम् ? नैष दोषः,
 आकाशवायुसर्गानन्तरं तत्सत् तेजोऽसृजतेति कल्पनोप-
 पत्तेः । अथवा अविवक्षितः इह सृष्टिक्रमः; सत्कार्यमिदं
 सर्वम्, अतः सदेकमेवाद्वितीयमित्येतद्विवक्षितम्, मृदादि-
 दृष्टान्तात् । अथवा त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वात् तेजोबन्धा-
 नामेव सृष्टिमाचष्टे । तेज इति प्रसिद्धं लोके दग्धुं पक्व
 प्रकाशकं रोहितं चेति । तत् सत्सृष्टं तेजः ऐक्षत तेजोरू-
 पसंस्थितं सत् ऐक्षतेत्यर्थः । बहु स्यां प्रजायेयेति पूर्ववत् ।
 तत् अपोऽसृजत आपः द्रवाः स्निग्धाः स्यन्दिन्यः शुक्ला-
 श्वेति प्रसिद्धा लोके । यस्मात्तेजसः कार्यभूता आपः,
 तस्माद्यत्र कच देशे काले वा शोचति संतप्यते स्वेदते
 प्रस्विद्यते वा पुरुषः तेजस एव तत् तदा आपः अधिजायन्ते ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः ख्याम प्रजाये-
 महीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र कच
 वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यन्न एव
 तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

ता आप ऐक्षन्त पूर्ववदेव अबाकारसंस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः । बह्वयः प्रभूताः स्याम भवेम प्रजायेमहि उत्पद्येमहीति । ता अन्नमसृजन्त पृथिवीलक्षणम् । पार्थिवं हि अन्नम् ; यस्मादृष्कार्यमन्नम् , तस्मात् यत्र क च वर्षति देशे तत् तत्रैव भूयिष्ठं प्रभूतमन्नं भवति । अतः अद्ध्य एव तदन्नाद्यमधिजायते । ता अन्नमसृजन्तेति पृथिव्युक्ता पूर्वम् , इह तु दृष्टान्ते अन्नं च तदाद्यं चेति विशेषणात् ब्रीहियवाद्या उच्यन्ते । अन्नं च गुरु स्थिरं धारणं कृष्णं च रूपतः प्रसिद्धम् ॥

ननु तेजःप्रभृतिषु ईक्षणं न गम्यते, हिंसादिप्रतिषेधाभावात् त्रासादिकार्यानुपलम्भाच्च ; तत्र कथं तत्तेज ऐक्षतेत्यादि ? नैष दोषः । ईक्षितृकारणपरिणामत्वात्तेजःप्रभृतीनां सत एव ईक्षितुः नियतक्रमविशिष्टकार्योत्पादकत्वाच्च तेजःप्रभृति ईक्षते इव ईक्षते इत्युच्यते भूतम् । ननु सतोऽप्युपचरितमेव ईक्षितृत्वम् । न । सदीक्षणस्य केवलशब्दगम्यत्वात् न शक्यमुपचरितं कल्पयितुम् । तेजःप्रभृतीनां त्वनुमीयते मुख्येक्षणाभाव इति युक्तमुपचरितं कल्पयितुम् । ननु सतोऽपि मृद्वत्कारणत्वादचेतनत्वं शक्यमनुमातुम् । अतः प्रधानस्यैवाचेतनस्य सत-श्चेतनार्थत्वात् नियतकालक्रमविशिष्टकार्योत्पादकत्वाच्च ऐक्षत इव ऐक्षतेति शक्यमनुमातुम् उपचरितमेव ईक्षणम् । दृष्टश्च

लोके अचेतने चेतनवदुपचारः, यथा कूलं पिपतिषतीति तद्वत् सतोऽपि स्यात् । न, 'तत्सत्यं स आत्मा' इति तस्मिन्नात्मोपदेशात् । आत्मोपदेशोऽप्युपचरित इति चेत्— यथा ममात्मा भद्रसेन इति सर्वार्थकारिण्यनात्मनि आत्मोपचारः—तद्वत्; न, सदस्मीति सत्सत्याभिसंधस्य 'तस्य तावदेव चिरम्' इति मोक्षोपदेशात् । सोऽप्युपचार इति चेत्— प्रधानात्माभिसंधस्य मोक्षसामीप्यं वर्तत इति मोक्षोपदेशोऽप्युपचरित एव, यथा लोके ग्रामं गन्तुं प्रस्थितः प्राप्तवानहं ग्राममिति ब्रूयात्त्वगपेक्षया— तद्वत्; न, येन विज्ञातेनाविज्ञातं विज्ञातं भवतीत्युपक्रमात् । सति एकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति, तदनन्यत्वात् सर्वस्याद्वितीयवचनाच्च । न च अन्यद्विज्ञातव्यमवशिष्टं श्रावितं श्रुत्या अनुमेयं वा लिङ्गतः अस्ति, येन मोक्षोपदेश उपचरितः स्यात् । सर्वस्य च प्रपाठकार्थस्य उपचरितत्वपरिकल्पनायां वृथा श्रमः परिकल्पयितुः स्यात्, पुरुषार्थसाधनविज्ञानस्य तर्कैर्नैवाधिगतत्वात्तस्य । तस्माद्वेदप्रामाण्यात् न युक्तः श्रुतार्थपरित्यागः । अतः चेतनावत्कारणं जगत इति सिद्धम् ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः ॥

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजा-
नि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥

तेषां जीवाविष्टानां खलु एषां पक्ष्यादीनां भूतानाम्, एषा-
मिति प्रत्यक्षनिर्देशात्, न तु तेजःप्रभृतीनाम्, तेषां त्रिवृ-
त्करणस्य वक्ष्यमाणत्वात्; असति त्रिवृत्करणे प्रत्यक्षनिर्देशा-
नुपपत्तिः। देवताशब्दप्रयोगाच्च तेजःप्रभृतिषु—‘इमास्तिस्त्रो
देवताः’ इति। तस्मात् तेषां खल्वेषां भूतानां पक्षिपशुस्था-
वरादीनां त्रीण्येव नातिरिक्तानि बीजानि कारणानि भ-
वन्ति। कानि तानीति, उच्यन्ते—आण्डजम् अण्डाज्जात-
मण्डजम् अण्डजमेव आण्डजं पक्ष्यादि। पक्षिसर्पादिभ्यो
हि पक्षिसर्पादयो जायमाना दृश्यन्ते। तेन पक्षी पक्षिणां
बीजं सर्पः सर्पाणां बीजं तथा अन्यदप्यण्डाज्जातं तज्जाती-
यानां बीजमित्यर्थः। ननु अण्डाज्जातम् अण्डजमुच्यते,
अतोऽण्डमेव बीजमिति युक्तम्; कथमण्डजं बीजमुच्यते?
सत्यमेवं स्यात्, यदि त्वदिच्छातन्त्रा श्रुतिः स्यात्; स्वतन्त्रा
तु श्रुतिः, यत आह अण्डजाद्येव बीजं न अण्डादीति।
दृश्यते च अण्डजाद्यभावे तज्जातीयसंतत्यभावः, न अण्डा-
द्यभावे। अतः अण्डजादीन्येव बीजानि अण्डजादीनाम्।

तथा जीवाज्जातं जीवजं जरायुजमित्येतत्पुरुषपञ्चादि । उ-
द्भिज्जम् उद्भिनत्तीत्युद्भित् स्थावरं ततो जातमुद्भिज्जम्, धाना
वा उद्भित् ततो जायत इत्युद्भिज्जं स्थावरबीजं स्थावराणां
बीजमित्यर्थः । स्वेदजसंशोकजयोरण्डजोद्भिज्जयोरेव यथा-
संभवमन्तर्भावः । एवं हि अवधारणं त्रीण्येव बीजानीत्यु-
पपन्नं भवति ॥

**सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो दे-
वता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम-
रूपं व्याकरवाणीति ॥ २ ॥**

सेयं प्रकृता सदाख्या तेजोबन्धयोनिः देवता उक्ता
ऐक्षत ईक्षितवती यथापूर्वं बहु स्यामिति । तदेव बहुभवनं
प्रयोजनं नाद्यापि निर्वृत्तम् इत्यतः ईक्षां पुनः कृतवती बहु-
भवनमेव प्रयोजनमुररीकृत्य । कथम् ? हन्त इदानीमह-
मिमाः यथोक्ताः तेजआद्याः तिस्रो देवताः अनेन जीवेनेति
स्वबुद्धिस्थं पूर्वसृष्ट्यनुभूतप्राणधारणम् आत्मानमेव स्मर-
न्ती आह— अनेन जीवेन आत्मनेति । प्राणधारणकर्त्रा
आत्मनेति वचनात् स्वात्मनोऽव्यतिरिक्तेन चैतन्यस्वरूपतया
अविशिष्टेनेत्येतद्दर्शयति । अनुप्रविश्य तेजोबन्धभूतमात्रासं-
सर्गेण लब्धविशेषविज्ञाना सती नाम च रूपं च नामरूपे

व्याकरवाणि विस्पष्टमाकरवाणि, असौनामायम् इदंरूप इति व्याकुर्यामित्यर्थः ॥

ननु न युक्तमिदम्— असंसारिण्याः सर्वज्ञायाः देवता-
याः बुद्धिपूर्वकमनेकशतसहस्रानर्थाश्रयं देहमनुप्रविश्य दुः-
खमनुभविष्यामीति संकल्पनम्, अनुप्रवेशश्च स्वातन्त्र्ये
सति । सत्यमेवं न युक्तं स्यात्—यदि स्वेनैवाविकृतेन रूपेणा-
नुप्रविशेयं दुःखमनुभवेयमिति च संकल्पितवती; न त्वेवम् ।
कथं तर्हि? अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य इति वच-
नात् । जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्, बुद्ध्यादि
भूतमात्रासंसर्गजनितः— आदर्शो इव प्रविष्टः पुरुषप्रतिबिम्बः,
जलादिष्विव च सूर्यादीनाम् । अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्या
देवतायाः बुद्ध्यादिसंबन्धः चैतन्याभासः देवतास्वरूप-
विवेकाग्रहणनिमित्तः सुखी दुःखी मूढ इत्याद्यनेकविकल्प-
प्रत्ययहेतुः । छायामात्रेण जीवरूपेणानुप्रविष्टत्वात् देवता न
दैहिकैः स्वतः सुखदुःखादिभिः संबध्यते— यथा पुरुषादि-
त्यादयः आदर्शोदकादिषु च्छायामात्रेणानुप्रविष्टाः आदर्शोद-
कादिदोषैर्न संबध्यन्ते— तद्वद्देवतापि । ‘सूर्यो यथा सर्व-
लोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभू-
तान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः’ ‘आकाशवत्सर्वग-

तश्च नित्यः' इति हि काठके ; ' ध्यायतीव लेलायतीव ' इति च वाजसनेयके । ननु च्छायामात्रश्चेज्जीवः भृषैव प्राप्तः, तथा परलोकेहलोकादि च तस्य । नैष दोषः, सदात्मना सत्यत्वाभ्युपगमात् । सर्वं च नामरूपादि सदात्मनैव मत्तं विकारजातम्, स्वतस्त्वनृतमेव, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्युक्तत्वात् । तथा जीवोऽपीति । यक्षानुरूपो हि बलिरिति न्यायप्रसिद्धिः । अतः सदात्मना सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं सतोऽन्यत्वे च अनृतत्वमिति न कश्चिद्दोषः तार्किकैरिहानुवक्तुं शक्यः, यथा इतरेतरविरुद्धद्वैतवादाः स्वबुद्धिविकल्पमात्रा अतत्त्वनिष्ठा इति शक्यं वक्तुम् ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

सैवं तिस्रो देवताः अनुप्रविश्य स्वात्मावस्थे बीजभूते अव्याकृते नामरूपे व्याकरवाणीति ईक्षित्वा तासां च तिसृणां देवतानामेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणि— एकैकस्यास्त्रिवृत्करणे एकैकस्याः प्राधान्यं द्वयोर्द्वयोर्गुणभावः ;

अन्यथा हि रज्ज्वा इव एकमेव त्रिवृत्करणं स्यात्, न तु तिसृणां पृथक्पृथक्त्रिवृत्करणमिति । एवं हि तेजोब्रानानां पृथङ्नामप्रत्ययलाभः स्यात्—तेज इदम् इमा आपः अन्नमिदम् इति च । सति च पृथङ्नामप्रत्ययलाभे देवतानां सम्यग्व्यवहारस्य प्रसिद्धिः प्रयोजनं स्यात् । एवमीक्षित्वा सेयं देवता इमास्तिस्रो देवताः अनेनैव यथोक्तेनैव जीवेन सूर्यबिम्बवदन्तः प्रविश्य वैराजं पिण्डं प्रथमं देवादीनां च पिण्डाननुप्रविश्य यथासंकल्पमेव नामरूपे व्याकरोत्— असौनामा अयम् इदंरूप इति ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्य-
था तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृ-
त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥

तासां च देवतानां गुणप्रधानभावेन त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकामकरोत् कृतवती देवता । तिष्ठतु तावद्देवतादिपिण्डानां नामरूपाभ्यां व्याकृतानां तेजोब्रान्नमयत्वेन त्रिधात्वम्, यथा तु बहिरिमाः पिण्डेभ्यस्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति तन्मे मम निगदतः विजानीहि विस्पष्टम् अवधारय उदाहरणतः ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं य-
च्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्ने-
रग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

यत्तद्देवतानां त्रिवृत्करणमुक्तम् तस्यैवोदाहरणमुच्यते—
उदाहरणं नाम एकदेशप्रसिद्ध्या अशेषप्रसिद्धयर्थमुदाह्रियत
इति । तदेतदाह—यदग्नेः त्रिवृत्कृतस्य रोहितं रूपं प्रसिद्धं
लोके, तत् अत्रिवृत्कृतस्य तेजसो रूपमिति विद्धि । तथा
यच्छुक्लं रूपमग्नेरेव तदपामत्रिवृत्कृतानाम् ; यत्कृष्णं तस्यैवा-
ग्नेः रूपम् तदन्नस्य पृथिव्याः अत्रिवृत्कृतायाः इति विद्धि ।
तत्रैवं सति रूपत्रयव्यतिरेकेण अग्निरिति यन्मन्यसे त्वम्,
तस्याग्नेरग्नित्वमिदानीम् अपागात् अपगतम् । प्राग्रूपत्रयवि-
वेकविज्ञानात् या अग्निबुद्धिरासीत् ते, सा अग्निबुद्धिरप-
गता अग्निशब्दश्चेत्यर्थः— यथा दृश्यमानरक्तोपधानसंयुक्तः
स्फटिको गृह्यमाणः पद्मरागोऽयमिति शब्दबुद्धयोः प्रयोजको
भवति प्रागुपधानस्फटिकयोर्विवेकविज्ञानात्, तद्विवेकविज्ञाने
तु पद्मरागशब्दबुद्धी निवर्तते तद्विवेकविज्ञातुः—तद्वत् । ननु

किमत्र बुद्धिशब्दकल्पनया क्रियते, प्रामूपत्रयविवेककरणादग्निरेवासीत्, तदग्नेरग्नित्वं रोहितादिरूपविवेककरणादपागादिति युक्तम्—यथा तन्त्रपकर्षणे पदाभावः । नैवम्, बुद्धिशब्दमात्रमेव हि अग्निः ; यत आह वाचारम्भणमग्निर्नाम विकारो नामधेयं नाममात्रमित्यर्थः । अतः अग्निबुद्धिरपि मृषैव । किं तर्हि तत्र सत्यम् ? त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, नाणुमात्रमपि रूपत्रयव्यतिरेकेण सत्यमस्तीत्यवधारणार्थः ॥

यदादित्यस्य रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं
यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागा-
दादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥

यच्चन्द्रमसो रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं
यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागा-
च्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नाम-
धेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

यद्विद्युतो रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं
यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागा-
द्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो

नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

तथा यदादित्यस्य यच्चन्द्रमसो यद्विद्युत इत्यादि समा-
नम् । ननु 'यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवतास्त्रिवृत्त्रि-
वृदेकैका भवति तन्मे विजानीहि' इत्युक्त्वा तेजस एव
चतुर्भिरप्युदाहरणैः अग्न्यादिभिः त्रिवृत्करणं दर्शितम्, न
अबन्नयोरुदाहरणं दर्शितं त्रिवृत्करणे । नैष दोषः । अबन्नवि-
षयाण्यप्युदाहरणानि एवमेव च द्रष्टव्यानीति मन्यते श्रुतिः ।
तेजस उदाहरणमुपलक्षणार्थम्, रूपवत्त्वात्स्पष्टार्थत्वोप-
पत्तेश्च । गन्धरसयोरनुदाहरणं त्रयाणामसंभवात् । न हि
गन्धरसौ तेजसि स्तः । स्पर्शशब्दयोरनुदाहरणं विभागेन
दर्शयितुमशक्यत्वात् । यदि सर्वं जगत् त्रिवृत्कृतमिति
अग्न्यादिवत् त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, अग्निरग्नित्ववत्
अपागाज्जगतो जगत्त्वम् । तथा अन्नस्याप्यणुशुक्लत्वात् आप
इत्येव सत्यं वाचारम्भणमात्रमन्नम् । तथा अपामपि तेजः-
शुक्लत्वात् वाचारम्भणत्वं तेज इत्येव सत्यम् । तेजसोऽपि
सच्छुक्लत्वात् वाचारम्भणत्वं सदित्येव सत्यम् इत्येषोऽर्थो
विवक्षितः । ननु वाय्वन्तरिक्षे तु अत्रिवृत्कृते तेजःप्रभृति-
ष्वनन्तर्भूतत्वात् अवशिष्येते, एवं गन्धरसशब्दस्पर्शाश्चा-
वशिष्टा इति कथं सता विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातं विज्ञातं
भवेत् ! तद्विज्ञाने वा प्रकारान्तरं वाच्यम् ; नैष दोषः,

रूपवद्द्रव्ये सर्वस्य दर्शनात् । कथम्? तेजसि तावद्रूप-
वति शब्दस्पर्शयोरप्युपलम्भात् वाय्वन्तरिक्षयोः तत्र स्पर्श-
शब्दगुणवतोः सद्भावो अनुमीयते । तथा अबन्नयोः रूप-
वतो रसगन्धान्तर्भाव इति । रूपवतां त्रयाणां तेजोबन्नानां
त्रिवृत्करणप्रदर्शनेन सर्वं सदन्तर्भूतं सद्विकारत्वात् त्रीण्येव
रूपाणि विज्ञातं मन्यते श्रुतिः । न हि मूर्ते रूपवद्द्रव्यं प्र-
त्याख्याय वाय्वाकाशयोः तद्गुणयोर्गन्धरसयोर्वा ग्रहणमस्ति ।
अथवा रूपवतामपि त्रिवृत्करणं प्रदर्शनार्थमेव मन्यते श्रुतिः ।
यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, तथा पञ्चीक-
रणेऽपि समानो न्याय इत्यतः सर्वस्य सद्विकारत्वात् सता
विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं स्यात् सदेकमेवाद्वितीयं सत्य-
मिति सिद्धमेव भवति । तदेकस्मिन्सति विज्ञाते सर्वमिदं
विज्ञातं भवतीति सूक्तम् ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वे
महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य क-
श्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति
ह्येभ्यो विदांचक्रुः ॥ ५ ॥

एतत् विद्वांसः विदितवन्तः पूर्वे अतिक्रान्ताः महा-
शालाः महाश्रोत्रियाः आहुः ह स्म वै किल । किमुक्तवन्त

इति, आह— न नः अस्माकं कुले अद्य इदानीं यथोक्त-
 विज्ञानवतां कश्चन कश्चिदपि अश्रुतममतमविज्ञातम् उदाह-
 रिष्यति नोदाहरिष्यति, सर्वं विज्ञातमेव अस्मत्कुलीनानां
 सद्विज्ञानवत्त्वात् इत्यभिप्रायः । ते पुनः कथं सर्वं विज्ञात-
 वन्त इति, आह— एभ्यः त्रिभ्यः रोहितादिरूपेभ्यः त्रिवृ-
 त्कृतेभ्यः विज्ञातेभ्यः सर्वमप्यन्यच्छिष्टमेवमेवेति विदांचक्रुः
 विज्ञातवन्तः यस्मात्, तस्मात्सर्वज्ञा एव सद्विज्ञानात् ते
 आसुरित्यर्थः । अथवा एभ्यो विदांचक्रुरिति अग्न्यादिभ्यो
 दृष्टान्तेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमन्यद्विदांचक्रुरित्येतत् ॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूप-
 मिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्य-
 पा५ रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु कृष्णमि-
 वाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ॥ ६ ॥

यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देव-
 ताना५ समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा तु
 खलु सौम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य
 त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानी-
 हीति ॥ ७ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

कथम् ? यदन्यद्रूपेण संदिह्यमाने कपोतादिरूपे रोहित-
मिव यद्रूढ्यमाणमभूत् तेषां पूर्वेषां ब्रह्मविदाम्, तत्तेजसो
रूपमिति विदांचक्रुः । तथा यच्छुक्लमिवाभूद्रूढ्यमाणं तदपां
रूपम्, यत्कृष्णमिव गृह्यमाणं तदन्नस्येति विदांचक्रुः । एवमे-
वात्यन्तदुर्लक्ष्यं यत् उ अपि अविज्ञातमिव विशेषतो अगृह्य-
माणमभूत् तदप्येतासामेव तिसृणां देवतानां समासः समु-
दाय इति विदांचक्रुः । एवं तावद्ब्राह्मं वस्त्वग्न्यादिवद्विज्ञा-
तम्, तथेदानीं यथा तु खलु हे सोम्य इमाः यथोक्तास्तिष्ठो
देवताः पुरुषं शिरःपाण्यादिलक्षणं कार्यकारणसंघातं प्राप्य
पुरुषेणोपयुज्यमानाः त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति, तत् आध्या-
त्मिकं विजानीहि निगदतः इत्युक्त्वा आह ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चमः खण्डः ॥

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः
स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्य-
मस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

अन्नम् अशितं भुक्तं त्रेधा विधीयते जाठरेणाग्निना
पच्यमानं त्रिधा विभज्यते । कथम् ? तस्यान्नस्य त्रिधा
विधीयमानस्य यः स्थविष्ठः स्थूलतमो धातुः स्थूलतमं वस्तु
विभक्तस्य स्थूलोऽंशः, तत्पुरीषं भवति ; यो मध्यमोऽंशो
धातुरन्नस्य, तद्रसादिकमेण परिणम्य मांसं भवति ; यः
अणिष्ठः अणुतमो धातुः, स ऊर्ध्वं हृदयं प्राप्य सूक्ष्मासु
हिताख्यासु नाडीषु अनुप्रविश्य वागादिकरणसंघातस्य
स्थितिमुत्पादयन् मनो भवति । मनोरूपेण विपरिणमन्
मनस उपचयं करोति । ततश्च अन्नोपचितत्वात् मनसः
भौतिकत्वमेव न वैशेषिकतन्त्रोक्तलक्षणं नित्यं निरवयवं
चेति गृह्यते । यदपि मनोऽस्य दैवं चक्षुरिति वक्ष्यति
तदपि न नित्यत्वापेक्षया ; किं तर्हि, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृ-
ष्टादिसर्वेन्द्रियविषयव्यापारकत्वापेक्षया । यच्चान्येन्द्रियवि-
षयापेक्षया नित्यत्वम्, तदप्यापेक्षिकमेवेति वक्ष्यामः,
'सत्...एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेः ॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां

यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो
मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥

तथा आपः पीताः त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो
धातुः, तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमः, तल्लोहितं भवति;
योऽणिष्ठः, स प्राणो भवति । वक्ष्यति हि -- 'आपोमयः
प्राणो नपिब्रतो विच्छेत्स्यते' इति ॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः
स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः
स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

तथा तेजः अशितं तैलघृतादि भक्षितं त्रेधा विधीयते ।
तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तदस्थि भवति; यो मध्यमः, स
मज्जा अस्थ्यन्तर्गतः स्नेहः; योऽणिष्ठः सा वाक् । तैलघृ-
तादिभक्षणाद्धि वाग्विशदा भाषणे समर्था भवतीति प्र-
सिद्धं लोके ॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः
प्राणस्तेजोमयी वागिति श्रूय एव मा
भगवान्विश्रापयत्विति तथा सोम्येति
होवाच ॥ ४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

यत एवम्, अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् । ननु केवलान्नभक्षिण आखुप्रभृतयो वाग्मिनः प्राणवन्तश्च, तथा अब्मात्रभक्ष्याः सामुद्रा मीनमकरप्रभृतयो मनस्विनो वाग्मिनश्च, तथा स्नेहपानामपि प्राणवत्त्वं मनस्वित्वं च अनुमेयम्; यदि सन्ति, तत्र कथमन्नमयं हि सोम्य मन इत्याद्युच्यते? नैष दोषः, सर्वस्य त्रिवृत्कृतत्वात्सर्वत्र सर्वोपपत्तेः । न हि अत्रिवृत्कृतमन्नमश्नाति कश्चित्, आपो वा अत्रिवृत्कृताः पीयन्ते, तेजो वा अत्रिवृत्कृतमश्नाति कश्चित् इत्याद्यानामाखुप्रभृतीनां वाग्मित्वं प्राणवत्त्वं च इत्याद्यविरुद्धम् । इत्येवं प्रत्यायितः श्वेतकेतुराह— भूय एव पुनरेव मा मां भगवान् अन्नमयं हि सोम्य मन इत्यादि विज्ञापयतु दृष्टान्तेनावगमयतु, नाद्यापि मम अस्मिन्नर्थे सम्यङ्निश्चयो जातः । यस्मात्तेजोवन्नमयत्वेनाविशिष्टे देहे एकस्मिन्नुपयुज्यमानान्यन्नाप्स्नेहजातानि अणिष्ठधातुरूपेण मनःप्राणवाच उपचिन्वन्ति स्वजात्यनतिक्रमेणेति दुर्विज्ञेयमित्यभिप्रायः; अतो भूय एवेत्याद्याह । तमेवमुक्तवन्तं तथास्तु सोम्येति ह उवाच पिता शृण्वत्र दृष्टान्तं यथैतदुपपद्यते यत्पृच्छसि ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

दध्नः सोम्य मध्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

दध्नः सोम्य मध्यमानस्य योऽणिमा अणुभावः स ऊर्ध्वः
समुदीषति संभूयोर्ध्वं नवनीतभावेन गच्छति, तत्सर्पिर्भवति ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्मयमानस्य
योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो
भवति ॥ २ ॥

यथा अयं दृष्टान्तः, एवमेव खलु सोम्य अन्नस्य ओदनादेः
अश्मयमानस्य भुज्यमानस्य औदर्येणाग्निना वायुसहितेन खजे-
नेव मध्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति; तन्मनो
भवति, मनोवयवैः सह संभूय मन उपचिनोतीत्येतत् ॥

अपा५ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥

तथा अपां सोम्य पीयमानानां यो अणिमा, स ऊर्ध्वः
समुदीषति, स प्राणो भवतीति ॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

एवमेव खलु सोम्य तेजसोऽश्यमानस्य योऽणिमा स
ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः
प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भ-
गवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति हो-
वाच ॥ ५ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी
वाक् इति युक्तमेव मयोक्तमित्यभिप्रायः । अतः अप्रेजसोर-
स्त्वेतत्सर्वमेवम् । मनस्त्वन्नमयमित्यत्र नैकान्तेन मम निश्च-
यो जातः । अतः भूय एव मा भगवान् मनसोऽन्नमयत्वं
दृष्टान्तेन विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति ह उवाच पिता ॥

इति षष्ठखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः ॥

षोडशकलः सौम्य पुरुषः पञ्चदशाहा-
नि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो
नपिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

अन्नस्य भुक्तस्य यो अणिष्ठो धातुः, स मनसि शक्तिम-
धात् । सा अन्नोपचिता मनसः शक्तिः षोडशधा प्रविभज्य
पुरुषस्य कलात्वेन निर्दिदिक्षिता । तया मनस्यन्नोपचितया
शक्त्या षोडशधा प्रविभक्त्या संयुक्तः तद्वान्कार्यकारणसं-
घातलक्षणो जीवविशिष्टः पुरुषः षोडशकल उच्यते ; यस्यां
सत्यां द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञाता सर्वक्रिया-
समर्थः पुरुषो भवति ; हीयमानायां च यस्यां सामर्थ्य-
हानिः । वक्ष्यति च 'अथान्नस्यायी द्रष्टा' इत्यादि । सर्वस्य
कार्यकारणस्य सामर्थ्यं मनःकृतमेव । मानसेन हि बलेन
संपन्ना बलिनो दृश्यन्ते लोके ध्यानाहाराश्च केचित्, अन्नस्य
सर्वात्मकत्वात् । अतः अन्नकृतं मानसं वीर्यम् । षोडश कलाः
यस्य पुरुषस्य सोऽयं षोडशकलः पुरुषः । एतच्चेत्प्रत्यक्षीकर्तु-
मिच्छसि, पञ्चदशसंख्याकान्यहानि माशीः अशनं मा-
कार्षीः, कामम् इच्छातः अपः पिब, यस्मात् नपिबतः अपः

ते प्राणो विच्छेत्स्यते विच्छेदमापत्स्यते, यस्मादापोमयः
अब्बिकारः प्राण इत्यवोचाम । न हि कार्यं स्वकारणोपष्टम्भ-
मन्तरेण अविभ्रंशमानं स्थातुमुत्सहते ॥

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुप-
ससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य
यजूंषि सामानीति स होवाच न वै मा
प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥

स ह एवं श्रुत्वा मनसः अन्नमयत्वं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छन्
पञ्चदशाहानि न आश अशनं न कृतवान् । अथ षोडशे-
ऽहनि ह एनं पितरमुपससाद उपगतवान् । उपगम्य च
उवाच—किं ब्रवीमि भो इति । इतर आह—ऋचः सोम्य
यजूंषि सामान्यधीष्वेति । एवमुक्तः पित्रा आह—न वै
मा माम् ऋगादीनि प्रतिभान्ति मम मनसि न दृश्यन्त
इत्यर्थः हे भो भगवन्निति ॥

तं होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्या
हितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः
स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेव सोम्य
ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा

स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे
विज्ञास्यसीति ॥ ३ ॥

एवमुक्तवन्तं पिता आह— शृणु तत्र कारणम्, येन ते तानि ऋगादीनि न प्रतिभान्तीति; तं ह उवाच— यथा लोके हे सोम्य महतः महत्परिमाणस्य अभ्याहितस्य उपचितस्य इन्धनैः अग्नेः एकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः खद्योतपरिमाणः शान्तस्य परिशिष्टः अवशिष्टः स्यात् भवेत्, तेनाङ्गारेण ततोऽपि तत्परिमाणात् ईषदपि न बहु दहेत्, एवमेव खलु सोम्य ते तव अन्नोपचितानां षोडशानां कलानामेका कला अवयवः अतिशिष्टा अवशिष्टा स्यात्, तथा त्वं खद्योतमात्राङ्गारतुल्यया एतर्हि इदानीं वेदान नानुभवसि न प्रतिपद्यसे, श्रुत्वा च मे मम वाचम् अथ अशेषं विज्ञास्यसि अशान भुङ्क्ष्व तावत् ॥

स हाशाथ हैनमुपससाद तं ह य-
त्किंच पप्रच्छ सर्वं ह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

स ह तथैव आग भुक्तवान् । अथ अनन्तरं ह एनं पितरं शुश्रूषुः उपससाद । तं ह उपगतं पुत्रं यत्किंच ऋगादिषु पप्रच्छ ग्रन्थरूपमर्थजातं वा पिता । स श्वेतकेतुः सर्वं ह तत्प्रतिपेदे ऋगाद्यर्थतो ग्रन्थतश्च ॥

त५ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्या-
हितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं
तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततो
ऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

तं ह उवाच पुनः पिता—यथा सोम्य महतः अभ्या-
हितस्येत्यादि समानम्, एकमङ्गारं शान्तस्याग्नेः खद्योत-
मात्रं परिशिष्टं तं तृणैश्चूर्णैश्च उपसमाधाय प्राज्वलयेत्
वर्धयेत् । तेनेद्वेन अङ्गारेण ततोऽपि पूर्वपरिमाणात् बहु
दहेत् ॥

एव५ सोम्य ते षोडशानां कलाना-
मेका कलातिशिष्टाभूत्सान्नेनोपसमाहि-
ता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्न-
मय५ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्ते-
जोमयी वागिति तद्वायु विजज्ञाविति
विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

एवं सोम्य ते षोडशानामन्नकलानां सामर्थ्यरूपाणाम्

एका कला अतिशिष्टा अभूत् अतिशिष्टा आसीत्, पञ्चद-
 शाहान्यभुक्तेवतः एकैकेनाह्ना एकैका कला चन्द्रमस इव
 अपरपक्षे क्षीणा, सा अतिशिष्टा कला तव अन्नेन भुक्तेनोप-
 समाहिता वर्धिता उपचिता प्राज्वाली, दैर्घ्यं छान्दसम्, प्रज्व-
 लिता वर्धितेत्यर्थः । प्राज्वालीदिति पाठान्तरम्, तदा तेनोप-
 समाहिता स्वयं प्रज्वलितवतीत्यर्थः । तया वर्धितया एतर्हि
 इदानीं वेदाननुभवसि उपलभसे । एवं व्यावृत्त्यनुवृत्ति-
 भ्यामन्नमयत्वं मनसः सिद्धमिति उपसंहरति—अन्नमयं हि
 सोम्य मन इत्यादि । यथा एतन्मनसोऽन्नमयत्वं तव सिद्धम्,
 तथा आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् इत्येतदपि सिद्ध-
 मेवेत्यभिप्रायः । तदेतद्ध अस्य पितुरुक्तं मनआदीनामन्ना-
 दिमयत्वं विजज्ञौ विज्ञातवान् श्वेतकेतुः । द्विरभ्यासः त्रि-
 वृत्करणप्रकरणसमाप्त्यर्थः ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमु-
वाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति
यत्नैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य
तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति
तस्मादेन५ स्वपितीत्याचक्षते स्व५ ह्यपी-
तो भवति ॥ १ ॥

यस्मिन्मनसि जीवेनात्मनानुप्रविष्टा परा देवता— आदर्शे
इव पुरुषः प्रतिबिम्बेन जलादिष्विव च सूर्यादयः प्रतिबिम्बैः,
तन्मनः अन्नमयं तेजोमयाभ्यां वाक्प्राणाभ्यां संगतमधि-
गतम् । यन्मयो यत्स्थश्च जीवो मननदर्शनश्रवणादिव्यवहा-
राय कल्पते तदुपरमे च स्वं देवतारूपमेव प्रतिपद्यते ।
तदुक्तं श्रुत्यन्तरे— ‘ध्यायतीव लेलायतीव’ ‘सधीः स्वप्नो
भूत्वेमं लोकमतिक्रामति’ ‘स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञा-
नमयो मनोमयः’ इत्यादि, ‘स्वप्नेन शारीरम्’ इत्यादि,
‘प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति’ इत्यादि च । तस्यास्य
मनस्थस्य मनआख्यां गतस्य मनउपशमद्वारेणेन्द्रियवि-
षयेभ्यो निवृत्तस्य यस्यां परस्यां देवतायां स्वात्मभू-

तायां यदवस्थानम्, तत् पुत्राय आचिख्यासुः उद्दालको
 ह किल आरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच उक्तवान्— स्वप्नान्तं
 स्वप्नमध्यम् स्वप्न इति दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्याख्या, तस्य मध्यं
 स्वप्नान्तं सुषुप्तमित्येतत्; अथवा स्वप्नान्तं स्वप्नसतत्त्व-
 मित्यर्थः । तत्राप्यर्थात्सुषुप्तमेव भवति, 'स्वमपीतो भवति'
 इति वचनात्; न हि अन्यत्र सुषुप्तात् स्वमपीतिं जीवस्य
 इच्छन्ति ब्रह्मविदः । तत्र हि आदर्शापनयने पुरुषप्रतिबि-
 म्बः आदर्शगतः यथा स्वमेव पुरुषमपीतो भवति, एवं मन-
 आद्युपरमे चैतन्यप्रतिबिम्बरूपेण जीवेन आत्मना मनसि
 प्रविष्टा नामरूपव्याकरणाय परा देवता सा स्वमेव आ-
 त्मानं प्रतिपद्यते जीवरूपतां मनआख्यां हित्वा । अतः
 सुषुप्त एव स्वप्नान्तशब्दवाच्य इत्यवगम्यते । यत्र तु सुप्तः
 स्वप्नान्पश्यति तत्स्वाप्नं दर्शनं सुखदुःखसंयुक्तमिति पुण्या-
 पुण्यकार्यम् । पुण्यापुण्ययोर्हि सुखदुःखारम्भकत्वं प्रसिद्धम् ।
 पुण्यापुण्ययोश्चाविद्याकामोपष्टम्भेनैव सुखदुःखदर्शनकार्यार-
 म्भकत्वमुपपद्यते नान्यथेत्यविद्याकामकर्मभिः संसारहेतुभिः
 संयुक्त एव स्वप्ने इति न स्वमपीतो भवति । 'अनन्वागतं
 पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृद-
 यस्य भवति' 'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा एष परम आनन्दः'

इत्यादिश्रुतिभ्यः । सुषुप्त एव स्वं देवतारूपं जीवत्वविनिर्मुक्तं दर्शयिष्यामीत्याह— स्वप्नान्तं मे मम निगदतो हे सोम्य विजानीहि विस्पष्टमवधारयेत्यर्थः । कदा स्वप्नान्तो भवतीति, उच्यते— यत्र यस्मिन्काले एतन्नाम भवति पुरुषस्य स्वप्स्यतः । प्रसिद्धं हि लोके स्वपितीति । गौणं चेदं नामेत्याह— यदा स्वपितीत्युच्यते पुरुषः, तदा तस्मिन्काले सता सच्छब्दवाच्यया प्रकृतया देवतया संपन्नो भवति संगतः एकीभूतो भवति । मनसि प्रविष्टं मनआदिसंसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्परमार्थसत्यम् अपीतः अपिगतः भवति । अतः तस्मात् स्वपितीत्येनमाचक्षते लौकिकाः । स्वमात्मानं हि यस्मादपीतो भवति; गुणनामप्रसिद्धितोऽपि स्वात्मप्राप्तिर्गम्यते इत्यभिप्रायः । कथं पुनर्लौकिकानां प्रसिद्धा स्वात्मसंपत्तिः? जाग्रच्छ्रमनिमित्तोद्भवत्वात्स्वापस्य इत्याहुः— जागरिते हि पुण्यापुण्यनिमित्तसुखदुःखाद्यनेकायासानुभवाच्छ्रान्तो भवति; ततश्च आयस्तानां करणानामनेकव्यापारनिमित्तग्लानानां स्वव्यापारेभ्य उपरमो भवति । श्रुतेश्च ‘श्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः’ इत्येवमादि । तथा च ‘गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुः गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः’ इत्येवमादीनि करणानि प्राणग्रस्तानि; प्राण एकः

अश्रान्तः देहे कुलाये यो जागर्ति, तदा जीवः श्रमापनुत्तये
स्वं देवतारूपमात्मानं प्रतिपद्यते । नान्यत्र स्वरूपावस्थाना-
च्छ्रमापनोदः स्यादिति युक्ता प्रसिद्धिर्लौकिकानाम्— स्वं
ह्यपीतो भवतीति । दृश्यते हि लोके ज्वरादिरोगग्रस्तानां
तद्विनिर्मोके स्वात्मस्थानां विश्रमणम्, तद्वदिहापि स्यादिति
युक्तम् । ‘तद्यथा श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः’
इत्यादिश्रुतेश्च ॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं
दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धन-
मेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो
दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा
प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य
मन इति ॥ २ ॥

तत्रायं दृष्टान्तः यथोक्तेऽर्थे—स यथा शकुनिः पक्षी
शकुनिघातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण प्रबद्धः पाशितः दिशं
दिशं बन्धनमोक्षार्थी सन् प्रतिदिशं पतित्वा अन्यत्र ब-
न्धनात् आयतनम् आश्रयं विश्रमणाय अलब्ध्वा अप्राप्य
बन्धनमेवोपश्रयते । एवमेव यथा अयं दृष्टान्तः खलु हे

सोम्य तन्मनः तत्प्रकृतं षोडशकलमन्नोपाचितं मनो निर्धारितम्, तत्प्रविष्टः तत्स्थः तदुपलक्षितो जीवः तन्मन इति निर्दिश्यते—मन्वाक्रोशनवत् । स मनआख्योपाधिः जीवः अविद्याकामकर्मोपदिष्टां दिशं दिशं सुखदुःखादिलक्षणां जाग्रत्स्वप्रयोः पतित्वा गत्वा अनुभूयेत्यर्थः, अन्यत्र सदाख्यात् स्वात्मनः आयतनं विश्रमणस्थानमलब्ध्वा प्राणमेव, प्राणेन सर्वकार्यकरणाश्रयेणोपलक्षिता प्राण इत्युच्यते सदाख्या परा देवता, 'प्राणस्य प्राणम्' 'प्राणशरीरो भारूपः' इत्यादिश्रुतेः । अतः तां देवतां प्राणं प्राणाख्यामेव उपश्रयते । प्राणो बन्धनं यस्य मनसः तत्प्राणबन्धनं हि यस्मात् सोम्य मनः प्राणोपलक्षितदेवताश्रयम्, मन इति तदुपलक्षितो जीव इति ॥

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनाथोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुद्धमुत्पतितः सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ३ ॥

एवं स्वपितिनामप्रसिद्धिद्वारेण यज्जीवस्य सत्यस्वरूपं जगतो मूलम्, तत्पुत्रस्य दर्शयित्वा आह अन्नादिकार्यकारणपरम्परयापि जगतो मूलं सद्दिदर्शयिषुः— अशनापिपासे अशितुमिच्छा अशना, सन् यलोपेन, पातुमिच्छा पिपासा ते अशनापिपासे अशनापिपासयोः सतत्त्वं विजानीहीत्येतत् । यत्र यस्मिन्काले एतन्नाम पुरुषो भवति । किं तत् ? अशिशिषति अशितुमिच्छतीति । तदा तस्य पुरुषस्य किंनिमित्तं नाम भवतीति, आह— यत्तत्पुरुषेण अशितमन्नं कठिनं पीता आपो नयन्ते द्रवीकृत्य रसादिभावेन विपरिणमयन्ते, तदा भुक्तमन्नं जीर्यति । अथ च भवत्यस्य नाम अशिशिषतीति गौणम् । जीर्णे हि अन्ने अशितुमिच्छति सर्वो हि जन्तुः । तत्र अपामशितनेतृत्वात् अशनाया इति नाम प्रसिद्धमित्येतस्मिन्नर्थे । यथा गोनायः गां नयतीति गोनायः इत्युच्यते गोपालः, तथा अश्वान्नयतीत्यश्वनायः अश्वपाल इत्युच्यते, पुरुषनायः पुरुषान्नयतीति राजा सेनापतिर्वा, एवं तत् तदा अप आचक्षते लौकिकाः अशनायेति विसर्जनीयलोपेन । तत्रैवं सति अद्भिः रसादिभावेन नीतेन अशितेनान्नेन निष्पादितमिदं शरीरं वटकणिकायामिव शुक्लः अङ्कुर उत्पतितः उद्भूतः ; तमिमं शुक्लं कार्यं शरीराख्यं वटादिशुक्ल-

बदुत्पतितं हे सोम्य विजानीहि । किं तत्र विज्ञेयमिति,
उच्यते— शृणु इदं शुक्लवत्कार्यत्वात् शरीरं नामूलं मूल-
रहितं भविष्यति इत्युक्तः आह श्वेतकेतुः ॥

तस्य क मूलं ५ ख्यादन्यत्रान्नादेवमेव
खलु सोम्यान्नेन शुद्धेनापो मूलमन्वि-
च्छाद्भिः सोम्य शुद्धेन तेजो मूलमन्वि-
च्छ तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्वि-
च्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः
सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

यद्येवं समूलमिदं शरीरं वटादिशुक्लवत्, तस्य अस्य
शरीरस्य क मूलं स्यात् भवेत् इत्येवं पृष्टः आह पिता—
तस्य क मूलं स्यात् अन्यत्रान्नादन्नं मूलमित्यभिप्रायः ।
कथम्? अशितं हि अन्नमद्भिर्द्रवीकृतं जाठरेणाग्निना पच्य-
मानं रसभावेन परिणमते । रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं
मांसान्मेदो मेदसोऽस्थीन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जायाः शुक्रम् ।
तथा योषिद्भुक्तं च अन्नं रसादिक्रमेणैवं परिणतं लोहितं
भवति । ताभ्यां शुक्रशोणिताभ्यामन्नकार्याभ्यां संयुक्ताभ्या-
मन्नेन एवं प्रत्यहं भुज्यमानेन आपूर्यमाणाभ्यां कुड्यमिव

मृत्पिण्डैः प्रत्यहमुपचीयमानः अन्नमूलः देहशुक्लः परिनिष्पन्न इत्यर्थः । यत्तु देहशुक्लस्य मूलमन्नं निर्दिष्टम्, तदपि देहवद्विनाशोत्पत्तिमत्त्वात् कस्माच्चिन्मूलादुत्पत्तितं शुक्ल एवेति कृत्वा आह—यथा देहशुक्लः अन्नमूलः एवमेव खलु सोम्य अन्नेन शुक्लेन कार्यभूतेन अपो मूलमन्नस्य शुक्लस्यान्विच्छ प्रतिपद्यस्व । अपामपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वात् शुक्लत्वमेवेति अद्भिः सोम्य शुक्लेन कार्येण कारणं तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसोऽपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वात् शुक्लत्वमिति तेजसा सोम्य शुक्लेन सन्मूलम् एकमेवाद्वितीयं परमार्थसत्यम् । यस्मिन्सर्वमिदं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पजातमध्यस्तमविद्यया, तदस्य जगतो मूलम् ; अतः सन्मूलाः सत्कारणाः हे सोम्य इमाः स्थावरजङ्गमलक्षणाः सर्वाः प्रजाः । न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिक्रमे सदायतनाः सदाश्रया एव । न हि मृदमनाश्रित्य घटादेः सत्त्वं स्थितिर्वा अस्ति । अतः मृद्वत्सन्मूलत्वात्प्रजानां सत् आयतनं यासां ताः सदायतनाः प्रजाः । अन्ते च सत्प्रतिष्ठाः सदेव प्रतिष्ठा लयः समाप्तिः अवसानं परिशेषः यासां ताः सत्प्रतिष्ठाः ॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम

तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायो-
 ऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आच-
 ष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुक्लमुत्पतितं
 सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्य-
 तीति ॥ ५ ॥

अथ इदानीमशुक्लद्वारेण सतो मूलस्यानुगमः कार्यं
 इत्याह— यत्र यस्मिन्काले एतन्नाम पिपासति पातुमिच्छ-
 तीति पुरुषो भवति । अशिशिषतीतिवत् इदमपि गौणमेव
 नाम भवति । द्रवीकृतस्याशितस्यान्नस्य नेत्र्यः आपः अन्न-
 शुक्लं देहं छेदयन्त्यः शिथिलीकुर्युः अब्बाहुल्यात् यदि
 तेजसा न शोष्यन्ते । नितरां च तेजसा शोष्यमाणास्वप्सु
 देहभावेन परिणममानासु पातुमिच्छा पुरुषस्य जायते;
 ब्रूयाद् पुरुषः पिपासति नाम; तदेतदाह— तेज एव तत्र
 तदा पीतमवादि शोषयत् देहगतलोहितप्राणभावेन नयते
 परिणमयति । तद्यथा गोनाय इत्यादि समानम्; एवं तत्तेज
 आचष्टे लोकः— उदन्येति उदकं नयतीत्युदन्यम्, उदन्येति
 च्छान्दसं तत्रापि पूर्ववत् । अपामपि एतदेव शरीराख्यं
 शुक्लं नान्यदित्येवमादि समानमन्यत् ॥

तस्य क मूलं स्यादन्यत्वाद्भ्योऽद्भिः
 सोम्य शुक्लेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा
 सोम्य शुक्लेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः
 सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः स-
 त्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्तिष्ठो
 देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्रिवृदेकैका भ-
 वति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य
 पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः
 प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवता-
 याम् ॥ ६ ॥

सामर्थ्यात् तेजसोऽप्येतदेव शरीराख्यं शुक्लम् । अतः
 अप्शुक्लेन देहेन आपो मूलं गम्यते । अद्भिः शुक्लेन तेजो
 मूलं गम्यते । तेजसा शुक्लेन सन्मूलं गम्यते पूर्ववत् ।
 एवं हि तेजोबन्धनमयस्य देहशुक्लस्य वाचारम्भणमात्रस्य अ-
 ज्ञादिपरम्परया परमार्थसत्यं सन्मूलमभयमसंत्वासं निरा-
 यासं सन्मूलमन्विच्छेति पुत्रं गमयित्वा अशिशिषति पिपा-
 सतीति नामप्रसिद्धिद्वारेण यदन्यत् इह अस्मिन्प्रकरणे तेजो-
 बन्धानां पुरुषेणोपयुज्यमानानां कार्यकरणसंघातस्य देहशु-

ङ्गस्य स्वजात्यसांकर्येणोपचयकरत्वं वक्तव्यं प्राप्तम्, तदिहो-
 क्तमेव द्रष्टव्यमिति पूर्वोक्तं व्यपदिशति—यथा तु खलु येन
 प्रकारेण इमाः तेजोबन्नाख्याः तिस्रः देवताः पुरुषं प्राप्य
 त्रिवृन्निवृदेकैका भवति, तदुक्तं पुरस्तादेव भवति ‘अन्नम-
 शितं त्रेधा विधीयते’ इत्यादि तत्रैवोक्तम् । अन्नादीनामशि-
 तानां ये मध्यमा धातवः, ते साप्तधातुकं शरीरमुपचिन्वन्ती-
 त्युक्तम्—मांसं भवति लोहितं भवति मज्जा भवति अस्थि
 भवतीति । ये त्वणिष्ठा धातवः मनः प्राणं वाचं देहस्यान्तःकर-
 णसंघातमुपचिन्वन्तीति च उक्तम्—तन्मनो भवति स प्राणो
 भवति स वाग्भवतीति । सोऽयं प्राणकरणसंघातः देहे वि-
 शीर्णे देहान्तरं जीवाधिष्ठितः येन क्रमेण पूर्वदेहात्प्रच्युतः
 गच्छति, तदाह—अस्य हे सोम्य पुरुषस्य प्रयतः म्रियमा-
 णस्य वाक् मनसि संपद्यते मनस्युपसंह्रियते । अथ तदाहुः
 ज्ञातयो न वदतीति । मनःपूर्वको हि वाग्व्यापारः, ‘यद्वै
 मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति’ इति श्रुतेः । वाच्युपसंह-
 तायां मनसि मननव्यापारेण केवलेन वर्तते । मनोऽपि यदा
 उपसंह्रियते, तदा मनः प्राणे संपन्नं भवति—सुषुप्तकाले इव ;
 तदा पार्श्वस्था ज्ञातयः न विजानातीत्याहुः । प्राणश्च तदोर्ध्वो-
 च्छ्वासी स्वात्मन्युपसंहृतबाह्यकरणः संवर्गविद्यायां दर्शनात्

हस्तपादादीन्विक्षिपन् मर्मस्थानानि निकृन्तन्निव उत्सृजन् क्रमेणोपसंहृतः तेजसि संपद्यते ; तदाहुः ज्ञातयो न चलतीति । मृतः नेति वा विचिकित्सन्तः देहमालभमानाः उष्णं च उपलभमानाः देहः उष्णः जीवतीति यदा तदप्यौष्ण्यलिङ्गं तेज उपसंह्रियते, तदा तत्तेजः परस्यां देवतायां प्रशाम्यति । तदैवं क्रमेणोपसंहृते स्वमूलं प्राप्ते च मनसि तत्स्थो जीवोऽपि सुषुप्तकालवत् निमित्तोपसंहारादुपसंह्रियमाणः सन् सत्याभिसंधिपूर्वकं चेदुपसंह्रियते सदेव संपद्यते न पुनर्देहान्तराय सुषुप्तादिवोत्तिष्ठति, यथा लोके सभये देशे वर्तमानः कथंचिदिवाभयं देशं प्राप्नोति । इतरस्तु अनात्मज्ञः तस्मादेव मूलात् सुषुप्तादिवोत्थाय मृत्वा पुनर्देहजालमाविशति यस्मान्मूलादुत्थाय देहमाविशति जीवः ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं
तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥

स यः सदाख्यः एषः उक्तः अणिमा अणुभावः जगतो

मूलम् ऐतदात्म्यम् एतत्सदात्मा यस्य सर्वस्य तत् एतदात्म
 तस्य भावः ऐतदात्म्यम् । एतेन सदाख्येन आत्मना आत्म-
 वत् सर्वमिदं जगत् । चान्योऽस्त्यस्यात्मासंसारि, 'नान्यदतो-
 ऽस्ति द्रष्टुं नान्यदतोऽस्ति श्रोतुं' इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । येन
 च आत्मना आत्मवत्सर्वमिदं जगत्, तदेव सदाख्यं कारणं
 सत्यं परमार्थसत् । अतः स एव आत्मा जगतः प्रत्य-
 कस्वरूपं सतत्त्वं याथात्म्यम्, आत्मशब्दस्य निरूपपदस्य
 प्रत्यगात्मनि गवादिशब्दवत् निरूढत्वात् । अतः तत् सत्
 त्वमसीति हे श्वेतकेतो इत्येवं प्रत्यायितः पुत्रः आह—भूय
 एव मा भगवान् विज्ञापयतु, यद्वदुक्तं तत् संदिग्धं मम-
 अहन्यहनि सर्वाः प्रजाः सुषुप्तौ सत् संपद्यन्ते इत्येतत्, येन
 सत् संपद्य न विदुः सत्संपन्ना वयमिति । अतः दृष्टान्तेन
 मां प्रत्याययत्वित्यर्थः । एवमुक्तः तथा अस्तु सौम्य इति
 ह उवाच पिता ॥

इति अष्टमस्कण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः ॥

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठ-
न्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समव-
हारमेकतां रसं गमयन्ति ॥ १ ॥

यत्पृच्छसि—अहन्यहनि सत्संपद्य न विदुः सत्संपन्नाः
स्म इति, तत्कस्मादिति—अत्र शृणु दृष्टान्तम्—यथा लोके
हे सोम्य मधुकृतः मधु कुर्वन्तीति मधुकृतः मधुकरमक्षिकाः
मधु निस्तिष्ठन्ति मधु निष्पादयन्ति तत्पराः सन्तः । कथम् ?
नानात्ययानां नानागतीनां नानादिकानां वृक्षाणां रसान्
समवहारं समाहृत्य एकताम् एकभावं मधुत्वेन रसान् गम-
यन्ति मधुत्वमापादयन्ति ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्या-
हं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसो-
ऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः
सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह
इति ॥ १ ॥

ते रसाः यथा मधुत्वेनैकतां गताः तत्र मधुनि विवेकं

न लभन्ते; कथम्? अमुष्याहमाश्रस्य पनसस्य वा वृक्षस्य रसोऽस्मीति— यथा हि लोके बहूनां चेतनावतां समेतानां प्राणिनां विवेकलाभो भवति अमुष्याहं पुत्रः अमुष्याहं नप्तास्मीति; ते च लब्धविवेकाः सन्तः न संकीर्यन्ते; न तथा इह अनेकप्रकारवृक्षरसानामपि मधुराम्लतिक्तकटुकादीनां मधुत्वेन एकतां गतानां मधुरादिभावेन विवेको गृह्यत इत्यभिप्रायः । यथा अयं दृष्टान्तः, इत्येवमेव खलु सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः अहन्यहनि सति संपद्य सुषुप्तिकाले मरणप्रलययोश्च न विदुः न विजानीयुः— सति संपद्यामहे इति संपन्ना इति वा ॥

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको
वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दं-
शो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा-
भवन्ति ॥ ३ ॥

यस्माच्च एवमात्मनः सद्रूपतामज्ञात्वैव सत्संपद्यन्ते, अतः ते इह लोके यत्कर्मनिमित्तां यां यां जातिं प्रतिपन्ना आसुः व्याघ्रादीनाम्—व्याघ्रोऽहं सिंहोहमित्येवम्, ते तत्कर्मज्ञानवासनाङ्किताः सन्तः सत्प्रविष्टा अपि तद्भावेनैव पुनराभवन्ति पुनः सत आगत्य व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो

वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यत्पूर्वमिह
लोके भवन्ति बभूवुरित्यर्थः, तदेव पुनरागत्य भवन्ति ।
युगसहस्रकोऽन्यन्तरितापि संसारिणः जन्तोः या पुरा
भाविता वासना, सा न नश्यतीत्यर्थः । ‘यथाप्रज्ञं हि
संभवाः’ इति श्रुत्यन्तरात् ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं
तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

इति नवमः खण्डः ॥

ताः प्रजाः यस्मिन्प्रविश्य पुनराविर्भवन्ति, ये तु इतो-
ऽन्ये सत्सत्यात्माभिसंधाः यमणुभावं सदात्मानं प्रविश्य
नावर्तन्ते, स य एषोऽणिमेत्यादि व्याख्यातम् । यथा लोके
स्वकीये गृहे सुप्तः उत्थाय ग्रामान्तरं गतः जानाति स्वगृ-
हादागतोऽस्मीति, एवं सत आगतोऽस्मीति च जन्तूनां क-
स्माद्विज्ञानं न भवतीति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु
इत्युक्तः तथा सोम्येति ह उवाच पिता ॥

इति नवमखण्डभाष्यम् ॥

दशमः खण्डः ॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्य-
न्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमे-
वापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा
तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥

शृणु तत्र दृष्टान्तम्—यथा सोम्य इमा नद्यः गङ्गाद्याः
पुरस्तात् पूर्वा दिशं प्रति प्राच्यः प्रागञ्चनाः स्यन्दन्ते
स्रवन्ति । पश्चात् प्रतीचीं दिशं प्रति सिन्ध्वाद्याः प्रतीचीम्
अञ्चन्ति गच्छन्तीति प्रतीच्यः, ताः समुद्रादम्भोनिधेः
जलधरैराक्षिप्ताः पुनर्वृष्टिरूपेण पतिताः गङ्गादिनदीरूपिण्यः
पुनः समुद्रम् अम्भोनिधिमेव अपियन्ति स समुद्र एव
भवति । ता नद्यः यथा तत्र समुद्रे समुद्रात्मना एकतां
गताः न विदुः न जानन्ति— इयं गङ्गा अहमस्मि इयं
यमुना अहमस्मीति च ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः
सत आगम्य न विदुः सत आगच्छमाह

इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको
वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो
वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं
तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

एवमेव खलु सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः यस्मात् सति
संपद्य न विदुः, तस्मात्सत आगम्य न विदुः—सत आग-
च्छामहे आगता इति वा । त इह व्याघ्र इत्यादि समान-
मन्यत् । दृष्टं लोके जले वीचीतरङ्गफेनबुद्बुदादय उत्थिताः
पुनस्तद्भावं गता विनष्टा इति । जीवास्तु तत्कारणभावं
प्रत्यहं गच्छन्तोऽपि सुषुप्ते मरणप्रलययोश्च न विनश्यन्ती-
त्येतत्, भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु दृष्टान्तेन । तथा
सोम्येति ह उवाच पिता ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥

एकादशः खण्डः ॥

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूले-
ऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्या-
ज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स
एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मो-
दमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

शृणु दृष्टान्तम्—अस्य हे सोम्य महतः अनेकशाखादियु-
क्तस्य वृक्षस्य, अस्येत्यग्रतः स्थितं वृक्षं दर्शयन् आह—यदि
यः कश्चित् अस्य मूले अभ्याहन्यात्, परश्चादिना सकृद्धातमा-
त्रेण न शुष्यतीति जीवन्नेव भवति, तदा तस्य रसः स्रवे-
त् । तथा यो मध्ये अभ्याहन्यात् जीवन्स्रवेत्, तथा योऽग्रे
अभ्याहन्यात् जीवन्स्रवेत् । स एष वृक्षः इदानीं जीवेन
आत्मना अनुप्रभूतः अनुव्याप्तः पेपीयमानः अत्यर्थं पिबन्
उदकं भौमांश्च रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानः हर्षं प्राप्नुवन्
तिष्ठति ॥

अस्य यदेकाः शाखां जीवो जहात्यथ
सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शु-
ष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति

सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥ २ ॥

तस्यास्य यदेकां शाखां रोगप्रस्ताम् आहतां वा जीवः जहाति उपसंहरति शाखायां विप्रसृतमात्मांशम् , अथ सा शुष्यति । वाङ्मनःप्राणकरणग्रामानुप्रविष्टो हि जीव इति तदुपसंहारे उपसंहियते । जीवेन च प्राणयुक्तेन अशितं पीतं च रसतां गतं जीवच्छरीरं वृक्षं च वर्धयत् रसरूपेण जीवस्य सद्भावे लिङ्गं भवति । अशितपीताभ्यां हि देहे जीवस्तिष्ठति । ते च अशितपीते जीवकर्मानुसारिणी इति तस्यैकाङ्गवैकल्यनिमित्तं कर्म यदोपस्थितं भवति, तदा जीवः एकां शाखां जहाति शाखाया आत्मानमुपसंहरति ; अथ तदा सा शाखा शुष्यति । जीवस्थितिनिमित्तो रसः जीवकर्माक्षिप्तः जीवोपसंहारे न तिष्ठति । रसापगमे च शाखा शोषमुपैति । तथा सर्वं वृक्षमेव यदा अयं जहाति तदा सर्वोऽपि वृक्षः शुष्यति । वृक्षस्य रसस्त्रवणशोषणादिलिङ्गात् जीववत्त्वं दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा इति बौद्धकाणादमतमचेतनाः स्थावरा इत्येतदसारमिति दर्शितं भवति ॥

**एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच
जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो**

म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमि-
दं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि
श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्वि-
ज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥

इति एकादशः खण्डः ॥

यथा अस्मिन्वृक्षदृष्टान्ते दर्शितम्— जीवेन युक्तः वृक्षः
अशुष्कः रसपानादियुक्तः जीवतीत्युच्यते, तदपेतश्च म्रियत
इत्युच्यते ; एवमेव खलु सोम्य विद्धीति ह उवाच— जीवा-
पेतं जीववियुक्तं वाव किल इदं शरीरं म्रियते न जीवो म्रियत
इति । कार्यशेषे च सुप्तोत्थितस्य मम इदं कार्यशेषम् अपरि-
समाप्तमिति स्मृत्वा समापनदर्शनात् । जातमात्राणां च जन्तूनां
स्तन्याभिलाषभयादिदर्शनाच्च अतीतजन्मान्तरानुभूतस्तन्य-
पानदुःखानुभवस्मृतिर्गम्यते । अग्निहोत्रादीनां च वैदिकानां
कर्मणामर्थवत्त्वात् न जीवो म्रियत इति । स य एषोऽणिमे-
त्यादि समानम् । कथं पुनरिदमत्यन्तस्थूलं पृथिव्यादि नाम-
रूपवज्जगत् अत्यन्तसूक्ष्मात्सद्रूपान्नामरूपराहितात्सतो जायते,
इति एतद्दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु इति ।
तथा सोम्येति ह उवाच पिता ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वादशः खण्डः ॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति
भिन्द्नीति भिन्नं भगव इति किमत्र प-
श्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्या-
सामङ्गैकां भिन्द्नीति भिन्ना भगव इति
किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति ॥

यदि एतत्प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि अतोऽस्मान्महतः न्यग्रो-
धात् फलमेकमाहर— इत्युक्तः तथा चकार सः ; इदं भगव
उपहृतं फलमिति दर्शितवन्तं प्रति आह— फलं भिन्द्नीति ।
भिन्नमित्याह इतरः । तमाह पिता— किमत्र पश्यसीति ;
उक्तः आह— अण्व्यः अणुतरा इव इमाः धानाः बीजानि
पश्यामि भगव इति । आमां धानानामेकां धानाम् अङ्ग हे
वत्स भिन्द्नु, इत्युक्तः आह— भिन्ना भगव इति । यदि
भिन्ना धाना तस्यां भिन्नायां किं पश्यसि, इत्युक्तः आह—
न किञ्चन पश्यामि भगव इति ॥

त५ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं
न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम
एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सो-
म्येति ॥ २ ॥

तं पुत्रं ह उवाच— वटधानायां भिन्नायां यं वटबीजाणि-
मानं हे सोम्य एतं न निभालयसे न पश्यसि, तथा अ-
प्येतस्य वै किल सोम्य एष महान्यग्रोधः बीजस्य अणिन्नः
सूक्ष्मस्य अदृश्यमानस्य कार्यभूतः स्थूलशाखास्कन्धफल-
पलाशवान् तिष्ठति उत्पन्नः सन्, उत्तिष्ठतीति वा, उच्छब्दो-
ऽध्याहार्यः । अतः श्रद्धत्स्व सोम्य सत एव अणिन्नः स्थूलं
नामरूपादिमत्कार्यं जगदुत्पन्नमिति । यद्यपि न्यायागमाभ्यां
निर्धारितोऽर्थः तथैवेत्यवगम्यते, तथापि अत्यन्तसूक्ष्मेष्वर्थेषु
बाह्यविषयासक्तमनसः स्वभावप्रवृत्तस्यासत्यां गुरुतरायां
श्रद्धायां दुरवगमत्वं स्यादित्याह— श्रद्धत्स्वेति । श्रद्धायां तु
सत्यां मनसः समाधानं बुभुत्सितेऽर्थे भवेत्, ततश्च तद-
र्थावगतिः, ‘अन्यत्रमना अभूवम्’ इत्यादिश्रुतेः ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं
तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

स य इत्याद्युक्तार्थम् । यदि तत्सज्जगतो मूलम्, कस्मा-
न्नोपलभ्यत इत्येतदृष्टान्तेन मा भगवान्भूय एव विज्ञापय-
त्विति । तथा सोम्येति ह उवाच पिता ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुप-
सीदथा इति स ह तथा चकार तं हो-
वाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग त-
दाहरेति तद्भावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

विद्यमानमपि वस्तु नोपलभ्यते, प्रकारान्तरेण तु उप-
लभ्यत इति शृणु अत्र दृष्टान्तम्— यदि च इममर्थं प्रत्य-
क्षीकर्तुमिच्छसि, पिण्डरूपं लवणम् एतद्धटादौ उदके अव-
धाय प्रक्षिप्य अथ मा मां श्वः प्रातः उपसीदथाः उपगच्छेथाः
इति । स ह पित्रोक्तमर्थं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छन् तथा चकार ।
तं ह उवाच परेशुः प्रातः—यल्लवणं दोषा रात्रौ उदके अवा-
धाः निश्चिप्रवानसि अङ्ग हे वत्स तदाहर— इत्युक्तः तल्लवण-
माजिहीर्षुः ह किल अवमृश्य उदके न विवेद न विज्ञात-
वान् । यथा तल्लवणं विद्यमानमेव सत् अप्सु लीनं संश्लिष्ट-
मभूत् ॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति
कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति क-
थमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमि-

ति लवणमित्यभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा
इति तद्ध तथा चकार तच्छ्वत्संवर्तते
त५ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न
निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

यथा विलीनं लवणं न वेत्थ, तथापि तच्चक्षुषा स्पर्शनेन
च पिण्डरूपं लवणमगृह्यमाणं विद्यत एव अप्सु, उपलभ्यते
च उपायान्तरेण— इत्येतत् पुत्रं प्रत्याययितुमिच्छन् आह—
अङ्ग अस्योदकस्य अन्तात् उपरि गृहीत्वा आचाम—इत्युक्त्वा
पुत्रं तथाकृतवन्तेमुवाच—कथमिति ; इतर आह— लवणं स्वा-
दुत इति । तथा मध्यादुदकस्य गृहीत्वा आचाम इति, कथ-
मिति, लवणमिति । तथान्तात् अधोदेशात् गृहीत्वा आ-
चाम इति, कथमिति, लवणमिति । यद्येवम्, अभिप्रास्य परि-
त्यज्य एतदुदकम् आचम्य अथ मोपसीदथाः इति ; तद्ध तथा
चकार लवणं परित्यज्य पितृसमीपमाजगामेत्यर्थः इदं वचनं
ब्रुवन—तल्लवणं तस्मिन्नेवोदके यन्मया रात्रौ क्षिप्तं शश्वन्नित्यं
संवर्तते विद्यमानमेव सत् सम्यग्वर्तते । इति एवमुक्तवन्तं तं
ह उवाच पिता— यथेदं लवणं दर्शनस्पर्शनाभ्यां पूर्वं
गृहीतं पुनरुदके विलीनं ताभ्यामगृह्यमाणमपि विद्यत एव
उपायान्तरेण जिह्वोपलभ्यमानत्वात्— एवमेव अत्रैव

अस्मिन्नेव तेजोबन्नादिकार्ये शुक्ले देहे, वाव किलेत्याचार्योपदेशस्मरणप्रदर्शनार्थी, सत् तेजोबन्नादिशुक्लकारणं, वट-
बीजाणिमवद्विद्यमानमेव इन्द्रियैर्नोपलभसे न निभाल-
यसे । यथा अत्रैवोदके दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलभ्यमानं ल-
वणं विद्यमानमेव जिह्वया उपलब्धवानसि— एवमेवात्रैव
किल विद्यमानं सत् जगन्मूलम् उपायान्तरेण लवणाणिमवत्
उपलप्स्यस इति वाक्यशेषः ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं
तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच ॥ ६ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

स य इत्यादि समानम् । यद्येवं लवणाणिमवदिन्द्रियैर-
नुपलभ्यमानमपि जगन्मूलं सत् उपायान्तरेण उपलब्धुं
शक्यते, यदुपलम्भात्कृतार्थः स्याम् अनुपलम्भाच्चाकृतार्थः
स्यामहम्, तस्यैवोपलब्धौ क उपायः इत्येतत् भूय एव मा
भगवान् विज्ञापयतु दृष्टान्तेन । तथा सोम्य इति ह उवाच ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिन-
द्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स
यथा तत्र प्राङ्बोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्-
वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिन-
द्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

यथा लोके हे सोम्य पुरुषं यं कंचित् गन्धारेभ्यो
जनपदेभ्यः अभिनद्धाक्षं बद्धचक्षुषम् आनीय द्रव्यहर्ता
तस्करः तमभिनद्धाक्षमेव बद्धहस्तम् अरण्ये ततोऽप्यति-
जने अतिगतजने अत्यन्तविगतजने देशे विसृजेत्, स तस्य
दिग्भ्रमोपेतः यथा प्राङ्वा प्रागञ्चनः प्राबुधो वेत्यर्थः,
तथोदङ्वा अधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीत शब्दं कुर्यात् विक्रो-
शेत्—अभिनद्धाक्षोऽहं गन्धारेभ्यस्तस्करेणानीतोऽभिनद्धाक्ष
एव विसृष्ट इति ॥

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां
दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रा-
माद्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारा-
नेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद
तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ
संपत्स्य इति ॥ २ ॥

एवं विक्रोशतः तस्य यथाभिनहनं यथा बन्धनं प्रमुच्य
मुक्त्वा कारुणिकः कश्चित् एतां दिशमुत्तरतः गन्धाराः
एतां दिशं व्रज—इति प्रब्रूयात् । स एवं कारुणिकेन बन्ध-
नान्मोक्षितः ग्रामात् ग्रामान्तरं पृच्छन् पण्डितः उपदेश-
वान् मेधावी परोपदिष्टग्रामप्रवेशमार्गावधारणसमर्थः सन्
गन्धारानेवोपसंपद्येत । नेतरो मूढमतिः देशान्तरदर्शनतृड्वा ।
यथा अयं दृष्टान्तः वर्णितः—स्वविषयेभ्यो गन्धारेभ्यः पुरुषः
तत्स्करैरभिनद्धाश्रः अविवेकः दिङ्मूढः अशनायापिपासा-
दिमान व्याघ्रतस्कराद्यनेकभयानर्थव्रातयुतमरण्यं प्रवेशितः
दुःखार्तः विक्रोशन् बन्धनेभ्यो मुमुक्षुस्तिष्ठति, स कथंचि-
देव कारुणिकेन केनचिन्मोक्षितः स्वदेशान्गन्धारानेवापन्नः
निर्वृतः सुख्यभूत्— एवमेव सतः जगदात्मस्वरूपात्तेजोब-
न्नादिमयं देहारण्यं वातपित्तकफरुधिरमेदोमांसास्थिमज्जाशु-
क्रकृमिमूत्रपुरीषवत् शीतोष्णाद्यनेकद्वन्द्वदुःखवच्च इदं मोह-
पटाभिनद्धाश्रः भार्यापुत्रमित्रपशुबन्ध्वादिवृष्टादृष्टानेकविषय-
तृष्णापाशितः पुण्यापुण्यादितस्करैः प्रवेशितः— अहममुष्य
पुत्रः, ममैते बान्धवाः, सुख्यहं दुःखी मूढः पण्डितो धार्मिको
बन्धुमान् जातः मृतो जीर्णः पापी, पुत्रो मे मृतः, धनं मे
नष्टम्, हा हतोऽस्मि, कथं जीविष्यामि, का मे गतिः, किं

मे त्राणम्—इत्येवमनेकशतसहस्रानर्थजालवान् विक्रोशन् कथं-
 चिदेव पुण्यातिशयात्परमकारुणिकं कंचित्सद्ब्रह्मात्मविदं वि-
 मुक्तबन्धनं ब्रह्मिष्ठं यदा आसादयति, तेन च ब्रह्मविदा
 कारुण्यात् दर्शितसंसारविषयदोषदर्शनमार्गः विरक्तः संसा-
 रविषयेभ्यः—नासि त्वं संसारी अमुष्य पुत्रत्वादिधर्मवान्,
 किं तर्हि, सत् यत्तत्त्वमसि—इत्यविद्यामोहपटाभिनहनान्मोक्षि-
 तः गन्धारपुरुषवच्च स्वं सदात्मानम् उपसंपद्य सुखी निर्वृतः
 स्यादित्येतमेवार्थमाह— आचार्यवान्पुरुषो वेदेति । तस्यास्य
 एवमाचार्यवतो मुक्ताविद्याभिनहनस्य तावदेव तावानेव
 कालः चिरं श्रेयः सदात्मस्वरूपसंपत्तेरिति वाक्यशेषः ।
 कियान्कालश्चिरमिति, उच्यते— यावन्न विमोक्ष्ये न विमो-
 क्ष्यते इत्येतत्पुरुषव्यत्ययेन, सामर्थ्यात् ; येन कर्मणा शरी-
 रमारब्धं तस्मिन्भोगेन क्षयात् देहपातो यावदित्यर्थः ।
 अथ तदैव सत् संपत्स्ये संपत्स्यते इति पूर्ववत् । न हि
 देहमोक्षस्य सत्संपत्तेश्च कालभेदोऽस्ति येन अथ-शब्दः
 आनन्तर्यार्थः स्यात् ॥

ननु यथा सद्विज्ञानानन्तरमेव देहपातः सत्संपत्तिश्च न
 भवति कर्मशेषवशात्, तथा अप्रवृत्तफलानि प्राग्ज्ञानोत्पत्ते-
 र्जन्मान्तरमंचितान्यपि कर्माणि सन्तीति तत्फलोपभोगार्थं

पतिते अस्मिञ्शरीरान्तरमारब्धव्यम् । उत्पन्ने च ज्ञाने यावज्जीवं विहितानि प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि करोत्येवेति तत्फलोपभोगार्थं च अवश्यं शरीरान्तरमारब्धव्यम्, ततश्च कर्माणि ततः शरीरान्तरम् इति ज्ञानानर्थक्यम्, कर्मणां फलवत्त्वात् । अथ ज्ञानवतः क्षीयन्ते कर्माणि, तदा ज्ञानप्राप्तिसमकालमेव ज्ञानस्य सत्संपत्तिहेतुत्वान्मोक्षः स्यादिति शरीरपातः स्यात् । तथा च आचार्याभावः इति आचार्यवान्पुरुषो वेद इत्यनुपपत्तिः । ज्ञानान्मोक्षाभावप्रसङ्गश्च देशान्तरप्राप्त्युपायज्ञानवदनैकान्तिकफलत्वं वा ज्ञानस्य । न, कर्मणां प्रवृत्ताप्रवृत्तफलवत्त्वविशेषोपपत्तेः । यदुक्तम् अप्रवृत्तफलानां कर्मणां ध्रुवफलवत्त्वाद्ब्रह्मविदः शरीरे पतिते शरीरान्तरमारब्धव्यम् अप्रवृत्तकर्मफलोपभोगार्थमिति, एतदसत् । विदुषः ‘तस्य तावदेव चिरम्’ इति श्रुतेः प्रामाण्यात् । ननु ‘पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति’ इत्यादिश्रुतेरपि प्रामाण्यमेव । सत्यमेवम् । तथापि प्रवृत्तफलानामप्रवृत्तफलानां च कर्मणां विशेषोऽस्ति । कथम् ? यानि प्रवृत्तफलानि कर्माणि यैर्विद्वच्छरीरमारब्धम्, तेषामुपभोगेनैव क्षयः— यथा आरब्धवेगस्य लक्ष्यमुक्तेष्वादेः वेगश्रयादेव स्थितिः, न तु लक्ष्यवेधसमकालमेव

प्रयोजनं नास्तीति—तद्वत् । अन्यानि तु अप्रवृत्तफलानि इह प्राग्ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं च कृतानि वा क्रियमाणानि वा अती-
तजन्मान्तरकृतानि वा अप्रवृत्तफलानि ज्ञानेन दह्यन्ते
प्रायश्चित्तेनेव ; ‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते
तथा’ इति स्मृतेश्च । ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि’ इति च
आथर्वणे । अतः ब्रह्मविदः जीवनादिप्रयोजनाभावेऽपि प्र-
वृत्तफलानां कर्मणामवश्यमेव फलोपभोगः स्यादिति मुक्ते-
षुवत् तस्य तावदेव चिरमिति युक्तमेवोक्तमिति यथोक्तदो-
षचोदनानुपपत्तिः । ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं च ब्रह्मविदः कर्माभा-
वमवोचाम ‘ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’ इत्यत्र । तच्च स्मर्तुम-
र्हसि ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं
तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

स य इत्याद्युक्तार्थम् । आचार्यवान् विद्वान् येन क्रमेण
सत् संपद्यते, तं क्रमं दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्वि-
ज्ञापयत्विति । तथा सोम्य इति ह उवाच ॥

इति चतुर्दशखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चदशः खण्डः ॥

पुरुषः सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्यु-
पासते जानासि मां जानासि मामिति
तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः
प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां
तावज्जानाति ॥ १ ॥

पुरुषं हे सोम्य उत उपतापिनं ज्वराद्युपतापवन्तं ज्ञातयः
बान्धवाः परिवार्य उपासते मुमूर्षुम्— जानासि मां तव
पितरं पुत्रं भ्रातरं वा—इति पृच्छन्तः । तस्य मुमूर्षोः यावन्न
वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां
देवतायाम् इत्येतदुक्तार्थम् ॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः
प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवता-
यामथ न जानाति ॥ २ ॥

संसारिणः यः मरणक्रमः स एवायं विदुषोऽपि सत्सं-
पत्तिक्रम इत्येतदाह— परस्यां देवतायां तेजसि संपन्ने अथ
न जानाति । अविद्वांस्तु सत उत्थाय प्राग्भावितं व्याघ्रा-
दिभावं देवमनुष्यादिभावं वा विशति । विद्वांस्तु शास्त्रा-

चार्योपदेशजनितज्ञानदीपप्रकाशितं सद्ब्रह्मात्मानं प्रविश्य न आवर्तते इत्येष सत्संपत्तिक्रमः । अन्ये तु मूर्धन्यया नाड्या उत्क्रम्य आदित्यादिद्वारेण सद्ब्रच्छन्तीत्याहुः ; तदसत् , देश-कालनिमित्तफलाभिसंधानेन गमनदर्शनात् । न हि सदात्मैकत्वदर्शिनः सत्याभिसंधस्य देशकालनिमित्तफलाद्यनृताभिसंधिरुपपद्यते, विरोधान् । अविद्याकामकर्मणां च गमननिमित्तानां सद्विज्ञानहुताशनविप्लुष्टत्वात् गमनानुपपत्तिरेव ; 'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्वैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः' इत्याद्याथर्वणे नदीसमुद्रदृष्टान्तश्रुतेश्च ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं
तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति श्रूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

स य इत्यादि समानम् । यदि मरिष्यतो मुमुक्षुतश्च तुल्या सत्संपत्तिः, तत्र विद्वान् सत्संपन्नो नावर्तते, आवर्तते त्वविद्वान्—इत्यत्र कारणं दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति ह उवाच ॥

इति पञ्चदशखण्डभाष्यम् ॥

षोडशः खण्डः ॥

पुरुषः सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्य-
पहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति
स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृत-
मात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसंधोऽनृतेना-
त्मानमन्तर्धाय परशुं तसं प्रतिगृह्णाति
स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥

शृणु—यथा सोम्य पुरुषं चौर्यकर्मणि संदिह्यमानं निप्र-
हाय परीक्षणाय च उत अपि हस्तगृहीतं बद्धहस्तम् आन-
यन्ति राजपुरुषाः । किं कृतवानयमिति पृष्टाश्च आहुः—
अपहार्षीद्धनमस्यायम् । ते च आहुः— किमपहरणमात्रेण
बन्धनमर्हति, अन्यथा दत्तेऽपि धने बन्धनप्रसङ्गात् ; इत्युक्ताः
पुनराहुः— स्तेयमकार्षीत् चौर्येण धनमपहार्षीदिति । तेष्वेवं
वदत्सु इतरः अपहृते— नाहं तत्कर्तेति । ते च आहुः— संदि-
ह्यमानं स्तेयमकार्षीः त्वमस्य धनस्येति । तस्मिंश्च अपहृत्वाने
आहुः— परशुमस्मै तपतेति शोधयत्वात्मानमिति । स यदि

तस्य स्तैन्यस्य कर्ता भवति बहिश्चापहृते, स एवंभूतः तत एवानृतमन्यथाभूतं सन्तमन्यथात्मानं कुरुते । स तथा अनृताभिसंधोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय व्यवहितं कृत्वा परशुं तप्तं मोहात्प्रतिगृह्णाति, स दह्यते, अथ हन्यते राजपुरुषैः स्वकृतेनानृताभिसंधिदोषेण ॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसंधः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥

अथ यदि तस्य कर्मणः अकर्ता भवति, तत एव सत्यमात्मानं कुरुते । स सत्येन तया स्तैन्याकर्तृतया आत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति । स सत्याभिसंधः स न दह्यते सत्यव्यवधानात्, अथ मुच्यते च मृषाभियोक्तृभ्यः । तप्तपरशुहस्ततलसंयोगस्य तुल्यत्वेऽपि स्तेयकर्त्रकर्त्रोरनृताभिसंधो दह्यते न तु सत्याभिसंधः ॥

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदं
सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वे-

तकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विज-
ज्ञाविति ॥ ३ ॥

इति षोडशः खण्डः ॥

स यथा सत्याभिसंधः तंप्रपश्यग्रहणकर्मणि सत्यव्यवहित-
हस्ततलत्वात् नादाद्येत न दह्येतेत्येतत्, एवं सद्ब्रह्मसत्याभिमं-
धेतस्योः शरीरपातकाले च तुल्यायां सत्संपत्तौ विद्वान् सत्सं-
पद्य न पुनर्व्याघ्रदेवादिदेहग्रहणाय आवर्तते । अविद्वांस्तु विका-
रानृताभिसंधः पुनर्व्याघ्रादिभावं देवतादिभावं वा यथाकर्म
यथाश्रुतं प्रतिपद्यते । यदात्माभिसंध्यनभिसंधिकृते मोक्षबन्धने,
यच्च मूलं जगतः, यदायतना यत्प्रतिष्ठाश्च सर्वाः प्रजाः, यदा-
त्मकं च सर्वं यच्चाजममृतमभयं शिवमद्वितीयम्, तत्सत्यं स
आत्मा तव, अतस्तत्त्वमसि श्वेतकेतो—इत्युक्तार्थमसकृद्वाक्यम् ।
कः पुनरसौ श्वेतकेतुः त्वंशब्दार्थः ? योऽहं श्वेतकेतुरुद्दालकस्य
पुत्र इति वेद आत्मानमादेशं श्रुत्वा मत्वा विज्ञाय च,
अश्रुतममतमविज्ञातं विज्ञातुं पितरं पप्रच्छ ‘कथं नु भगवः
स आदेशो भवति’ इति । स एषः अधिकृतः श्रोता मन्ता
विज्ञाता तेजोबलमयं कार्यकरणसंघातं प्रविष्टा परैव देवता
नामरूपव्याकरणाय—आदर्शे इव पुरुषः सूर्यादिरिव जलादौ

प्रतिबिम्बरूपेण । स आत्मानं कार्यकरणेभ्यः प्रविभक्तं सद्रूपं
सर्वात्मानं प्राक् पितुः श्रवणात् न विजज्ञौ । अथेदानीं
पित्रा प्रतिबोधितः तत्त्वमसि इति दृष्टान्तैर्हेतुभिश्च तत् पितु-
रस्य ह किलोक्तं सदेवाहमस्मीति विजज्ञौ विज्ञातवान् ।
द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥

किं पुनरत्र षष्ठे वाक्यप्रमाणेन जनितं फलमात्मनि ?
कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरधिकृतत्वविज्ञाननिवृत्तिः तस्य फलम्,
यमवोचाम त्वंशब्दवाच्यमर्थं श्रोतुं मन्तुं च अधिकृत-
मविज्ञातविज्ञानफलार्थम् । प्राक्च एतस्माद्विज्ञानात् अह-
मेवं करिष्याम्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि, अहमत्राधिकृतः,
एषां च कर्मणां फलमिहामुत्र च भोक्ष्ये, कृतेषु वा कर्मसु
कृतकर्तव्यः स्याम्— इत्येवं कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरधिकृतोऽस्मी-
त्यात्मनि यद्विज्ञानमभूत् तस्य, यत्सज्जगतो मूलम् एकमे-
वाद्वितीयं तत्त्वमसीत्यनेन वाक्येन प्रतिबुद्धस्य निवर्तते,
विरोधात्—न हि एकस्मिन्नद्वितीये आत्मनि अयमहमस्मी-
ति विज्ञाते ममेदम् अन्यदनेन कर्तव्यम् इदं कृत्वा अस्य
फलं भोक्ष्ये—इति वा भेदविज्ञानमुपपद्यते । तस्मात् सत्स-
त्याद्वितीयात्मविज्ञाने विकारानृतजीवात्मविज्ञानं निवर्तते
इति युक्तम् । ननु 'तत्त्वमसि' इत्यत्र त्वंशब्दवाच्येऽर्थे सद्गु-

द्विरादिश्यते— यथा आदित्यमनआदिषु ब्रह्मादिबुद्धिः, यथा च लोके प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्धिः, तद्वत्; न तु सदेव त्वमिति; यदि सदेव श्वेतकेतुः स्यात्, कथमात्मानं न विजानीयात्, येन तस्मै तत्त्वमसीत्युपदिश्यते? न, आदित्यादिवाक्यवैलक्षण्यात्— ‘आदित्यो ब्रह्म’ इत्यादौ इतिशब्दव्यवधानात् न साक्षाद्ब्रह्मत्वं गम्यते, रूपादिमत्त्वाच्च आदित्यादीनाम् । आकाशमनसोश्च इतिशब्दव्यवधानादेव अब्रह्मत्वम् । इह तु सत एवेह प्रवेशं दर्शयित्वा ‘तत्त्वमसि’ इति निरङ्कुशं सदात्मभावमुपदिशति । ननु पराक्रमादिगुणः सिंहोऽसि त्वम् इतिवत् तत्त्वमसीति स्यात् । न, मृदादिवत् सदेकमेवाद्वितीयं सत्यम् इत्युपदेशात् । न च उपचारविज्ञानात् ‘तस्य तावदेव चिरम्’ इति सत्संपत्तिरुपदिश्येत । मृषात्वादुपचारविज्ञानस्य—त्वमिन्द्रो यम इतिवत् । नापि स्तुतिः, अनुपास्यत्वाच्छ्वेतकेतोः । नापि सत् श्वेतकेतुत्वोपदेशेन स्तूयेत—न हि राजा दासस्त्वमिति स्तुत्यः स्यात् । नापि सतः सर्वात्मन एकदेशनिरोधो युक्तः तत्त्वमसीति—देशाधिपतेरिव ग्रामाध्यक्षस्त्वमिति । न च अन्या गतिरिह सदात्मत्वोपदेशात् अर्थान्तरभूता संभवति । ननु सदस्मीति बुद्धिमात्रमिह कर्तव्यतया चोद्यते न त्वज्ञातं सद-

सीति ज्ञाप्यत इति चेत् । नन्वस्मिन्पक्षेऽपि 'अश्रुतं श्रुतं भव-
 ति' इत्याद्यनुपपन्नम् । न, सदस्मीति बुद्धिविधेः स्तुत्यर्थत्वात् ।
 न, 'आचार्यवान्पुरुषो वेद । तस्य तावदेव चिरम्' इत्युपदे-
 शात् । यदि हि सदस्मीति बुद्धिमात्रं कर्तव्यतया विधीयते न
 तु त्वंशब्दवाच्यस्य सद्रूपत्वमेव, तदा न आचार्यवान्वेद इति
 ज्ञानोपायोपदेशो वाच्यः स्यात् । यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्'
 इत्येवमादिष्वर्थप्राप्तमेव आचार्यवत्त्वमिति, तद्वत् । 'तस्य
 तावदेव चिरम्' इति च क्षेपकरणं न युक्तं स्यात्, सदात्म-
 तत्त्वे अविज्ञातेऽपि सकृद्बुद्धिमात्रकरणे मोक्षप्रसङ्गात् । न
 च तत्त्वमसीत्युक्ते नाहं सदिति प्रमाणवाक्यजनिता बुद्धिः
 निवर्तयितुं शक्या ; नोत्पन्नेति वा शक्यं वक्तुम्, सर्वोपनि-
 षद्वाक्यानां तत्परतयैवोपक्षयात् । यथा अग्निहोत्रादिविधि-
 जनिताग्निहोत्रादिकर्तव्यताबुद्धीनामतथार्थत्वमनुत्पन्नत्वं वा न
 शक्यते वक्तुम्—तद्वत् । यत्तूक्तं सदात्मा सन् आत्मानं
 कथं न जानीयादिति, नासौ दोषः, कार्यकरणसंघात-
 व्यतिरिक्तः अहं जीवः कर्ता भोक्तेत्यपि स्वभावतः प्राणिनां
 विज्ञानादर्शनात् । किमु तस्य सदात्मविज्ञानम् । कथमेवं
 व्यतिरिक्तविज्ञाने असति तेषां कर्तृत्वादिविज्ञानं संभवति
 दृश्यते च । तद्वत्तस्यापि देहादिष्वात्मबुद्धित्वात् न स्यात्स-

दात्मविज्ञानम् । तस्मात् विकारानृताधिकृतजीवात्मविज्ञान-
निवर्तकमेव इदं वाक्यम् 'तत्त्वमसि' इति सिद्धमिति ॥

इति षोडशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-
त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम् सप्तमोऽध्यायः

॥ सप्तमोऽध्यायः ॥

—*—



रमार्थतत्त्वोपदेशप्रधानपरः

षष्ठोऽध्यायः सदात्मैकत्वनिर्णयपरत-
यैवोपयुक्तः । न सतोऽर्वाग्विकारलक्ष-
णानि तत्त्वानि निर्दिष्टानीत्यतस्तानि
नामादीनि प्राणान्तानि क्रमेण नि-
र्दिश्य तद्वारेणापि भूमाख्यं निरति-

शयं तत्त्वं निर्दिक्ष्यामि— शाखाचन्द्रदर्शनवत्, इतीमं सप्तमं
प्रपाठकमारभते ; अनिर्दिष्टेषु हि सतोऽर्वाक्तत्त्वेषु सन्मात्रे च
निर्दिष्टे अन्यदप्यविज्ञातं स्यादित्याशङ्का कस्यचित्स्यात्, सा
मा भूदिति वा तानि निर्दिदिक्षति ; अथवा सोपानारोहण-
वत् स्थूलादारभ्य सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च बुद्धिविषयं ज्ञाप-
यित्वा तदतिरिक्ते स्वाराज्येऽभिषेक्ष्यामीति नामादीनि नि-
र्दिदिक्षति ; अथवा नामाद्युत्तरोत्तरविशिष्टानि तत्त्वानि अ-
तितरां च तेषामुत्कृष्टतमं भूमाख्यं तत्त्वमिति तत्स्तुत्यर्थं ना-
मादीनां क्रमेणोपन्यासः । आख्यायिका तु परविद्यास्तुत्यर्था ।
कथम् ? नारदो देवर्षिः कृतकर्तव्यः सर्वविद्योऽपि सन् अना-

त्मज्ञत्वात् शुशोचैव, किमु वक्तव्यम् अन्योऽल्पविज्जन्तुः अ-
कृतपुण्यातिशयोऽकृतार्थ इति ; अथवा नान्यदात्मज्ञानान्नि-
रतिशयश्रेयःसाधनमस्तीत्येतत्प्रदर्शनार्थं सनत्कुमारनारदा-
ख्यायिका आरभ्यते, येन सर्वविज्ञानसाधनशक्तिसंपन्नस्यापि
नारदस्य देवर्षेः श्रेयो न बभूव, येनोत्तमाभिजनविद्यावृत्त-
साधनशक्तिसंपत्तिनिमित्ताभिमानं हित्वा प्राकृतपुरुषवत्
सनत्कुमारमुपससाद श्रेयःसाधनप्राप्तये ; अतः प्रख्यापितं
भवति निरतिशयश्रेयःप्राप्तिसाधनत्वमात्मविद्याया इति ॥

अधीहि भगव इति होपससाद सन-
त्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन
मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स
होवाच ॥ १ ॥

अधीहि अधीष्व भगवः भगवन्निति ह किल उपस-
साद । अधीहि भगव इति मन्त्रः । सनत्कुमारं योगी-
श्वरं ब्रह्मिष्ठं नारदः उपसन्नवान् । तं न्यायतः उपसन्नं
ह उवाच— यदात्मविषये किञ्चिद्वेत्थ तेन तत्प्रख्यापनेन
मामुपसीद इदमहं जाने इति, ततः अहं भवतः विज्ञानात्
ते तुभ्यम् ऊर्ध्वं वक्ष्यामि, इत्युक्तवति स ह उवाच नारदः ॥

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं साम-

वेदमार्थवर्णं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं
वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं
वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां
भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्प-
देवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

ऋग्वेदं भगवः अध्येमि स्मरामि, 'यद्वेत्थ' इति विज्ञा-
नस्य पृष्टत्वात् । तथा यजुर्वेदं सामवेदमार्थवर्णं चतुर्थं वेदं
वेदशब्दस्य प्रकृतत्वात् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदं वेदानां
भारतपञ्चमानां वेदं व्याकरणमित्यर्थः । व्याकरणेन हि
पदादिविभागशः ऋग्वेदादयो ज्ञायन्ते ; पित्र्यं श्राद्धक-
ल्पम् ; राशिं गणितम् ; दैवम् उत्पातज्ञानम् ; निधिं महा-
कालादिनिधिशास्त्रम् ; वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम् ; एकायनं
नीतिशास्त्रम् ; देवविद्यां निरुक्तम् ; ब्रह्मणः ऋग्यजुःसा-
माख्यस्य विद्यां ब्रह्मविद्यां शिक्षाकल्पच्छन्दश्चितयः ; भूत-
विद्यां भूततन्त्रम् ; क्षत्रविद्यां धनुर्वेदम् ; नक्षत्रविद्यां ज्यौति-
षम् ; सर्पदेवजनविद्यां सर्पविद्यां गारुडं देवजनविद्यां गन्ध-
युक्तिनृत्यगीतवाद्यशिल्पादिविज्ञानानि ; एतत्सर्वं हे भगवः
अध्येमि ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्म-

विच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति
 शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शो-
 चामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तार-
 यत्विति तं होवाच यद्वै किंचैतदध्य-
 गीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

सोऽहं भगवः एतत्सर्वं जानन्नपि मन्त्रविदेवास्मि शब्दा-
 र्थमात्रविज्ञानवानेवास्मीत्यर्थः । सर्वो हि शब्दः अभिधान-
 मात्रम् अभिधानं च सर्वं मन्त्रेष्वन्तर्भवति । मन्त्रविदेवास्मि
 मन्त्रवित्कर्मविदित्यर्थः । ‘मन्त्रेषु कर्माणि’ इति हि वक्ष्यति ।
 न आत्मवित् न आत्मानं वेद्मि । नन्वात्मापि मन्त्रैः प्रका-
 श्यत एवेति कथं मन्त्रविज्ञेत् नात्मवित् ? न, अभिधानाभि-
 धेयभेदस्य विकारत्वात् । न च विकार आत्मेष्यते । नन्वा-
 त्माप्यात्मशब्देन अभिधीयते । न, ‘यतो वाचो निवर्तन्ते’,
 ‘यत्र नान्यत्पश्यति’ इत्यादिश्रुतेः । कथं तर्हि ‘आत्मैवाध-
 स्तात्’ ‘स आत्मा’ इत्यादिशब्दाः आत्मानं प्रत्याययन्ति ?
 नैष दोषः । देहवति प्रत्यगात्मनि भेदविषये प्रयुज्यमानः
 शब्दः देहादीनामात्मत्वे प्रत्याख्यायमाने यत्परिशिष्टं सत्,
 अवाच्यमपि प्रत्याययति— यथा सराजिकायां दृश्यमा-
 नायां सेनायां छत्रध्वजपताकादिव्यवहिते अदृश्यमानेऽपि

राजनि एष राजा दृश्यत इति भवति शब्दप्रयोगः ; तत्र को-
 ऽसौ राजेति राजविशेषनिरूपणायां दृश्यमानेतरप्रत्याख्याने
 अन्यस्मिन्नदृश्यमानेऽपि राजनि राजप्रतीतिर्भवेत्— तद्वत् ।
 तस्मात्सोऽहं मन्त्रवित् कर्मविदेवास्मि, कर्मकार्यं च सर्वं वि-
 कार इति विकारज्ञ एवास्मि, न आत्मवित् न आत्मप्रकृ-
 तिस्वरूपज्ञ इत्यर्थः । अत एवोक्तम् ‘आचार्यवान्पुरुषो वेद’
 इति; ‘यतो वाचो निवर्तन्ते’ इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । श्रुतमाग
 मज्ञानमस्त्येव हि यस्मात् मे मम भगवद्दृशेभ्यो युष्मत्स
 दृशेभ्यः तरन्ति अतिक्रामति शोकं मनस्तापम् अकृतार्थबुद्धि-
 ताम् आत्मवित् इति ; अतः सोऽहमनात्मवित्त्वात् हे भगवः
 शोचामि अकृतार्थबुद्ध्या संतप्ये सर्वदा ; तं मा मां शोकस्य
 शोकसागरस्य पारम् अन्तं भगवान् तारयतु आत्मज्ञानो-
 ऽप्येन कृतार्थबुद्धिमापादयतु अभयं गमयत्वित्यर्थः । तम्
 एवमुक्तवन्तं ह उवाच— यद्वै किञ्च एतदध्यगीष्ठाः अधीत-
 वानसि, अध्ययनेन तदर्थज्ञानमुपलक्ष्यते, ज्ञातवानसीत्येतत्,
 नामैवैतत्, ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्’ इति श्रुतेः ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद
 आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो
 वेदानां वेदः पित्र्यो राशिदैवो निधिर्वा-

कोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या
भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्प-
देवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्वेति ॥ ४ ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि नामैवैतत् । नामो-
पास्व ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्या—यथा प्रतिमां विष्णुबुद्ध्या
उपास्ते, तद्वत् ॥

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो
गतं तत्तास्य यथाकामचारो भवति यो
नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो
भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे
भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

स यस्तु नाम ब्रह्मेत्युपास्ते, तस्य यत्फलं भवति, तच्छृणु
— यावन्नाम्नो गतं नाम्नो गोचरं तत्र तस्मिन् नामविषये
अस्य यथाकामचारः कामचरणं राज्ञ इव स्वविषये भवति ।
यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते इत्युपसंहारः । किमस्ति भगवः नाम्नो
भूयः अधिकतरं यद्ब्रह्मदृष्ट्यर्हमन्यदित्यभिप्रायः । सनत्कुमार
आह—नाम्नो वाव भूयः अस्त्येवेति । उक्तः आह—यद्य-
स्ति तन्मे भगवान्ब्रवीतु इति ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम् ॥

द्वितीयः खण्डः ॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं
विज्ञापयति यजुर्वेदः सामवेदमथर्वणं
चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं
पित्र्यः राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमे-
कायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां
क्षत्रविद्याः सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृ-
थिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च
देवाःश्च मनुष्याःश्च पशूःश्च वयाःसि
च तृणवनस्पतीञ्श्चापदान्याकीटपतङ्गपि-
पीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च
साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च
यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्य-
ज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु ना-
साधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैत-
त्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्वेति ॥ १ ॥

वाग्वाव । वागिति इन्द्रियं जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु
स्थितं वर्णानामभिव्यञ्जकम् । वर्णाश्च नामेति नाम्नो वाग्भू-

यसीत्युच्यते । कार्याद्धि कारणं भूयो दृष्टं लोके— यथा पु-
त्रात्पिता, तद्वत् । कथं च वाङ्नाम्नो भूयसीति, आह—वाग्वा
ऋग्वेदं विज्ञापयति— अयम् ऋग्वेद इति । तथा यजुर्वेदमि-
त्यादि समानम् । हृदयज्ञं हृदयप्रियम् ; तद्विपरीतमहृदयज्ञम् ।
यत् यदि वाङ् नाभविष्यत् धर्मादि न व्यज्ञापयिष्यत्, वा-
गभावे अध्ययनाभावः अध्ययनाभावे तदर्थश्रवणाभावः त-
च्छ्रवणाभावे धर्मादि न व्यज्ञापयिष्यत् न विज्ञातमभविष्य-
दित्यर्थः । तस्मात् वागेवैतत् शब्दोच्चारणेन सर्वं विज्ञापयति ।
अतः भूयसी वाङ्नाम्नः । तस्माद्वाचं ब्रह्मेत्युपास्व ॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो
गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो
वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो
भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे
भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

समानमन्यत् ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः ॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वा-
मलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनु-
भवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति
स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयी-
येत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते
पुत्राः५श्च पशूः५श्चेच्छेयेत्यथेच्छते इमं च
लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा
मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपा-
स्वेति ॥ १ ॥

मनः मनस्यनविशिष्टमन्तःकरणं वाचः भूयः । तद्धि मन-
स्यनव्यापारवत् वाचं वक्तव्ये प्रेरयति । तेन वाक् मनस्यन्त-
र्भवति । यच्च यस्मिन्नन्तर्भवति तत्तस्य व्यापकत्वात् ततो
भूयो भवति । यथा वै लोके द्वे वा आमलके फले द्वे वा कोले
बदरफले द्वौ वा अक्षौ विभीतकफले मुष्टिरनुभवति मुष्टिस्ते
फले व्याप्नोति मुष्टौ हि ते अन्तर्भवतः, एवं वाचं च नाम च
आमलकादिवत् मनोऽनुभवति । स यदा पुरुषः यस्मिन्काले
मनसा अन्तःकरणेन मनस्यति, मनस्यनं विवक्षाबुद्धिः, कथं

मन्त्रान् अधीयीय उच्चारयेयम्—इत्येवं विवक्षां कृत्वा अथाधीते । तथा कर्माणि कुर्वीयेति चिकीर्षाबुद्धिं कृत्वा अथ कुरुते । पुत्रांश्च पशूंश्च इच्छेयेति प्राप्तीच्छां कृत्वा तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानेन अथेच्छते, पुत्रादीन्प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा इमं च लोकम् अमुं च उपायेन इच्छेयेति तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानेन अथेच्छते प्राप्नोति । मनो हि आत्मा, आत्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सति मनसि नान्यथेति मनो हि आत्मेत्युच्यते । मनो हि लोकः, सत्येव हि मनसि लोको भवति तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानं च इति मनो हि लोकः यस्मात्, तस्मान्मनो हि ब्रह्म । यत एवं तस्मान्मन उपास्वेति ॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो
गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो
मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो
भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति त-
न्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

स यो मन इत्यादि समानम् ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै
संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति
तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भव-
न्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान् । संकल्पोऽपि मनस्यन-
वत् अन्तःकरणवृत्तिः, कर्तव्याकर्तव्यविषयविभागेन सम-
र्थनम् । विभागेन हि समर्थिते विषये चिकीर्षाबुद्धिः
मनस्यनानन्तरं भवति । कथम्? यदा वै संकल्पयते कर्त-
व्यादिविषयान्विभजते—इदं कर्तुं युक्तम् इदं कर्तुमयुक्तमिति,
अथ मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यादि । अथ अनन्तरं वाचम्
ईरयति मन्त्राद्युच्चारणे । तां च वाचम् उ नाम्नि नामो-
च्चारणनिमित्तं विवक्षां कृत्वा ईरयति । नाम्नि नामसामान्ये
मन्त्राः शब्दविशेषाः सन्तः एकं भवन्ति अन्तर्भवन्ती-
त्यर्थः । सामान्ये हि विशेषः अन्तर्भवति । मन्त्रेषु कर्मा-
ण्येकं भवन्ति । मन्त्रप्रकाशितानि कर्माणि क्रियन्ते, न
अमन्त्रकमस्ति कर्म । यद्धि मन्त्रप्रकाशनेन लब्धसत्ताकं
सत् कर्म, ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यम् अस्मै फलायेति विधीयते,
याप्युत्पत्तिर्ब्राह्मणेषु कर्मणां दृश्यते, सापि मन्त्रेषु लब्ध-
सत्ताकानामेव कर्मणां स्पष्टीकरणम् । न हि मन्त्राप्रका-

शितं कर्म किंचित् ब्राह्मणे उत्पन्नं दृश्यते । त्रयीविहितं
 कर्मेति प्रसिद्धं लोके ; त्रयीशब्दश्च ऋग्यजुःसामसमाख्या ।
 मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्— इति च आथर्वणे ।
 तस्माद्युक्तं मन्त्रेषु कर्माण्येकं भवन्तीति ॥

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि
 संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि
 समकल्पतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां
 वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च
 तेषां संकल्प्यै वर्षं संकल्पते वर्षस्य
 संकल्प्या अन्नं संकल्पतेऽन्नस्य संकल्-
 प्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानां संकल्-
 प्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणां संकल्-
 प्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणां संकल्-
 प्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संकल्प्यै
 सर्वं संकल्पते स एष संकल्पः संकल्प-
 मुपास्वेति ॥ २ ॥

तानि ह वा एतानि मनआदीनि, संकल्पैकायनानि संकल्पः
 एको अयनं गमनं प्रलयः येषां तानि संकल्पैकायनानि, संक

ल्पात्मकानि उत्पत्तौ, संकल्पे प्रतिष्ठितानि स्थितौ । समकल्पतां संकल्पं कृतवत्याविव हि द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिवी, द्यावा-पृथिव्यौ निश्चले लक्ष्येते । तथा समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च एतावपि संकल्पं कृतवन्ताविव । तथा समकल्पन्त आपश्च तेजश्च, स्वेन रूपेण निश्चलानि लक्ष्यन्ते । यतस्तेषां द्यावा-पृथिव्यादीनां संकल्पत्यै संकल्पनिमित्तं वर्षं संकल्पते समर्थी-भवति । तथा वर्षस्य संकल्पत्यै संकल्पनिमित्तम् अन्नं संकल्पते । वृष्टेर्हि अन्नं भवति । अन्नस्य संकल्पत्यै प्राणाः संकल्पन्ते । अन्नमया हि प्राणाः अन्नोपष्टम्भकाः । ‘अन्नं दाम’ इति हि श्रुतिः । तेषां संकल्पत्यै मन्त्राः संकल्पन्ते । प्राणवा-न्हि मन्त्रानधीते नाबलः । मन्त्राणां हि संकल्पत्यै कर्माण्यग्निहोत्रादीनि संकल्पन्ते अनुष्ठीयमानानि मन्त्रप्रकाशितानि समर्थीभवन्ति फलाय । ततो लोकः फलं संकल्पते कर्मकर्तृ-समवायितया समर्थीभवतीत्यर्थः । लोकश्च संकल्पत्यै सर्वं जगत् संकल्पते स्वरूपावैकल्याय । एतद्धीदं सर्वं जगत् यत्फला-वसानं तत्सर्वं संकल्पमूलम् । अतः विशिष्टः स एष संकल्पः । अतः संकल्पमुपास्व—इत्युक्त्वा फलमाह तदुपासकस्य ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते संकल्-
सान्वै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठिता-

न प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्या उपास्ते, संकल्पान्वै धात्रा अस्येमे लोकाः फलमिति कल्पान् समर्थितान् संकल्पितान् स विद्वान् ध्रुवान् नित्यान् अत्यन्ताध्रुवापेक्षया, ध्रुवश्च स्वयम्, लोकिनो हि अध्रुवत्वे लोके ध्रुवकल्पिर्व्यर्थेति ध्रुवः सन् प्रतिष्ठितानुपकरणसंपन्नानित्यर्थः, पशुपुत्रादिभिः प्रतितिष्ठतीति दर्शनात्, स्वयं च प्रतिष्ठितः आत्मीयोपकरणसंपन्नः अव्यथमानान् अमित्रादित्वासरहितान् अव्यथमानश्च स्वयम् अभिसिध्यति अभिप्राप्नोतीत्यर्थः । यावत्संकल्पस्य गतं संकल्पगोचरः तत्रास्य यथाकामचारो भवति, आत्मनः संकल्पस्य, न तु सर्वेषां संकल्पस्येति, उत्तरफलविरोधात् । यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते इत्यादि पूर्ववत् ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चमः खण्डः ॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेत-
यतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाच-
मीरयति तामु नाम्नीरयति नान्नि मन्त्रा
एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयः । चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकाला-
नुरूपबोधवत्त्वम् अतीतानागतविषयप्रयोजननिरूपणसामर्थ्यं
च, तत्संकल्पादपि भूयः । कथम् ? यदा वै प्राप्तं वस्तु इद-
मेवं प्राप्तमिति चेतयते, तदा तदादानाय वा अपोहाय वा
अथ संकल्पयते अथ मनस्यतीत्यादि पूर्ववत् ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि
चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्मा-
द्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्ती-
त्येवैनमाहुर्नदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्ने-
त्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवा-
न्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तं
ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रति-
ष्ठा चित्तमुपास्वेति ॥ २ ॥

तानि संकल्पादीनि कर्मफलान्तानि चित्तैकायनानि चि-
त्तात्मानि चित्तोत्पत्तीनि चित्ते प्रतिष्ठितानि चित्तस्थितानी-

त्यपि पूर्ववत् । किंच चित्तस्य माहात्म्यम् । यस्माच्चित्तं सं-
कल्पादिमूलम् , तस्मात् यद्यपि बहुवित् बहुशास्त्रादिपरिज्ञा-
नवान्सन् अचित्तो भवति प्राप्तादिचेतयितृत्वसामर्थ्यविरहितो
भवति, तं निपुणाः लौकिकाः नायमस्ति विद्यमानोऽप्यसत्सम
एवेति एनमाहुः । यच्चायं किंचित् शास्त्रादि वेद श्रुतवान्
तदप्यस्य वृथैवेति कथयन्ति । कस्मात् ? यद्ययं विद्वान्स्यात्
इत्थमेवमचित्तो न स्यात् , तस्मादस्य श्रुतमप्यश्रुतमेवेत्याहु-
रित्यर्थः । अथ अल्पविदपि यदि चित्तवान्भवति तस्मा एतस्मै
तदुक्तार्थग्रहणायैव उत अपि शुश्रूषन्ते श्रोतुमिच्छन्ति तस्मा-
च्च । चित्तं ह्येवैषां संकल्पादीनाम् एकायनमित्यादि पूर्ववत् ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चितान्वै स
लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽ-
व्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति याव-
च्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भ-
वति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव-
श्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति
तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

चितान् उपचितान्बुद्धिमदुणैः स चित्तोपासकः ध्रुवा-
नित्यादि च उक्तार्थम् ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृ-
थिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौ-
र्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता देवम-
नुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां
प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते
भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना
उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादां-
शा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्वेति ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्या-
नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति
यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्या-
नाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति
तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः । ध्यानं नाम शास्त्रोक्तदेवता-
द्यालम्बनेष्वचलः भिन्नजातीयैरनन्तरितः प्रत्ययसंतानः,
एकाग्रतेति यमाहुः । दृश्यते च ध्यानस्य माहात्म्यं फलतः ।

कथम्? यथा योगी ध्यायन्निश्चलो भवति ध्यानफललाभे,
 एवं ध्यायतीव निश्चला दृश्यते पृथिवी । ध्यायतीवान्तरि-
 क्षमित्यादि समानमन्यत् । देवाश्च मनुष्याश्च देवमनुष्याः
 मनुष्या एव वा देवसमाः देवमनुष्याः शमादिगुणसंपन्नाः
 मनुष्याः देवस्वरूपं न जहतीत्यर्थः । यस्मादेवं विशिष्टं ध्या-
 नम्, तस्मात् य इह लोके मनुष्याणामेव धनैर्विद्यया गुणैर्वा
 महत्तां महत्त्वं प्राप्नुवन्ति धनादिमहत्त्वहेतुं लभन्त इत्यर्थः ।
 ध्यानापादांशा इव ध्यानस्य आपादनम् आपादः ध्यानफल-
 लाभ इत्येतत्, तस्यांशः अवयवः कला काचिद्ध्यानफललाभ-
 कलावन्त इवैवेत्यर्थः । ते भवन्ति निश्चला इव लक्ष्यन्ते न
 क्षुद्रा इव । अथ ये पुनरल्पाः क्षुद्राः किञ्चिदपि धनादिमह-
 त्वैकदेशमप्राप्ताः ते पूर्वोक्तविपरीताः कलहिनः कलहशीलाः
 पिशुनाः परदोषोद्भासकाः उपवादिनः परदोषं सामीप्ययुक्त-
 मेव वदितुं शीलं येषां ते उपवादिनश्च भवन्ति । अथ ये
 महत्त्वं प्राप्ताः धनादिनिमित्तं ते अन्यान्प्रति प्रभवन्तीति
 प्रभवः विद्याचार्यराजेश्वरादयो ध्यानापादांशा इवेत्याद्युक्ता-
 र्थम् । अतः दृश्यते ध्यानस्य महत्त्वं फलतः ; अतः भूय-
 श्चित्तात् ; अतस्तदुपास्त्व इत्याद्युक्तार्थम् ॥

इति षष्ठ्यखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा
ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेद-
माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वे-
दानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वा-
कोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां
भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्प-
देवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं
चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनु-
ष्यांश्च पशून्श्च वयांसि च तृणवन-
स्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं
चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासा-
धु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं
चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजाना-
ति विज्ञानमुपास्वेति ॥ १ ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयं ज्ञानं
तस्य ध्यानकारणत्वात् ध्यानाद्भूयस्त्वम् । कथं च तस्य
भूयस्त्वमिति, आह— विज्ञानेन वै ऋग्वेदं विजानाति
अयमृग्वेद इति प्रमाणतया यस्यार्थज्ञानं ध्यानकारणम् ।

तथा यजुर्वेदमित्यादि । किंच पश्चादींश्च धर्माधर्मौ शास्त्र-
सिद्धौ साध्वसाधुनी लोकतः स्मार्ते वा दृष्टविषयं च सर्वं
विज्ञानेनैव विजानातीत्यर्थः । तस्माद्युक्तं ध्यानाद्विज्ञानस्य
भूयस्त्वम् । अतो विज्ञानमुपास्वेति ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञान-
वतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति
यावद्विज्ञानस्य गतं तत्तास्य यथाकाम-
चारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपा-
स्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञा-
नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवी-
त्विति ॥ २ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

शृणु उपासनफलं विज्ञानवतः । विज्ञानं येषु लोकेषु
तान्विज्ञानवतो लोकान् ज्ञानवतश्च अभिसिध्यति अभिप्राप्नो-
ति । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयं ज्ञानम्, अन्यविषयं नैपुण्यम्,
तद्वद्भिर्युक्तल्लोकान्प्राप्नोतीत्यर्थः । यावद्विज्ञानस्येत्यादि पू-
र्ववत् ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं
विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स
यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठ-
न्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भ-
वत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति
मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता
भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथि-
वी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बले-
न पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशव-
श्च वयाश्वसि च तृणवनस्पतयः श्वापदा-
न्याकीटपतङ्गपिपीलिकं बलेन लोकस्ति-
ष्ठति बलमुपास्वेति ॥ १ ॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वलस्य
गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो
बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय
इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भग-
वान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयः । बलमित्यन्नोपयोगजनितं मन-
सो विज्ञेये प्रतिभानसामर्थ्यम् । अनशनादृगादीनि ‘न वै
मा प्रतिभान्ति भो’ इति श्रुतेः । शरीरेऽपि तदेवोत्थाना-
दिसामर्थ्यं यस्माद्विज्ञानवतां शतमप्येकः प्राणी बलवाना-
कम्पयते यथा हस्ती मत्तो मनुष्याणां शतं समुदितमपि ।
यस्मादेवमन्नाद्युपयोगनिमित्तं बलम्, तस्मात्स पुरुषः यदा
बली बलेन तद्वान्भवति अथोत्थाता उत्थानस्य कर्ता उ-
त्तिष्ठंश्च गुरूणामाचार्यस्य च परिचरिता परिचरणस्य शुश्रू-
षायाः कर्ता भवति परिचरन् उपसत्ता तेषां समीपगोऽ-
न्तरङ्गः प्रियो भवतीत्यर्थः । उपसीदंश्च सामीप्यं गच्छन्
एकाग्रतया आचार्यस्यान्यस्य च उपदेष्टुः गुरोर्द्रष्टा भवति ।
ततस्तदुक्तस्य श्रोता भवति । तत इदमेभिरुक्तम् एवमुपप-
द्यत इत्युपपत्तितो मन्ता भवति ; मन्वानश्च बोद्धा भवति
एवमेवेदमिति । तत एवं निश्चित्य तदुक्तार्थस्य कर्ता अनु-
ष्ठाता भवति विज्ञाता अनुष्ठानफलस्यानुभविता भवती-
त्यर्थः । किंच बलस्य माहात्म्यम्— बलेन वै पृथिवी तिष्ठ-
तीत्यादि ऋज्वर्थम् ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दश
रात्रीर्नाश्रीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाद्रष्टाश्रो-
तामन्ताबोद्धाकर्ताविज्ञाता भवत्यथान्न-
स्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता
भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति वि-
ज्ञाता भवत्यन्नमुपास्वेति ॥ १ ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयः, बलहेतुत्वात् । कथमन्नस्य बलहे-
तुत्वमिति, उच्यते— यस्माद्वलकारणमन्नम्, तस्मात् यद्य-
पि कश्चिद्दश रात्रीर्नाश्रीयात्, सोऽन्नोपयोगनिमित्तस्य बल-
स्य हान्या म्रियते; यद्यु ह जीवेत्— दृश्यन्ते हि
मासमप्यनश्रन्तो जीवन्तः— अथवा स जीवन्नपि अद्रष्टा
भवति गुरोरपि, तत एव अश्रोतेत्यादि पूर्वविपरीतं सर्वं भव-
ति । अथ यदा बहून्यहान्यनशितः दर्शनादिक्रियास्वसमर्थः
सन् अन्नस्यायी, आगमनम् आयः अन्नस्य प्राप्तिरित्यर्थः,
सः यस्य विद्यते सोऽन्नस्यायी । आयै इत्येतद्वर्णव्यत्ययेन ।

अथ अन्नस्याया इत्यपि पाठे एवमेवार्थः, द्रष्टेत्यादिकार्य-
श्रवणात् । दृश्यते हि अन्नोपयोगे दर्शनादिसामर्थ्यम्, न
तदप्राप्तौ ; अतोऽन्नमुपास्वेति ॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स
लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति यान्दन्नस्य
गतं तत्रास्य यथाकामचारो वति
योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय
इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवा-
न्ब्रवीत्विति ॥

इति नवमः खण्डः ॥

फलं च अन्नवतः प्रभूतान्नान्वै स लोकान् पानवतः
प्रभूतोदकांश्च अन्नपानयोर्नित्यसंबन्धात् लोकानभिसिध्यति ।
समानमन्यत् ॥

इति नवमखण्डभाष्यम् ॥

दशमः खण्डः ॥

आपो वावान्नाद्भूयस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद्दयौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्वेति ॥ १ ॥

आपो वाव अन्नाद्भूयस्य अन्नकारणत्वात् । यस्मादेवं तस्मात् यदा यस्मिन्काले सुवृष्टिः सख्यहिता शोभना वृष्टिः न भवति, तदा व्याधीयन्ते प्राणा दुःखिनो भवन्ति । किंनिमित्तमिति, आह— अन्नमस्मिन्संवत्सरे नः कनीयः अल्पतरं भविष्यतीति । अथ पुनर्यदा सुवृष्टिर्भवति, तदा आनन्दिनः सुखिनः हृष्टाः प्राणाः प्राणिनः भवन्ति अन्नं

बहु प्रभूतं भविष्यतीति । अप्संभवत्वान्मूर्तस्य अन्नस्य
 आप एवेमा मूर्ताः मूर्तभेदाकारपरिणता इति मूर्ताः—येयं
 पृथिवी यदन्तरिक्षमित्यादि । आप एवेमा मूर्ताः ; अतः
 अप उपास्वेति ॥

सं योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति स-
 र्वान्कामांस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं
 तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो
 ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्य-
 द्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्र-
 वीत्विति ॥ २ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

फलम्—स यः अपो ब्रह्मेत्युपास्ते आप्नोति सर्वान्का-
 मान् काम्यान्मूर्तिमतो विषयानित्यर्थः । अप्संभवत्वाच्च
 तृप्तेरम्बूपासनात्तृप्तिमांश्च भवति । समानमन्यत् ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥

एकादशः खण्डः ॥

तेजो वावाद्भूयो भूयस्तद्वा एतद्वायु-
मागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोच-
ति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज
एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तदे-
तद्धर्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्गिराहा-
दाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति
वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्श-
यित्वाथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

तेजो वाव अद्भ्यो भूयः, तेजसोऽप्कारणत्वात् । कथमप्का-
रणत्वमिति, आह—यस्मादद्भ्योनिस्तेजः, तस्मात् तद्वा एत-
त्तेजो वायुमागृह्य अवष्टभ्य स्वात्मना निश्चलीकृत्य वायुम्
आकाशमभितपति आकाशमभिव्याप्नुवत्तपति यदा, तदा
आहुर्लौकिकाः—निशोचति संतपति सामान्येन जगत्, नित-
पति देहान्, अतो वर्षिष्यति वै इति । प्रसिद्धं हि लोके का-
रणमभ्युद्यतं दृष्टवतः कार्यं भविष्यतीति विज्ञानम् । तेज एव
तत्पूर्वमात्मानमुद्भूतं दर्शयित्वा अथ अनन्तरम् अपः सृजते,
अतः अप्स्रष्ट्वाद्भूयोऽद्भ्यस्तेजः । किंचान्यत्, तदेतत्तेज एव

स्तनयितृरूपेण वर्षहेतुर्भवति । कथम् ? ऊर्ध्वाभिश्च ऊर्ध्व-
गाभिः विद्युद्भिः तिरश्चीभिश्च तिर्यग्गताभिश्च सह आह्लादाः
स्तनयनशब्दाश्चरन्ति । तस्मात्तद्दर्शनादाहुर्लौकिकाः—विद्योतते
स्तनयति, वर्षिष्यति वै इत्याद्युक्तार्थम् । अतस्तेज उपा-
स्वेति ॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै
स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततम-
स्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं त-
त्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्र-
ह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति
तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवा-
न्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति एकादशः खण्डः ॥

तस्य तेजस उपासनफलम्—तेजस्वी वै भवति । ज्ञेज-
स्वत एव च लोकान्भास्वतः प्रकाशवतः अपहततमस्कान्
बाह्याध्यात्मिकाज्ञानाद्यपनीततमस्कान् अभिसिध्यति । ऋज्व-
र्थमन्यत् ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वादशः खण्डः ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयान्नाकाशे
वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्नि-
राकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन
प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न र-
मत आकाशे जायत आकाशमभिजा-
यत आकाशमुपास्वेति ॥ १ ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयान् , वायुसहितस्य तेजसः का-
रणत्वाद्बोन्नः । ‘ वायुमागृह्य ’ इति तेजसा सहोक्तः वायुरिति
पृथगिह नोक्तस्तेजसः । कारणं हि लोके कार्याद्भूयो दृष्टम्—
यथा घटादिभ्यो मृत्, तथा आकाशो वायुसहितस्य तेजसः
कारणमिति ततो भूयान् । कथम् ? आकाशे वै सूर्याचन्द्र-
मसावुभौ तेजोरूपौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निश्च तेजोरूपाण्याकाशे-
ऽन्तः । यच्च यस्यान्तर्वर्ति तदल्पम्, भूय इतरत् । किंच
आकाशेन आह्वयति च अन्यमन्यः ; आहूतश्चेतरः आकाशेन
शृणोति ; अन्योक्तं च शब्दम् अन्यः प्रतिशृणोति ; आकाशे
रमते क्रीडत्यन्योन्यं सर्वः ; तस्मात् न रमते च आकाशे ब-
न्धादिवियोगे ; आकाशे जायते, न मूर्तेनावष्टब्धे । तथा

आकाशमभि लक्ष्य अङ्कुरादि जायते, न प्रतिलोमम् । अतः
आकाशमुपास्व ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाश-
वतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसंबाधानु-
रूपायवतोऽभिसिध्यति यावदाकाशस्य
गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य
आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आ-
काशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति
तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

फलं शृणु—आकाशवतो वै विस्तारयुक्तान्स विद्वाँल्लोका-
न्प्रकाशवतः, प्रकाशाकाशयोर्नित्यसंबन्धात्प्रकाशवतश्च लो-
कानसंबाधान् संबाधनं संबाधः संबाधोऽन्योन्यपीडा तद्र-
हितानसंबाधान् उरूपायवतः विस्तीर्णगतीन्विस्तीर्णप्रचारौ-
ल्लोकान् अभिसिध्यति । यावदाकाशस्येत्याद्युक्तार्थम् ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

स्मरो वावाकाशाङ्गूयस्तस्माद्यद्यपि ब-
हव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कंचन
शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्यदा वाव
ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ वि-
जानीरन्स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्म-
रेण पशून्स्मरमुपास्वेति ॥ १ ॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य
गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः
स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराङ्गूय
इति स्मराद्वाव श्रूयोऽस्तीति तन्मे भग-
वान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

स्मरो वाव आकाशाङ्गूयः, स्मरणं स्मरोऽन्तःकरण-

धर्मः, स आकाशाद्भूयानिति द्रष्टव्यं लिङ्गव्यत्ययेन ।
 स्मर्तुः स्मरणे हि सति आकाशादि सर्वमर्थवत्, स्मरण-
 वतो भोग्यत्वात् । असति तु स्मरणे सदप्यसदेव, सत्त्व-
 कार्याभावात् । नापि सत्त्वं स्मृत्यभावे शक्यमाकाशादीना-
 मवगन्तुमित्यतः स्मरणस्य आकाशाद्भूयस्त्वम् । दृश्यते हि
 लोके स्मरणस्य भूयस्त्वं यस्मात्, तस्माद्यद्यपि समुदिता
 बहव एकस्मिन्नासीरन् उपविशेयुः, ते तत्र आसीनाः अ-
 न्योन्यमाषितमपि न स्मरन्तश्चेत्स्युः, नैव ते कंचन शब्दं
 शृणुयुः ; तथा न मन्वीरन्, मन्तव्यं चेत्स्मरेयुः तदा मन्वी-
 रन्, स्मृत्यभावान्न मन्वीरन् ; तथा न विजानीरन् । यदा
 वाव ते स्मरेयुर्मन्तव्यं विज्ञातव्यं श्रोतव्यं च, अथ शृणुयुः
 अथ मन्वीरन् अथ विजानीरन् । तथा स्मरेण वै— मम
 पुत्रा एते— इति पुत्रान्विजानाति, स्मरेण पशून् । अतो
 भूयस्त्वात्स्मरमुपास्वेति । उक्तार्थमन्यत् ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्म-
रो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च
पशून्श्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत
आशामुपास्वेति ॥ १ ॥

आशा वाव स्मराद्भूयसी, आशा अप्राप्तवस्त्वाकाङ्क्षा,
आशा तृष्णा काम इति यामाहुः पर्यायैः; सा च स्मरा-
द्भूयसी । कथम् ? आशया हि अन्तःकरणस्थया स्मरति
स्मर्तव्यम् । आशाविषयरूपं स्मरन् असौ स्मरो भवति ।
अतः आशेद्धः आशया अभिवर्धितः स्मरभूतः स्मरन्
ऋगादीन्मन्त्रानधीते; अधीत्य च तदर्थं ब्राह्मणेभ्यो विधींश्च
श्रुत्वा कर्माणि कुरुते तत्फलाशयैव; पुत्रांश्च पशून्श्च कर्म-
फलभूतान् इच्छते अभिवाञ्छति; आशयैव तत्साधनान्यनु-
तिष्ठति । इमं च लोकम् आशेद्ध एव स्मरन् लोकसंग्रह-
हेतुभिरिच्छते । अमुं च लोकम् आशेद्धः स्मरन् तत्साधना-
नुष्ठानेन इच्छते । अतः आशारशनावबद्धं स्मराकाशादिना-

मपर्यन्तं जगच्चक्रीभूतं प्रतिप्राणि । अतः आशायाः स्मरा-
दपि भूयस्त्वमित्यत आशामुपास्व ॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाख्य
सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो
भवन्ति यावदाशाया गतं तत्ताख्य यथा-
कामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते-
ऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया
वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवी-
त्विति ॥ २ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

यस्त्वाशां ब्रह्मेत्युपास्ते शृणु तस्य फलम्— आशया
सदोपासितया अस्योपासकस्य सर्वे कामाः समृध्यन्ति समृ-
द्धिं गच्छन्ति । अमोघा ह अस्य आशिषः प्रार्थनाः सर्वाः
भवन्ति ; यत्प्रार्थितं सर्वं तदवश्यं भवतीत्यर्थः । यावदाशाया
गतमित्यादि पूर्ववत् ॥

इति चतुर्दशखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चदशः खण्डः ॥

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा
अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे
सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः
प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह
पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः
स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥

नामोपक्रममाशान्तं कार्यकारणत्वेन निमित्तनैमित्तिकत्वे-
न च उत्तरोत्तरभूयस्तया अवस्थितं स्मृतिनिमित्तसद्भावमा-
शारशनापशैर्विपाशितं सर्वं सर्वतो बिसमिव तन्तुभिर्य-
स्मिन्प्राणे समर्पितम्, येन च सर्वतो व्यापिना अन्तर्बहि-
र्गतेन सूत्रे मणिगणा इव सूत्रेण प्रथितं विधृतं च, स एष
प्राणो वा आशाया भूयान् । कथमस्य भूयस्त्वमिति, आह
दृष्टान्तेन समर्थयन् तद्भूयस्त्वम्—यथा वै लोके रथचक्रस्य
अराः रथनाभौ समर्पिताः संप्रोताः संप्रवेशिता इत्येतत्,
एवमस्मिँल्लिङ्गसंघातरूपे प्राणे प्रज्ञात्मनि दैहिके मुख्ये—यस्मि-
न्परा देवता नामरूपव्याकरणाय आदर्शादौ प्रतिबिम्बव-

जीवेन आत्मना अनुप्रविष्टा; यश्च महाराजस्येव सर्वाधिकारीश्वरस्य, 'कस्मिन्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत' इति श्रुतेः; यस्तु च्छायेवानुगत ईश्वरम्, 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' इति कौषीतकिनाम्— अत एवमस्मिन्प्राणे सर्वं यथोक्तं समर्पितम् । अतः स एष प्राणोऽपरतन्त्रः प्राणेन स्वशक्त्यैव याति, नान्यकृतं गमनादिक्रियास्वस्य सामर्थ्यमित्यर्थः । सर्वं क्रियाकारकफलभेदजातं प्राण एव, न प्राणाद्वहिर्भूतमस्तीति प्रकरणार्थः । प्राणः प्राणं ददाति । यद्ददाति तत्स्वात्मभूतमेव । यस्मै ददाति तदपि प्राणायैव । अतः पित्राद्याख्योऽपि प्राण एव ॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं
वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किं-
चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वास्त्वित्येवैन-
माहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्व-
मसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्व-

मस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै
त्वमसीति ॥ २ ॥

कथं पित्रादिशब्दानां प्रसिद्धार्थोत्सर्गेण प्राणविषयत्व-
मिति, उच्यते— सति प्राणे पित्रादिषु पित्रादिशब्दप्रयो-
गात् तदुत्क्रान्तौ च प्रयोगाभावात् । कथं तदिति, आह—
स यः कश्चित्पित्रादीनामन्यतमं यदि तं भृशमिव तदननु-
रूपमिव किञ्चिद्वचनं त्वंकारादियुक्तं प्रत्याह, तदैवं पार्श्वस्था
आहुः विवेकिनः— धिक्त्वा अस्तु धिगस्तु त्वामित्येवम् ।
पितृहां वै त्वं पितुर्हन्तेत्यादि ॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन
समासं व्यतिषंदहेनैवैनं ब्रूयुः पितृहा-
सीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति
न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्रा-
ह्मणहासीति ॥ ३ ॥

अथ एनानेव उत्क्रान्तप्राणान् त्यक्तदेहनाथान् यद्यपि शूले-
न समासं समस्य व्यतिषंदहेत् व्यत्यस्य संदहेत्, एवमप्य-
तिक्रूरं कर्म समासव्यत्यासादिप्रकारेण दहनलक्षणं तदेहसं-
बद्धमेव कुर्वाणं नैवैनं ब्रूयुः पितृहेत्यादि । तस्मादन्वयव्य-

तिरेकाभ्यामवगम्यते एतत्पित्राद्याख्योऽपि प्राण एवेति ॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स
वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजा-
नन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसी-
त्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥ ४ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

तस्मात् प्राणो ह्येवैतानि पित्रादीनि सर्वाणि भवति च-
लानि स्थिराणि च । स वा एष प्राणविदेवं यथोक्तप्रकारेण
पश्यन् फलतो अनुभवन् एवं मन्वानः उपपत्तिभिश्चिन्तयन्
एवं विजानन् उपपत्तिभिः संयोज्य एवमेवेति निश्चयं कुर्व-
न्नित्यर्थः । मननविज्ञानाभ्यां हि संभूतः शास्त्रार्थो निश्चितो
दृष्टो भवेत् । अत एव पश्यन् अतिवादी भवति नामाद्या-
शान्तमतीत्य वदनशीलो भवतीत्यर्थः । तं चेद्ब्रूयुः तं ब्रह्मा-
दिस्तम्बपर्यन्तस्य हि जगतः प्राण आत्मा अहमिति ब्रुवाणं
यदि ब्रूयुः अतिवाद्यसीति, बाढम् अतिवाद्यस्मीति ब्रूयात्,
न अपह्नुवीत । कस्माद्धि असावपह्नुवीत ? यत्प्राणं सर्वेश्वरम्
अयमहमस्मि इत्यात्मत्वेनोपगतः ॥

इति पञ्चदशखण्डभाष्यम् ॥

षोडशः खण्डः ॥

स एष नारदः सर्वातिशयं प्राणं स्वमात्मानं सर्वात्मानं
श्रुत्वा नातः परमस्तीत्युपरराम, न पूर्ववत्किमस्ति भगवः
प्राणाद्भूय इति पप्रच्छ यतः । तमेवं विकारानृतब्रह्मविज्ञा-
नेन परितुष्टमकृतार्थं परमार्थसत्यातिवादिनमात्मानं मन्यमानं
योग्यं शिष्यं मिथ्याग्रहविशेषात् विप्रच्यावयन् आह भगवा-
न्सनत्कुमारः—

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनाति-
वदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति
सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं
भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

एष तु वा अतिवदति, यमहं वक्ष्यामि । न प्राण-
विदतिवादी परमार्थतः । नामाद्यपेक्षं तु तस्यातिवादि-
त्वम् । यस्तु भूमाख्यं सर्वातिक्रान्तं तत्त्वं परमार्थसत्यं
वेद, सोऽतिवादीत्याह— एष तु वा अतिवदति यः
सत्येन परमार्थसत्यविज्ञानवत्तया अतिवदति । सोऽहं त्वां
प्रपन्नः भगवः सत्येनातिवदानि ; तथा मां नियुनक्तु भग-
वान्, यथा अहं सत्येनातिवदानीत्यभिप्रायः । यद्येवं सत्ये-
नातिवदितुमिच्छसि, सत्यमेव तु तावद्विजिज्ञासितव्यमित्यु-
क्त आह नारदः । तथास्तु तर्हि सत्यं भगवो विजिज्ञासे
विशेषेण ज्ञातुमिच्छेयं त्वत्तोऽहमिति ॥

इति षोडशखण्डभाष्यम् ॥

सप्तदशः खण्डः ॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति ना-
विजानन्सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं
वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमि-
ति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

यदा वै सत्यं परमार्थतः विजानाति— इदं परमार्थतः
सत्यमिति, ततः अनृतं विकारजातं वाचारम्भणं हित्वा
सर्वविकारावस्थं सदेवैकं सत्यमिति तदेव अथ वदति यद्व-
दति । ननु विकारोऽपि सत्यमेव, 'नामरूपे सत्यं ताभ्या-
मयं प्राणश्छन्नः' 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति श्रु-
त्यन्तरात् । सत्यमुक्तं सत्यत्वं श्रुत्यन्तरे विकारस्य, न तु पर-
मार्थापेक्षमुक्तम् । किं तर्हि ? इन्द्रियविषयाविषयत्वापेक्षं सच्च-
त्यञ्चेति सत्यमित्युक्तं तद्वारेण च परमार्थसत्यस्योपलब्धिर्वि-
वक्षितेति । 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति च उक्तम् ।
इहापि तदिष्टमेव । इह तु प्राणविषयात्परमार्थसत्यविज्ञाना-

भिमानाद्व्युत्थाप्य नारदं यत्सदेव सत्यं परमार्थतो भूमा-
ख्यम्, तद्विज्ञापयिष्यामीति एष विशेषतो विवक्षितोऽर्थः ।
नाविजानन्सत्यं वदति; यस्त्वविजानन्वदति सोऽग्न्यादिश-
ब्देनाग्न्यादीन्परमार्थसद्रूपान्मन्यमानो वदति; न तु ते रूप-
त्रयव्यतिरेकेण परमार्थतः सन्ति । तथा तान्यपि रूपाणि
सदपेक्षया नैव सन्तीत्यतो नाविजानन्सत्यं वदति । विजा-
नन्नेव सत्यं वदति । न च तत्सत्यविज्ञानमविजिज्ञासितम-
प्रार्थितं ज्ञायत इत्याह—विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्य-
मिति । यद्येवम्, विज्ञानं भगवो विजिज्ञासे इति । एवं
सत्यादीनां च उत्तरोत्तराणां करोत्यन्तानां पूर्वपूर्वहेतुत्वं
व्याख्येयम् ॥

इति सप्तदशखण्डभाष्यम् ॥

अष्टादशः खण्डः ॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा
विजानाति मत्त्वैव विजानाति मतिस्त्वेव
विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजि-
ज्ञास इति ॥ १ ॥

यदा वै मनुत इति । मतिः मननं तर्कः ॥

इति अष्टादशखण्डभाष्यम् ॥

एकोनविंशतितमः खण्डः ॥

यदा वै श्रद्धात्यथ मनुते नाश्रद्ध-
न्मनुते श्रद्धादेव मनुते श्रद्धा त्वेव वि-
जिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञा-
स इति ॥ १ ॥

इति एकोनविंशतितमः खण्डः ॥

मन्तव्यविषये आदरः आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा ॥

इति एकोनविंशतितमखण्डभाष्यम् ॥

विंशतितमः खण्डः ॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धधाति नानि-
स्तिष्ठञ्छ्रद्धधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्धधाति
निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां
भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति विंशतितमः खण्डः ॥

निष्ठा गुरुशुश्रूषादितत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय ॥

इति विंशतितमखण्डभाष्यम् ॥

एकविंशः खण्डः ॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा
निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वे-
व विजिज्ञासितव्येति कृतिं भगवो वि-
जिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति एकविंशः खण्डः ॥

यदा वै करोति । कृतिः इन्द्रियसंयमः चित्तैकाग्रताकरणं
च । सत्यां हि तस्यां निष्ठादीनि यथोक्तानि भवन्ति विज्ञा-
नावसानानि ॥

इति एकविंशखण्डभाष्यम् ॥

द्वाविंशः खण्डः ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासु-
खं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा क-
रोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति
सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति द्वाविंशः खण्डः ॥

सापि कृतिः यदा सुखं लभते सुखं निश्चिन्तयं वक्ष्य-
माणं लब्धव्यं मयेति मन्यते तदा भवतीत्यर्थः । यथा
दृष्टफलसुखा कृतिः तथेहापि नासुखं लब्ध्वा करोति ।

भविष्यदपि फलं लब्ध्वेत्युच्यते, तदुद्दिश्य प्रवृत्त्युपपत्तेः ।
 अथेदानीं कृत्यादिषूत्तरोत्तरेषु सत्सु सत्यं स्वयमेव प्रति-
 भासत इति न तद्विज्ञानाय पृथग्यत्नः कार्य इति प्राप्तम् ;
 तत इदमुच्यते— सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्यादि ।
 सुखं भगवो विजिज्ञास इत्यभिमुखीभूताय आह ॥

इति द्वाविंशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोविंशः खण्डः ॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति
 भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य
 इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति त्रयोविंशः खण्डः ॥

यो वै भूमा महत् निरतिशयं बह्विति पर्यायाः, तत्सु-
 खम् । ततोऽर्वाकसातिशयत्वादल्पम् । अतस्तस्मिन्नल्पे सुखं
 नास्ति, अल्पस्याधिकतृष्णाहेतुत्वात् । तृष्णा च दुःखबी-
 जम् । न हि दुःखबीजं सुखं दृष्टं ज्वरादि लोके । तस्मा-
 द्युक्तं नाल्पे सुखमस्तीति । अतो भूमैव सुखम् । तृष्णा-
 दिदुःखबीजत्वासंभवाद्भूम्नः ॥

इति त्रयोविंशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्विंशः खण्डः ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति
नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्प-
श्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं
यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं
स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे म-
हिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

किंलक्षणोऽसौ भूमेति, आह—यत्र यस्मिन्भूम्नि तत्त्वे
न अन्यद्द्रष्टव्यमन्येन करणेन द्रष्टा अन्यो विभक्तो दृश्यात्प-
श्यति । तथा नान्यच्छृणोति । नामरूपयोरेवान्तर्भावाद्विषय-
भेदस्य तद्गाहकयोरेवेह दर्शनश्रवणयोर्ग्रहणम् अन्येषां च
उपलक्षणार्थत्वेन । मननं तु अत्रोक्तं द्रष्टव्यं नान्यन्मनुत
इति, प्रायशो मननपूर्वकत्वाद्विज्ञानस्य । तथा नान्य-
द्विजानाति । एवंलक्षणो यः स भूमा । किमत्र प्र-
सिद्धान्यदर्शनाभावो भूम्युच्यते नान्यत्पश्यतीत्यादिना,
अथ अन्यन्न पश्यति, आत्मानं पश्यतीत्येतत् । किंचातः ?
यद्यन्यदर्शनाद्यभावमात्रमित्युच्यते, तदा द्वैतसंव्यवहार-
विलक्षणो भूमेत्युक्तं भवति । अथ अन्यदर्शनविशेषप्रतिषेधेन
आत्मानं पश्यतीत्युच्यते, तदैकस्मिन्नेव क्रियाकारकफलभेदो-
ऽभ्युपगतो भवेत् । यद्येवं को दोषः स्यात् ? नन्वयमेव
दोषः— संसारानिवृत्तिः । क्रियाकारकफलभेदो हि संसार

इति । आत्मैकत्वे एव क्रियाकारकफलभेदः संसारविलक्षण इति चेत्, न, आत्मनो निर्विशेषैकत्वाभ्युपगमे दर्शनादि-क्रियाकारकफलभेदाभ्युपगमस्य शब्दमात्रत्वात् । अन्यदर्शनाद्यभावोक्तिपक्षेऽपि यत्र इति अन्यत्र पश्यति इति च विशेषणे अनर्थके स्यातामिति चेत्—दृश्यते हि लोके यत्र शून्ये गृहेऽन्यत्र पश्यतीत्युक्ते स्तम्भादीनात्मानं च न न पश्यतीति गम्यते; एवमिहापीति चेत्, न, तत्त्वमसीत्येकत्वोपदेशादधिकरणाधिकर्तव्यभेदानुपपत्तेः । तथा सदेकमेवाद्वितीयं सत्यमिति षष्ठे निर्धारितत्वात् । ‘अदृश्येऽनात्म्ये’ ‘न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य’ ‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ इत्यादिश्रुतिभ्यः स्वात्मनि दर्शनाद्यनुपपत्तिः । यत्र इति विशेषणमनर्थकं प्राप्तमिति चेत्, न, अविद्याकृतभेदापेक्षत्वात्, यथा सत्यैकत्वाद्वितीयत्वबुद्धिं प्रकृतामपेक्ष्य सदेकमेवाद्वितीयमिति संख्याद्यनर्हमप्युच्यते, एवं भूमन्येकस्मिन्नेव यत्र इति विशेषणम् । अविद्यावस्थायामन्यदर्शनानुवादेन च भूम्नस्तदभावत्वलक्षणस्य विवक्षितत्वात् नान्यत्पश्यति इति विशेषणम् । तस्मात्संसारव्यवहारो भूम्नि नास्तीति समुदायार्थः । अथ यत्राविद्याविषये अन्योऽन्येनान्यत्पश्यतीति तदल्पम् अविद्याकालभावीत्यर्थः; यथा स्वप्नदृश्यं वस्तु प्राक्

प्रबोधात्तत्कालभावीति, तद्वत् । तत एव तन्मर्त्यं विनाशि
स्वप्रवस्तुवदेव । तद्विपरीतो भूमा यस्तदमृतम् । तच्छब्दः
अमृतत्वपरः ; स तर्हि एवंलक्षणो भूमा हे भगवन् कस्मि-
न्प्रतिष्ठित इति उक्तवन्तं नारदं प्रत्याह सनत्कुमारः— स्वे
महिम्नीति स्वे आत्मीये महिम्नि माहात्म्ये विभूतौ प्रति-
ष्ठितो भूमा । यदि प्रतिष्ठामिच्छसि क्वचित्, यदि वा
परमार्थमेव पृच्छसि, न महिम्न्यपि प्रतिष्ठित इति ब्रूमः ;
अप्रतिष्ठितः अनाश्रितो भूमा कचिदपीत्यर्थः ॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहि-
रण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति ना-
हमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो
ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

यदि स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः भूमा, कथं तर्ह्यप्रतिष्ठ उच्य-
ते ? शृणु— गोअश्वादीह महिमेत्याचक्षते । गावश्चाश्वाश्च
गोअश्वं द्वन्द्वैकवद्भावः । सर्वत्र गवाश्वादि महिमेति प्रसि-
द्धम् । तदाश्रितः तत्प्रतिष्ठश्चैत्रो भवति यथा, नाहमेवं
स्वतोऽन्यं महिमानमाश्रितो भूमा चैत्रवदिति ब्रवीमि, अस्म
हेतुत्वेन अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति व्यवहितेन संबन्धः ।
किंत्वेवं ब्रवीमीति ह उवाच— स एवेत्यादि ॥

इति चतुर्विंशखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चविंशः खण्डः ॥

स एवाधस्तात्स उपरिष्ठात्स पश्चा-
त्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स
एवेद५ सर्वमित्यथातोऽहंकारादेश एवा-
हमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुर-
स्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद५
सर्वमिति ॥ १ ॥

कस्मात्पुनः कचिन्न प्रतिष्ठित इति, उच्यते— यस्मात्स
एव भूमा अधस्तात् न तद्व्यतिरेकेणान्यद्विद्यते यस्मिन्प्रति-
ष्ठितः स्यात् । तथोपरिष्ठादित्यादि समानम् । सति
भूम्नोऽन्यस्मिन्, भूमा हि प्रतिष्ठितः स्यात्; न तु तदस्ति ।
स एव तु सर्वम् । अतस्तस्मादसौ न कचित्प्रतिष्ठितः । ‘यत्र
नान्यत्पश्यति’ इत्यधिकरणाधिकर्तव्यतानिर्देशात् स एवाध-
स्तादिति च परोक्षनिर्देशात् द्रष्टुर्जीवादन्यो भूमा स्यादित्या-
शङ्का कथञ्चिन्मा भूदिति अथातः अनन्तरम् अहंकारादेशः
अहंकारेण आदिश्यत इत्यहंकारादेशः । द्रष्टुरनन्यत्वदर्शनार्थं
भूमैव निर्दिश्यते अहंकारेण अहमेवाधस्तादित्यादिना ॥

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्ता-
दात्मोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ता-
दात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद-
५ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं
मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड
आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराङ्गभव-
ति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भव-
ति अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते
क्षय्यलोका भवन्ति तेषां ५ सर्वेषु लोके-
ष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

इति पञ्चविंशः खण्डः ॥

अहंकारेण देहादिसंघातोऽप्यादिश्यतेऽविवेकिभिः इ-
त्यतः तदाशङ्का मा भूदिति अथ अनन्तरम् आत्मादेशः
आत्मनैव केवलेन सत्स्वरूपेण शुद्धेन आदिश्यते । आत्मैव
सर्वतः सर्वम्— इत्येवम् एकमजं सर्वतो व्योमवत्पूर्णम्
अन्यशून्यं पश्यन् स वा एष विद्वान् मननविज्ञानाभ्याम्
आत्मरतिः आत्मन्येव रतिः रमणं यस्य सोऽयमात्मरतिः ।
तथा आत्मक्रीडः । देहमात्रसाधना रतिः बाह्यसाधना
क्रीडा, लोके स्त्रीभिः सखिभिश्च क्रीडतीति दर्शनात् । न
तथा विदुषः ; किं तर्हि, आत्मविज्ञाननिमित्तमेवोभयं भव-

तीत्यर्थः । मिथुनं द्वन्द्वजनितं सुखं तदपि द्वन्द्वनिरपेक्षं यस्य विदुषः । तथा आत्मानन्दः, शब्दादिनिमित्तः आनन्दः अविदुषाम्, न तथा अस्य विदुषः ; किं तर्हि, आत्मनिमित्तमेव सर्वं सर्वदा सर्वप्रकारेण च ; देहजीवितभोगादिनिमित्तबाह्यवस्तुनिरपेक्ष इत्यर्थः । स एवंलक्षणः विद्वान् जीवन्नेव स्वाराज्येऽभिषिक्तः पतितेऽपि देहे स्वराडेव भवति । यत एवम् भवति, तत एव तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । प्राणादिषु पूर्वभूमिषु 'तत्रास्य' इति तावन्मात्रपरिच्छिन्नकामचारत्वमुक्तम् । अन्यराजत्वं च अर्थप्राप्तम्, सातिशयत्वात् । यथाप्राप्तस्वाराज्यकामचारत्वानुवादेन तत्तन्निवृत्तिरिहोच्यते—स स्वराडित्यादिना । अथ पुनः ये अन्यथा अतः उक्तदर्शनादन्यथा वैपरीत्येन यथोक्तमेव वा सम्यक् न विदुः, ते अन्यराजानः भवन्ति अन्यः परो राजा स्वामी येषां ते अन्यराजानस्ते । किंच क्षय्यलोकाः क्षय्यो लोको येषां ते क्षय्यलोकाः, भेददर्शनस्य अरूपविषयत्वात्, अरूपं च तन्मर्त्यमित्यबोचाम । तस्मात् ये द्वैतदर्शिनः ते क्षय्यलोकाः स्वदर्शनानुरूप्येणैव भवन्ति ; अत एव तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥

इति पञ्चविंशखण्डभाष्यम् ॥

षड्विंशः खण्डः ॥

तस्य ह वा एतत्सैवं पश्यत एवं म-
न्वानसैवं विजानत आत्मतः प्राण
आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आ-
काश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्म-
त आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमा-
त्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्या-
नमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो
मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो
मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं
सर्वमिति ॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्येत्यादि स्वाराज्यप्राप्तस्य प्रकृतस्य
विदुष इत्यर्थः । प्राक्सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनोऽन्यस्मात्सतः
प्राणादेर्नामान्तस्योत्पत्तिप्रलयावभूताम् । सदात्मविज्ञाने तु
सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ । तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यव-
हार आत्मत एव विदुषः ॥

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति
 न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः
 पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स
 एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा स-
 सधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः
 शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विं-
 शतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ
 ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां
 विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमस-
 स्सारं दर्शयति भगवान्सनात्कुमारस्तं
 स्कन्द इत्याचक्षते तं स्कन्द इत्याच-
 क्षते ॥ २ ॥

इति षड्विंशः खण्डः ॥

किंच तत् एतस्मिन्नर्थे एष श्लोकः मन्त्रोऽपि भवति—न
 पश्यः पश्यतीति पश्यः यथोक्तदर्शी विद्वानित्यर्थः, मृत्युं
 मरणं रोगं ज्वरादि दुःखतां दुःखभावं चापि न पश्यति ।
 सर्वं ह सर्वमेव स पश्यः पश्यति आत्मानमेव । सर्वं ततः

सर्वमाप्नोति सर्वशः सर्वप्रकारैरिति । किंच स विद्वान् प्राक्सृ-
 ष्टिप्रभेदात् एकधैव भवति ; एकधैव च सन् त्रिधादिभेदैरन-
 न्तभेदप्रकारो भवति सृष्टिकाले ; पुनः संहारकाले मूलमेव
 स्वं पारमार्थिकम् एकधाभावं प्रतिपद्यते स्वतन्त्र एव—इति
 विद्यां फलेन प्ररोचयन् स्तौति । अथेदानीं यथोक्ताया
 विद्यायाः सम्यगवभासकारणं मुखावभासकारणस्येव आ-
 दर्शस्य विशुद्धिकारणं साधनमुपदिश्यते—आहारशुद्धौ ।
 आह्वियत इत्याहारः शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगाय
 आह्वियते । तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिः
 आहारशुद्धिः, रागद्वेषमोहदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञानमित्यर्थः ।
 तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्वतोऽन्तःकरणस्य सत्त्वस्य
 शुद्धिः नैर्मल्यं भवति । सत्त्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते
 भूमात्मनि ध्रुवा अविच्छिन्ना स्मृतिः अविस्मरणं भवति ।
 तस्यां च लब्धायां स्मृतिलम्भे सति सर्वेषामविद्याकृतानर्थ-
 पाशरूपाणाम् अनेकजन्मान्तरानुभवभावनाकठिनीकृतानां
 हृदयाश्रयाणां ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः विशेषेण प्रमोक्षणं विना-
 शो भवतीति । यत एतदुत्तरोत्तरं यथोक्तमाहारशुद्धिमूलं
 तस्मात्सा कार्येत्यर्थः । सर्वं शास्त्रार्थमशेषत उक्त्वा आख्या-
 यिकामुपसंहरति श्रुतिः— तस्मै मृदितकषायाय वार्श्नादि-

रिव कषायो रागद्वेषादिदोषः सत्त्वस्य रञ्जनारूपत्वात् सः
 ज्ञानवैराग्याभ्यासरूपक्षारेण क्षालितः मृदितः विनाशितः
 यस्य नारदस्य, तस्मै योग्याय मृदितकषायाय तमसः अवि-
 द्यालक्षणात् पारं परमार्थतत्त्वं दर्शयति दर्शितवानित्यर्थः ।
 कोऽसौ ? भगवान् ‘उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं
 गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति’
 एवंधर्मा सनात्कुमारः । तमेव सनत्कुमारं देवं स्कन्द इति
 आचक्षते कथयन्ति तद्विदः । द्विर्वचनमध्यायपरिसमा-
 स्यर्थम् ॥

इति षड्विंशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-

त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्

अष्टमोऽध्यायः

॥ अष्टमोऽध्यायः ॥



यद्यपि दिग्देशकालादिभेदशून्यं ब्रह्म
'सत्...एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मै-
वेदं सर्वम्' इति षष्ठसप्तमयोरधिगत-
म्, तथापि इह मन्दबुद्धीनां दिग्देशा-
दिभेदवद्वस्त्विति एवंभाविता बुद्धिः

न शक्यते सहसा परमार्थविषया कर्तुमिति, अनधिगम्य च
ब्रह्म न पुरुषार्थसिद्धिरिति, तदधिगमाय हृदयपुण्डरीकदेशः
उपदेष्टव्यः । यद्यपि सत्सम्यक्प्रत्ययैकविषयं निर्गुणं च आ-
त्मतत्त्वम्, तथापि मन्दबुद्धीनां गुणवत्त्वस्येष्टत्वात् सत्यका-
मादिगुणवत्त्वं च वक्तव्यम् । तथा यद्यपि ब्रह्मविदां स्यादि-
विषयेभ्यः स्वयमेवोपरमो भवति, तथाप्यनेकजन्मविषयसे-
वाभ्यासजनिता विषयविषया तृष्णा न सहसा निवर्तयितुं
शक्यत इति ब्रह्मचर्यादिसाधनविशेषो विधातव्यः । तथा
यद्यप्यात्मैकत्वविदां गन्तृगमनगन्तव्याभावादविद्यादिशेष-
स्थितिनिमित्तक्षये गगन इव विद्युदुद्भूत इव वायुः दग्धेन्ध-

न इव अग्निः स्वात्मन्येव निवृत्तिः, तथापि गन्तृगमनादि-
वासितबुद्धीनां हृदयदेशगुणविशिष्टब्रह्मोपासकानां मूर्धन्यया
नाड्या गतिर्वक्तव्येत्यष्टमः प्रपाठक आरभ्यते । दिग्देशगु-
णगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनाम-
सदिव प्रतिभाति । सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु तत्रः शनैः पर-
मार्थसदपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुतिः—

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्ड-
रीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्त-
स्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञा-
सितव्यमिति ॥ १ ॥

अथ अनन्तरं यदिदं वक्ष्यमाणं दहरम् अस्पं पुण्डरीकं
पुण्डरीकसदृशं वेश्मेव वेश्म, द्वारपालादिमत्त्वात् । अस्मिन्
ब्रह्मपुरे ब्रह्मणः परस्मै पुरम्—राज्ञोऽनेकप्रकृतिमद्यथा पुरम्,
तथेदमनेकेन्द्रियमनोबुद्धिभिः स्वाम्यर्थकारिभिर्बुक्तमिति ब्र-
ह्मपुरम् । पुरे च वेश्म राज्ञो यथा, तथा तस्मिन्ब्रह्मपुरे
शरीरे दहरं वेश्म, ब्रह्मण उपलब्ध्यधिष्ठानमित्यर्थः । यथा
विष्णोः सालग्रामः । अस्मिन्हि स्वविकारशुक्ले देहे नामरू-
पव्याकरणाय प्रविष्टं सदाख्यं ब्रह्म जीवेन आत्मनेत्वुक्तम् ।
तस्मादस्मिन्हृदयपुण्डरीके वेश्मनि उपसंहृतकरप्रैर्ब्रह्मविषय-

विरक्तैः विशेषतो ब्रह्मचर्यसत्यसाधनाभ्यां युक्तैः वक्ष्यमाण-
गुणवद्धयायमानैः ब्रह्मोपलभ्यत इति प्रकरणार्थः । दहरः
अल्पतरः अस्मिन्दहरे वेदमनि वेदमनः अल्पत्वात्तदन्तर्वर्ति-
नोऽल्पतरत्वं वेदमनः । अन्तराकाशः आकाशाख्यं ब्रह्म ।
'आकाशो वै नाम' इति हि वक्ष्यति । आकाश इव अ-
शरीरत्वात् सूक्ष्मत्वसर्वगतत्वसामान्याच्च । तस्मिन्नाकाशा-
ख्ये यदन्तः मध्ये तदन्वेष्टव्यम् । तद्वाव तदेव च विशेषेण
जिज्ञासितव्यं गुर्वाश्रयश्रवणाद्युपायैरन्विष्य च साक्षात्कर-
णीयमित्यर्थः ॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पु-
ण्डरीकं वेदम दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः
किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव
विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥ २ ॥

तं चेत् एवमुक्तवन्तमाचार्यं यदि ब्रूयुः अन्तेवासिनश्चो-
दयेयुः ; कथम् ! यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे परिच्छिन्ने अन्तः
दहरं पुण्डरीकं वेदम, ततोऽप्यन्तः अल्पतर एव आकाशः ।
पुण्डरीक एव वेदमनि तावत्किं स्यात् । किं ततोऽल्पतरे खे
यद्भवेदित्याहुः । दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते, न
किञ्चन विद्यत इत्यभिप्रायः । यदि नाम बदरमात्रं किमपि

विद्यते, किं तस्यान्वेषणेन विजिज्ञासनेन वा फलं विजिज्ञा-
सितुः स्यात्? अतः यत्तत्रान्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं वा न
तेन प्रयोजनमित्युक्तवतः स आचार्यो ब्रूयादिति श्रुतेर्व-
चनम् ॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्त-
र्हृदय आकाश उभे अस्मिन्वावापृथिवी
अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च
सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चा-
खेहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समा-
हितमिति ॥ ३ ॥

शृणुत— तत्र यद्ब्रूथ पुण्डरीकान्तःस्थस्य स्वस्याल्पत्वात्
तत्स्थमल्पतरं स्यादिति, तदसत् । न हि खं पुण्डरीकवेश्म-
गतं पुण्डरीकादल्पतरं मत्वा अवोचं दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश
इति । किं तर्हि, पुण्डरीकमल्पं तदनुविधायि तत्स्थमन्तः-
करणं पुण्डरीकाकाशपरिच्छिन्नं तस्मिन्विशुद्धे संहतकरणानां
योगिनां स्वच्छ इवोदके प्रतिबिम्बरूपमादर्श इव च शुद्धे
स्वच्छं विज्ञानज्योतिःस्वरूपावभासं तावन्मात्रं ब्रह्मोपलभ्यत
इति दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्यवोचाम अन्तःकरणोपाधिनि-
मित्तम् । स्वतस्तु यावान्वै प्रसिद्धः परिमाणतोऽयमाकाशः

भौतिकः, तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः यस्मिन्नन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च अवोचाम । नाप्याकाशतुल्यपरिमाणत्वमभिप्रेत्य तावानित्युच्यते । किं तर्हि, ब्रह्मणोऽनुरूपस्य दृष्टान्तान्तरस्याभावात् । कथं पुनर्न आकाशसममेव ब्रह्मेत्यवगम्यते, 'येनावृतं खं च दिवं महीं च', 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः,' 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः' इत्यादिश्रुतिभ्यः । किं च उभे अस्मिन्धावापृथिवी ब्रह्माकाशे बुद्ध्युपाधिविशिष्टे अन्तरेव समाहिते सम्यगाहिते स्थिते । 'यथा वा अरा नाभौ' इत्युक्तं हि; तथा उभावग्निश्च वायुश्चेत्यादि समानम् । यच्च अस्य आत्मन आत्मीयत्वेन देहवतोऽस्ति विद्यते इह लोके । तथा यच्च आत्मीयत्वेन न विद्यते । नष्टं भविष्यच्च नास्तीत्युच्यते । न तु अत्यन्तमेवासत्, तस्य हृद्याकाशे समाधानानुपपत्तेः ॥

तं चेद्ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं
समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च
कामा यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वंसते
वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

तं चेत् एवमुक्तवन्तं ब्रूयुः पुनरन्तेवासिनः— अस्मिंश्चेत्

यथोक्ते चेत् यदि ब्रह्मपुरे ब्रह्मपुरोपलक्षितान्तराकाशे
 इत्यर्थः । इदं सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च
 कामाः । कथमाचार्येणानुक्ताः कामा अन्तेवासिभिरुच्यन्ते ?
 नैष दोषः । यच्च अस्य इहास्ति यच्च नास्तीत्युक्ता एव हि
 आचार्येण कामाः । अपि च सर्वशब्देन च उक्ता एव
 कामाः । यदा यस्मिन्काले एतच्छरीरं ब्रह्मपुराख्यं जरा
 वलीपलितादिलक्षणा वयोहानिर्वा आप्रोति, शस्त्रादिना वा
 वृक्कणं प्रध्वंसते विस्त्रंसते विनश्यति, किं ततोऽन्यदति-
 शिष्यते ? घटाश्रितक्षीरदधिक्षेहादिवत् घटनाशे देहनाशे-
 ऽपि देहाश्रयमुत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वनाशान्नश्यतीत्यभिप्रायः । एवं
 प्राप्ते नाशे किं ततोऽन्यत् यथोक्तादतिशिष्यते अवतिष्ठते, न
 किञ्चनावतिष्ठत इत्यभिप्रायः ॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधे-
 नास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मि-
 न्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपा-
 प्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघ-
 त्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो
 यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानु-
 शासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं

जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥

एवमन्तेवासिभिश्चोदितः स आचार्यो ब्रूयात् तन्मतिम-
पनयन् । कथम् ? अस्य देहस्य जरया एतत् यथोक्तमन्तरा-
काशाख्यं ब्रह्म यस्मिन्सर्वं समाहितं न जीर्यति देहवन्न
विक्रियत इत्यर्थः । न च अह्य वधेन शस्त्रादिघातेन एतद्ध-
न्यते, यथा आकाशम् ; किमु ततोऽपि सूक्ष्मतरमशब्दमस्पर्श
ब्रह्म देहेन्द्रियादिदोषैर्न स्पृश्यत इत्यर्थः । कथं देहेन्द्रिया-
दिदोषैर्न स्पृश्यत इति एतस्मिन्नवसरे वक्तव्यं प्राप्नम्, तत्प्र-
कृतव्यासङ्गो मा भूदिति नोच्यते । इन्द्रविरोचनाख्यायिका-
यामुपरिष्ठाद्वक्ष्यामो युक्तितः । एतत्सत्यमवितथं ब्रह्मपुरं
ब्रह्मैव पुरं ब्रह्मपुरम् ; शरीराख्यं तु ब्रह्मपुरं ब्रह्मोपलक्षणा-
र्थत्वात् । तत्तु अनृतमेव, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'
इति श्रुतेः । तद्विकारे अनृतेऽपि देहशुक्ले ब्रह्मोपलभ्यत
इति ब्रह्मपुरमित्युक्तं व्यावहारिकम् । सत्यं तु ब्रह्मपुरमेत-
देव ब्रह्म, सर्वव्यवहारास्पदत्वात् । अतः अस्मिन्पुण्डरीको-
पलक्षिते ब्रह्मपुरे सर्वे कामाः, ये बहिर्भवद्भिः प्रार्थ्यन्ते, ते
अस्मिन्नेव स्वात्मनि समाहिताः । अतः तत्प्राप्त्युपायमेवा-
नुतिष्ठत, बाह्यविषयतृष्णां त्यजत इत्यभिप्रायः । एष आत्मा
भवतां स्वरूपम् । शृणुत तस्य लक्षणम्— अपहृतपाप्मा,

अपहतः पाप्मा धर्माधर्माख्यो यस्य सोऽयमपहतपाप्मा ।
 तथा विजरः विगतजरः विमृत्युश्च । तदुक्तं पूर्वमेव न वधे-
 नास्य हन्यत इति ; किमर्थं पुनरुच्यते ? यद्यपि देहसंबन्धि-
 भ्यां जरामृत्युभ्यां न संबध्यते, अन्यथापि संबन्धस्ताभ्यां
 स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । विशोकः विगतशोकः । शोको
 नाम इष्टादिवियोगनिमित्तो मानसः संतापः । विजिघत्सः
 विगताशनेच्छः । अपिपासः अपानेच्छः । ननु अपहतपाप्म-
 त्वेन जरादयः शोकान्ताः प्रतिषिद्धा एव भवन्ति, कारण-
 प्रतिषेधात् । धर्माधर्मकार्या हि ते इति । जरादिप्रतिषेधेन
 वा धर्माधर्मयोः कार्याभावे विद्यमानयोरप्यसत्समत्वमिति
 पृथक्प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । सत्यमेवम्, तथापि धर्मकार्या-
 नन्दव्यतिरेकेण स्वाभाविकानन्दो यथेश्वरे, 'विज्ञानमानन्दं
 ब्रह्म' इति श्रुतेः, तथा अधर्मकार्यजरादिव्यतिरेकेणापि
 जरादिदुःखस्वरूपं स्वाभाविकं स्यादित्याशङ्कयेत् । अतः
 युक्तस्तन्निवृत्तये जरादीनां धर्माधर्माभ्यां पृथक्प्रतिषेधः ।
 जरादिग्रहणं सर्वदुःखोपलक्षणार्थम् । पापनिमित्तानां तु
 दुःखानामानन्त्यात्प्रत्येकं च तत्प्रतिषेधस्य अशक्यत्वात् सर्व-
 दुःखप्रतिषेधार्थं युक्तमेवापहतपाप्मत्ववचनम् । सत्याः अवि-
 तथाः कामाः यस्य सोऽयं सत्यकामः । वितथा हि संसा-

रिणां कामाः; ईश्वरस्य तद्विपरीताः । तथा कामहेतवः संकल्पा अपि सत्याः यस्य स सत्यसंकल्पः । संकल्पाः कामाश्च शुद्धसत्त्वोपाधिनिमित्ताः ईश्वरस्य, चित्रगुवत्; न स्वतः 'नेति नेति' इत्युक्तत्वात् । यथोक्तलक्षण एष आत्मा विज्ञेयो गुरुभ्यः शास्त्रतश्च आत्मसंवेद्यतया च स्वाराज्यकामैः । न चेद्विज्ञायते को दोषः स्यादिति, शृणुत अत्र दोषं दृष्टान्तेन— यथा ह्येव इह लोके प्रजाः अन्वाविशन्ति अनुवर्तन्ते यथानुशासनम्; यथेह प्रजाः अन्यं स्वामिनं मन्यमानाः तस्य स्वामिनो यथा यथानुशासनं तथा तथान्वाविशन्ति । किम्? यं यमन्तं प्रत्यन्तं जनपदं क्षेत्रभागं च अभिकामाः अर्थिन्यः भवन्ति आत्मबुद्धयनुरूपम्, तं तमेव च प्रत्यन्तादिम् उपजीवन्तीति । एष दृष्टान्तः अस्वातन्त्र्यदोषं प्रति पुण्यफलोपभोगे ॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एव
मेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य
इहात्मानमननुविद्य ब्रजन्त्येताः५श्च स-
त्यान्कामाः५स्तेषां५ सर्वेषु लोकेष्वकाम-
चारो भवत्यथ य इहात्मानमननुविद्य ब्रज-
न्त्येताः५श्च सत्यान्कामाः५स्तेषां५ सर्वेषु

लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

अथ अन्यो दृष्टान्तः तत्क्षयं प्रति तद्यथेहेत्यादिः । तत् तत्र यथा इह लोके तासामेव स्वाम्यनुशासनानुवर्तिनीनां प्रजानां सेवादिजितो लोकः पराधीनोपभोगः क्षीयते अन्त-
वान्भवति । अथ इदानीं दार्ष्टान्तिकमुपसंहरति— एवमेव
अमुत्र अग्निहोत्रादिपुण्यजितो लोकः पराधीनोपभोगः क्षी-
यत एवेति । उक्तः दोषः एषामिति विषयं दर्शयति— तद्य
इत्यादिना । तत् तत्र ये इह अस्मिँल्लोके ज्ञानकर्मणोरधिकृताः
योग्याः सन्तः आत्मानं यथोक्तलक्षणं शास्त्राचार्योपदिष्टम-
ननुविद्य यथोपदेशमनु स्वसंवेद्यतामकृत्वा व्रजन्ति देहाद-
स्मात्प्रयन्ति, य एतांश्च यथोक्तान् सत्यान् मत्यसंकल्पका-
र्यांश्च स्वात्मस्थान्कामान् अननुविद्य व्रजन्ति, तेषां सर्वेषु
लोकेषु अकामचारः अस्वतन्त्रता भवति— यथा राजानुशा-
सनानुवर्तिनीनां प्रजानामित्यर्थः । अथ ये अन्ये इह लोके
आत्मानं शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्य स्वात्मसंवेद्यतामापाद्य
व्रजन्ति यथोक्तांश्च सत्यान्कामान्, तेषां सर्वेषु लोकेषु का-
मचारो भवति— राज्ञ इव सार्वभौमस्य इह लोके ॥

इति प्रथमखण्डभाष्यम्

द्वितीयः खण्डः ॥

स यदि पितृलोककामो भवति सं-
कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन
पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ १ ॥

कथं सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति, उच्यते— य
आत्मानं यथोक्तलक्षणं हृदि साक्षात्कृतवान् वक्ष्यमाणब्रह्म-
चर्यादिसाधनसंपन्नः सन् तत्स्थांश्च सत्यान्कामान् ; स त्यक्त-
देहः यदि पितृलोककामः पितरो जनयितारः त एव सुख-
हेतुत्वेन भोग्यत्वात् लोका उच्यन्ते, तेषु कामो यस्य तैः
पितृभिः संबन्धेच्छा यस्य भवति, तस्य संकल्पमात्रादेव
पितरः समुत्तिष्ठन्ति आत्मसंबन्धितामापद्यन्ते, विशुद्धस-
त्त्वतया सत्यसंकल्पत्वात् ईश्वरस्येव । तेन पितृलोकेन भोगेन
संपन्नः संपत्तिः इष्टप्राप्तिः तथा समृद्धः महीयते पूज्यते वर्धते
वा महिमानमनुभवति ॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति सं-
कल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन
मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सं-

कल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन
भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सं-
कल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन
स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति
संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति
तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ५ ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भ-
वति संकल्पादेवाख्य गन्धमाल्ये समुत्ति-
ष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो मही-
यते ॥ ६ ॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति सं-
कल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्न-
पानलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो
भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समु-

त्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो
महीयते ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संक-
ल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन
स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ९ ॥

समानमन्यत् । मातरो जनयित्र्यः अतीताः सुखहेतु-
भूताः सामर्थ्यात् । न हि दुःखहेतुभूतासु ग्रामसूकरादिज-
न्मनिमित्तासु मातृषु विशुद्धसत्त्वस्य योगिनः इच्छा तत्सं-
बन्धो वा युक्तः ॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं
कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति
तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

यं यमन्तं प्रदेशमभिकामो भवति, यं च कामं काम-
यते यथोक्तव्यतिरेकेणापि, सः अस्यान्तः प्राप्तुमिष्टः कामश्च
संकल्पादेव समुत्तिष्ठत्यस्य । तेन इच्छाविधाततया अभि-
प्रेतार्थप्राप्त्या च संपन्नो महीयते इत्युक्तार्थम् ॥

इति द्वितीयखण्डभाष्यम् ॥

तृतीयः खण्डः ॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधाना-
स्तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानं
यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय
लभते ॥ १ ॥

यथोक्तात्मध्यानसाधनानुष्ठानं प्रति साधकानामुत्साह-
जननार्थमनुक्रोशन्त्याह—कष्टमिदं खलु वर्तते, यत्स्वात्मस्थाः
शक्यप्राप्त्या अपि त इमे सत्याः कामाः अनृतापिधानाः,
तेषामात्मस्थानां स्वाश्रयाणामेव सतामनृतं बाह्यविषयेषु
रुच्यन्नभोजनाच्छादनादिषु तृष्णा तन्निमित्तं च स्वेच्छाप्र-
चारत्वं मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वादनृतमित्युच्यते । तन्निमित्तं
सत्यानां कामानामप्राप्तिरिति अपिधानमिवापिधानम् । क-
थमनृतापिधाननिमित्तं तेषामलभ इति, उच्यते—यो यो
हि यस्मादस्य जन्तोः पुत्रो भ्राता वा इष्टः इतः अस्माद्धौ-
कात् प्रैति प्रगच्छति म्रियते, तमिष्टं पुत्रं भ्रातरं वा
स्वहृदयाकाशे विद्यमानमपि इह पुनर्दर्शनायेच्छन्नपि न
लभते ॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता य-
 चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदन्नं गत्वा
 विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृता-
 पिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहि-
 तमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न वि-
 न्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छ-
 न्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि
 प्रत्यूढाः ॥ २ ॥

अथ पुनः ये च अन्नं विदुषः जन्तोर्जीवाः जीवन्तीह
 पुत्राः भ्रातादयो वा, ये च प्रेताः मृताः इष्टाः संबन्धिनः,
 यश्चान्यदिह लोके वस्त्रान्नपानादि रत्नानि वा वस्त्वच्छन्
 न लभते, तत्सर्वमत्र हृदयाकाशाख्ये ब्रह्मणि गत्वा यथो-
 क्तेन विधिना विन्दते लभते । अत्र अस्मिन्हार्दाकाशे
 हि यस्मात् अस्य ते यथोक्ताः सत्याः कामाः वर्तन्ते अनृ-
 तापिधानाः । कथमिव तदन्याय्यमिति, उच्यते—तत् तत्र
 यथा हिरण्यनिधिं हिरण्यमेव पुनर्ग्रहणाय निधातृभिः
 निधीयत इति निधिः तं हिरण्यनिधिं निहितं भूमेरधस्ता-
 त्रिक्षिप्तम् अक्षेत्रज्ञाः निधिशास्त्रैर्निधिक्षेत्रज्ञमजानन्तः ते निधेः

उपर्युपरि संचरन्तोऽपि निधिं न विन्देयुः शक्यवेदन-
मपि, एवमेव इमाः अविद्यावत्यः सर्वा इमाः प्रजाः
यथोक्तं हृदयाकाशाख्यं ब्रह्मलोकं ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः
तम् अहरहः प्रत्यहं गच्छन्त्योऽपि सुषुप्तकाले न विन्दन्ति
न लभन्ते—एषोऽहं ब्रह्मलोकभावमाप्नोऽस्म्यद्येति । अ-
नृतेन हि यथोक्तेन हि यस्मात् प्रत्यूढाः हृताः, स्वरूपाद-
विद्यादिदोषैर्बहिरपकृष्टा इत्यर्थः । अतः कष्टमिदं वर्तते
जन्तूनां यत्स्वायत्तमपि ब्रह्म न लभ्यते इत्यभिप्रायः ॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव
निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्धृदयमहरह-
र्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥

स वै यः ‘आत्मापहतपाप्मा’ इति प्रकृतः, वै-शब्देन तं
स्मारयति । एषः विवक्षित आत्मा हृदि हृदयपुण्डरीके
आकाशशब्देनाभिहितः । तस्य एतस्य हृदयस्य एतदेव
निरुक्तं निर्वचनम्, नान्यत् । हृदि अयमात्मा वर्तत इति
यस्मात्, तस्माद्धृदयम्, हृदयनामनिर्वचनप्रसिद्ध्यापि स्वहृ-
दये आत्मेत्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः । अहरहर्वै प्रत्यहम् एवंवित्
हृदि अयमात्मेति जानन् स्वर्गं लोकं हार्दं ब्रह्म एति प्रतिप-
द्यते । ननु अनेवंविदपि सुषुप्तकाले हार्दं ब्रह्म प्रतिपद्यते एव,

‘सता सोम्य तदा संपन्नः इत्युक्तत्वात् । बाढमेवम्,
तथाप्यस्ति विशेषः— यथा जानन्नजानंश्च सर्वो जन्तुः
सद्ब्रह्मैव, तथापि तत्त्वमसीति प्रतिबोधितः विद्वान्—सदेव
नान्योऽस्मि— इति जानन् सदेव भवति; एवमेव विद्वान-
नविद्वान्श्च सुषुप्ते यद्यपि सत्संपद्यते, तथाप्येवंविदेव स्वर्ग
लोकमेतीत्युच्यते । देहपातेऽपि विद्याफलस्यावश्यंभावित्वा-
दित्येष विशेषः ॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरा-
त्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रू-
पेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचै-
तदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एत-
स्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥ ४ ॥

सुषुप्तकाले स्वेन आत्मना सता संपन्नः सन् सम्यक्प्र-
सीदतीति जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयेन्द्रियसंयोगजातं कालुष्यं जहा-
तीति संप्रसादशब्दो यद्यपि सर्वजन्तूनां साधारणः, तथापि
एवंवित् स्वर्गं लोकमेतीति प्रकृतत्वात् एष संप्रसाद इति
संनिहितवद्यन्नविशेषात् सः अथेदं शरीरं हित्वा अस्माच्छ-
रीरात्समुत्थाय शरीरात्मभावनां परित्यज्येत्यर्थः । न तु
आसनादिव समुत्थायेति इह युक्तम्, स्वेन रूपेणेति विशे-

षणात्— न हि अन्यत उत्थाय स्वरूपं संपत्तव्यम् । स्वरूपमेव हि तन्न भवति प्रतिपत्तव्यं चेत्स्यात् । परं परमात्मलक्षणं विज्ञप्तिस्वभावं ज्योतिरूपसंपद्य स्वास्थ्यमुपगम्येत्येतत् । स्वेन आत्मीयेन रूपेण अभिनिष्पद्यते, प्रागेतस्याः स्वरूपसंपत्तेरविद्यया देहमेव अपरं रूपम् आत्मत्वेनोपगत इति तदपेक्षया इदमुच्यते— स्वेन रूपेणेति । अशरीरता हि आत्मनः स्वरूपम् । यत्स्वं परं ज्योतिः स्वरूपमापद्यते संप्रसादः, एष आत्मेति ह उवाच—स ब्रूयादिति यः श्रुत्या नियुक्तः अन्तेवासिभ्यः । किं च एतदमृतम् अविनाशि भूमा 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्युक्तम् । अत एवाभयम्, भूम्नो द्वितीयाभावात् । अत एतद्ब्रह्मेति । तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम अभिधानम् । किं तत्? सत्यमिति । सत्यं हि अवितथं ब्रह्म । 'तत्सत्यं स आत्मा' इति हि उक्तम् । अथ किमर्थमिदं नाम पुनरुच्यते? तदुपासनविधिस्तुत्यर्थम् ॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि
सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति
तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदने-
नोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवं-
वित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

तानि ह वा एतानि ब्रह्मणो नामाक्षराणि त्रीण्येतानि
 सतीयमिति, सकारस्तकारो यमिति च । ईकारस्तकारे उ-
 च्चारणार्थोऽनुबन्धः, ह्रस्वेनैवाक्षरेण पुनः प्रतिनिर्देशात् । तेषां
 तत् तत्र यत् सत् सकारः तदमृतं सद्ब्रह्म—अमृतवाचकत्वा-
 दमृत एव सकारस्तकारान्तो निर्दिष्टः । अथ यत्ति तकारः
 तन्मर्त्यम् । अथ यत् यम् अक्षरम्, तेनाक्षरेणामृतमर्त्याख्ये
 पूर्वे उभे अक्षरे यच्छति नियमयति वशीकरोत्यात्मनेत्यर्थः ।
 यत् यस्मात् अनेन यमित्येतेन उभे यच्छति, तस्मात् यम् ।
 संयते इव हि एतेन यमा लक्ष्येते । ब्रह्मनामाक्षरस्यापि
 इदममृतत्वादिधर्मवत्त्वं महाभाग्यम्, किमुत नामवतः—
 इत्युपास्यत्वाय स्तूयते ब्रह्म नामनिर्वचनेन । एवं नामवतो
 वेत्ता एवंवित् । अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेतीत्युक्तार्थम् ॥

इति तृतीयखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां
लोकानामसंभेदाय नैत५ सेतुमहोरात्रे
तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं
न दुष्कृतं५ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते
ऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

अथ य आत्मेति । उक्तलक्षणो यः संप्रसादः, तस्य
स्वरूपं वक्ष्यमाणैरुक्तैरनुक्तैश्च गुणैः पुनः स्तूयते, ब्रह्मचर्य-
साधनसंबन्धार्थम् । य एषः यथोक्तलक्षणः आत्मा, स से-
तुरिव सेतुः । विधृतिः विधरणः । अनेन हि सर्वं जगद्वर्णा-
श्रमादिक्रियाकारकफलादिभेदनियमैः कर्तुरनुरूपं विदधता
विधृतम् । अध्रियमाणं हि ईश्वरेणेदं विश्वं विनश्येन्नतः,
तस्मात्स सेतुः विधृतिः । किमर्थं स सेतुरिति, आह—एषां
भूरादीनां लोकानां कर्तृकर्मफलाश्रयाणाम् असंभेदाय अवि-
दारणाय अविनाशयेत्येतत् । किंविशिष्टश्चासौ सेतुरिति,
आह—नैतम्, सेतुमात्मानमहोरात्रे सर्वस्य जनिमतः प-
रिच्छेदके सती नैतं तरतः । यथा अन्ये संसारिणः कालेन
अहोरात्रादिलक्षणेन परिच्छेद्या, न तथा अयं कालपरिच्छेद्य
इत्यभिप्रायः, 'यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते' इति
श्रुत्यन्तरात् । अत एव एनं न जरा तरति न प्राप्नोति ।

तथा न मृत्युः न शोकः न सुकृतं न दुष्कृतम्, सुकृतदुष्कृते धर्माधर्मौ । प्राप्तिरत्र तरणशब्देन अभिप्रेता, नातिक्रमणम् । कारणं हि आत्मा । न शक्यं हि कारणातिक्रमणं कर्तुं कार्येण । अहोरात्रादि च सर्वं सतः कार्यम् । अन्येन हि अन्यस्य प्राप्तिः अतिक्रमणं वा क्रियेत, न तु तेनैव तस्य । न हि घटेन मृत्प्राप्यते अतिक्रम्यते वा । यद्यपि पूर्वम् ‘य आत्मा-पहतपाप्मा’ इत्यादिना पाप्मादिप्रतिषेध उक्त एव, तथापीहायं विशेषः—न तरतीति प्राप्तिविषयत्वं प्रतिषिध्यते । तत्र अविशेषेण जराद्यभावमात्रमुक्तम् । अहोरात्राद्या उक्ता अनुक्ताश्च अन्ये सर्वे पाप्मानः उच्यन्ते; अतः अस्मादात्मनः सेतोः निवर्तन्ते अप्राप्यैवेत्यर्थः । अपहतपाप्मा हि एष ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः उक्तः ॥

तस्माद्वा एत५ सेतुं तीर्त्वान्धः सन्न-
नन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युप-
तापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एत५
सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते
सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

यस्माच्च पाप्मकार्यमान्ध्यादि शरीरवतः स्यात् न त्व-
शरीरस्य, तस्माद्वा एतमात्मानं सेतुं तीर्त्वा प्राप्य अनन्धो

भवति देहवत्त्वे पूर्वमन्धोऽपि सन् । तथा विद्धः सन् देह-
वत्त्वे स देहवियोगे सेतुं प्राप्य अविद्धो भवति । तथोपता-
पी रोगाद्युपतापवान्सन् अनुपतापी भवति । किञ्च यस्माद-
होरात्रे न स्तः सेतौ, तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा प्राप्य नक्त-
मपि तमोरूपं रात्रिरपि सर्वमहरेवाभिनिष्पद्यते ; विज्ञप्त्या-
त्मज्योतिःस्वरूपमहरिवाहः सदैकरूपं विदुषः संपद्यत इत्य-
र्थः । सकृद्विभातः सदा विभातः सदैकरूपः स्वेन रूपेण
एष ब्रह्मलोकः ॥

**तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुवि-
न्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु
लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥**

इति चतुर्थः खण्डः ॥

तत् तत्रैवं सति एतं यथोक्तं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण स्त्री-
विषयतृष्णात्यागेन शास्त्राचार्योपदेशमनुविन्दन्ति स्वात्मसं-
वेद्यतामापादयन्ति ये, तेषामेव ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मवि-
दाम् एष ब्रह्मलोकः, नान्येषां स्त्रीविषयसंपर्कजाततृष्णानां
ब्रह्मविदामपीत्यर्थः । तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती-
त्युक्तार्थम् । तस्मात्परमम् एतत्साधनं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मविदामि-
त्यभिप्रायः ॥

इति चतुर्थखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चमः खण्डः ॥

य आत्मा सेतुत्वादिगुणैः स्तुतः, तत्प्राप्तये ज्ञानसहकारिसाधनान्तरं ब्रह्मचर्याख्यं विधातव्यमित्याह । यज्ञादिभिश्च तत्स्तौति कर्तव्यार्थम्—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव
तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते-
ऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्र-
ह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते लोके परमपुरुषार्थसाधनं कथयन्ति शिष्टाः, तद्ब्रह्मचर्यमेव । यज्ञस्यापि यत्फलं तत् ब्रह्मचर्यवाञ्छन्ते ; अतः यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति प्रतिपत्तव्यम् । कथं ब्रह्मचर्यं यज्ञ इति, आह— ब्रह्मचर्येणैव हि यस्मात् यो ज्ञाता स तं ब्रह्मलोकं यज्ञस्यापि पारम्पर्येण फलभूतं विन्दते । लभते, ततो यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति । यो ज्ञाता— इत्यक्षरानुवृत्तेः यज्ञो ब्रह्मचर्यमेव । अथ यदिष्टमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत् । कथम् ? ब्रह्मचर्येणैव साधनेन तम् ईश्वरम् इष्ट्वा पूजयित्वा अथवा एषणाम् आत्मविषयां कृत्वा

तमात्मानमनुविन्दते । एषणादिष्टमपि ब्रह्मचर्यमेव ॥

अथ यत्सन्नायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य-
मेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं
विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य-
मेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य
मनुते ॥ २ ॥

अथ यत्सन्नायणमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत् । तथा
सतः परस्मादात्मनः आत्मनस्त्राणं रक्षणं ब्रह्मचर्यसाधनेन
विन्दते । अतः सन्नायणशब्दमपि ब्रह्मचर्यमेव तत् । अथ
यन्मौनमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत् ; ब्रह्मचर्येणैव साधनेन
युक्तः सन् आत्मानं शास्त्राचार्याभ्यामनुविद्य पश्चात् मनुते
ध्यायति । अतो मौनशब्दमपि ब्रह्मचर्यमेव ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्म-
चर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्र-
ह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्या-
चक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदस्त्र ह वै ण्य-
श्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि
तदैरं मदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवन-

स्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितः
हिरण्यमयम् ॥ ३ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत् । यमात्मानं ब्रह्मचर्येण अनुविन्दते, स एष हि आत्मा ब्रह्मचर्यसाधनवतो न नश्यति; तस्मादनाशकायनमपि ब्रह्मचर्यमेव । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत् । अरण्यशब्दयोरर्णवयोर्ब्रह्मचर्यवतोऽयनादरण्यायनं ब्रह्मचर्यम् । यो ज्ञानाद्यज्ञः एषणादिष्टं सतस्त्राणात्सन्नायणं मननान्मौनम् अनशनादनाशकायनम् अरण्ययोर्गमनादरण्यायनम् इत्यादिभिर्महद्भिः पुरुषार्थसाधनैः स्तुतत्वात् ब्रह्मचर्यं परमं ज्ञानस्य सहकारिकारणं साधनम्—इत्यतो ब्रह्मविदा यन्नतो रक्षणीयमित्यर्थः । तत् तत्र हि ब्रह्मलोके अरश्च ह वै प्रसिद्धो ण्यश्च अर्णवौ समुद्रौ समुद्रोपमे वा सरसी, तृतीयस्यां भुवमन्तरिक्षं च अपेक्ष्य तृतीया द्यौः तस्यां तृतीयस्याम् इतः अस्माल्लोकादारभ्य गण्यमानायां दिवि । तत् तत्रैव च ऐरम् इरा अन्नं तन्मयः ऐरः मण्डः तेन पूर्णम् ऐरं मदीयं तदुपयोगिनां मदकरं हर्षोत्पादकं सरः । तत्रैव च अश्वत्थो वृश्चः सोमसवनो नामतः सोमोऽमृतं तन्निस्त्रवः अमृतस्रव इति वा । तत्रैव च ब्रह्मलोके

ब्रह्मचर्यसाधनरहितैर्ब्रह्मचर्यसाधनवद्भ्यः अन्यैः न जीयत
इति अपराजिता नाम धूः पुरी ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य ।
ब्रह्मणा च प्रभुणा विशेषेण मितं निर्मितं तच्च हिरण्यमयं
सौवर्णं प्रभुविमितं मण्डपमिति वाक्यशेषः ॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्म-
लोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष
ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु काम-
चारो भवति ॥ ४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

तत् तत्र ब्रह्मलोके एतावर्णवौ यावरण्याख्यावुक्तौ ब्रह्म-
चर्येण साधनेन अनुविन्दन्ति ये, तेषामेव एषः यो व्या-
ख्यातः ब्रह्मलोकः । तेषां च ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदां
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, नान्येषामब्रह्मचर्यपराणां
बाह्यविषयासक्तबुद्धीनां कदाचिदपीत्यर्थः ॥

नन्वत्र 'त्वमिन्द्रस्त्वं यमस्त्वं वरुणः' इत्यादिभिर्यथा
कश्चित्स्तूयते महार्हः, एवमिष्टादिभिः शब्दैः न स्त्र्यादिवि-
षयतृष्णानिवृत्तिमात्रं स्तुत्यर्हम्; किं तर्हि, ज्ञानस्य मोक्ष-
साधनत्वात् तदेवेष्टादिभिः स्तूयत इति केचित् । न,

स्रयादिबाह्यविषयतृष्णापहतचित्तानां प्रत्यगात्मविवेकविज्ञानानुपपत्तेः, 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः । ज्ञानसहकारिकारणं स्रयादिविषयतृष्णानिवृत्तिसाधनं विधातव्यमेवेति युक्तैव तत्स्तुतिः । ननु च यज्ञादिभिः स्तुतं ब्रह्मचर्यमिति यज्ञादीनां पुरुषार्थसाधनत्वं गम्यते । सत्यं गम्यते, न त्विह ब्रह्मलोकं प्रति यज्ञादीनां साधनत्वमभिप्रेत्य यज्ञादिभिर्ब्रह्मचर्यं स्तूयते ; किं तर्हि, तेषां प्रसिद्धं पुरुषार्थसाधनत्वमपेक्ष्य । यथेन्द्रादिभिः राजा, न तु यत्रेन्द्रादीनां व्यापारः तत्रैव राज्ञ इति— तद्वत् ॥

य इमेऽर्णवादयो ब्राह्मलौकिकाः संकल्पजाश्च पित्रादयो भोगाः, ते किं पार्थिवा आप्याश्च यथेह लोके दृश्यन्ते तद्वदर्णववृक्षपूःस्वर्णमण्डपानि, आहोम्बित् मानसप्रत्ययमात्राणीति । किंचातः ? यदि पार्थिवा आप्याश्च स्थूलाः स्युः, हृद्याकाशे ममाधानानुपपत्तिः । पुराणे च मनोमयानि ब्रह्मलोके शरीरादीनीति वाक्यं विरुध्येत ; 'अशोकमहिमम्' इत्याद्याश्च श्रुतयः । ननु समुद्राः सरितः सरांसि वाप्यः कूपा यज्ञा वेदा मन्त्रादयश्च मूर्तिमन्तः ब्रह्माणमुपतिष्ठन्ते इति मानसत्वे विरुध्येत पुराणस्मृतिः । न, मूर्तिमत्त्वे प्रसि-

द्वरूपाणामेव तत्र गमनानुपपत्तेः । तस्मात्प्रसिद्धमूर्तिव्यतिरेकेण सागरादीनां मूर्त्यन्तरं सागरादिभिरुपात्तं ब्रह्मलोकगन्तुं कल्पनीयम् । तुल्यायां च कल्पनायां यथाप्रसिद्धा एव मानस्यः आकारवत्यः पुंस्त्याद्या मूर्तयो युक्ताः कल्पयितुम्, मानसदेहानुरूप्यसंबन्धोपपत्तेः । दृष्टा हि मानस्य एव आकारवत्यः पुंस्त्याद्या मूर्तयः स्वप्ने । ननु ता अनृता एव ; 'त इमे सत्याः कामाः' इति श्रुतिः तथा सति विरुध्येत । न, मानसप्रत्ययस्य सत्त्वोपपत्तेः । मानसा हि प्रत्ययाः स्त्रीपुरुषाद्याकाराः स्वप्ने दृश्यन्ते । ननु जाग्रद्वासनारूपाः स्वप्नदृश्याः, न तु तत्र स्त्यादयः स्वप्ने विद्यन्ते । अत्यल्पमिदमुच्यते । जाग्रद्विषया अपि मानसप्रत्ययाभिनिर्वृत्ता एव, सदीक्षाभिनिर्वृत्ततेजोबन्धमयत्वाज्जाग्रद्विषयाणाम् । संकल्पमूला हि लोका इति च उक्तम् 'सम-कल्पतां द्यावापृथिवी' इत्यत्र । सर्वश्रुतिषु च प्रत्यगात्मन उत्पत्तिः प्रलयश्च तत्रैव स्थितिश्च 'यथा वा अरा नाभौ' इत्यादिना उच्यते । तस्मान्मानसानां बाह्यानां च विषयाणाम् इतरेतरकार्यकारणत्वमिष्यत एव बीजाङ्कुरवत् । यद्यपि बाह्या एव मानसाः मानसा एव च बाह्याः, नानृतत्वं तेषां कदाचिदपि स्वात्मनि भवति । ननु स्वप्ने दृष्टाः प्रतिबुद्धस्या-

नृता भवन्ति विषयाः । सत्यमेव । जाग्रद्विषयानृतत्वं न स्वतः । तथा स्वप्नविषयानृतत्वं न स्वतः । विशेषाकारमात्रं तु सर्वेषां मिथ्याप्रत्ययनिमित्तमिति वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम्, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् । तान्यप्याकारविशेषतोऽनृतं स्वतः सन्मात्ररूपतया सत्यम् । प्राक्सदात्मप्रतिबोधात्स्वविषयेऽपि सर्वं सत्यमेव स्वप्नदृश्या इवेति न कश्चिद्विरोधः । तस्मान्मानसा एव ब्राह्मलौकिका अरण्यादयः संकल्पजाश्च पित्रादयः कामाः । बाह्यविषयभोगवदशुद्धिरहितत्वाच्छुद्धसत्त्वसंकल्पजन्या इति निरतिशयसुखाः सत्याश्च ईश्वराणां भवन्तीत्यर्थः । मत्सत्यात्मप्रतिबोधेऽपि रज्ज्वाभिव कल्पिताः सर्पादयः सदात्मस्वरूपतामेव प्रतिपद्यन्त इति सदात्मना सत्या एव भवन्ति ॥

इति पञ्चमखण्डभाष्यम् ॥

षष्ठः खण्डः ॥

यस्तु हृदयपुण्डरीकगतं यथोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म ब्रह्मचर्या-
दिसाधनसंपन्नः त्यक्त्वा ह्यविषयानृततृष्णः सन् उपास्ते, तस्येयं
मूर्धन्यया नाड्या गतिर्वक्तव्येति नाडीखण्ड आरभ्यते—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पि-
ङ्गलस्याणिम्लस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य
पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पि-
ङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष
लोहितः ॥ १ ॥

अथ या एताः वक्ष्यमाणाः हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य
ब्रह्मोपासनस्थानस्य संबन्धिन्यः नाड्यः हृदयमांसपिण्डात्स-
र्वतो विनिःसृताः आदित्यमण्डलादिव रश्मयः, ताश्चैताः
पिङ्गलस्य वर्णविशेषविशिष्टस्य अणिम्लः सूक्ष्मरसस्य रसेन
पूर्णाः तदाकारा एव तिष्ठन्ति वर्तन्त इत्यर्थः । तथा शुक्लस्य
नीलस्य पीतस्य लोहितस्य च रसस्य पूर्णा इति सर्वत्र
अध्याहार्यम् । सौरेण तेजसा पित्ताख्येन पाकाभिनिर्वृत्तेन
कफेन अल्पेन संपर्कात् पिङ्गलं भवति सौरं तेजः पित्ताख्य-

म् । तदेव च वातभूयस्त्वात् नीलं भवति । तदेव च कफ-
भूयस्त्वात् शुक्लम् । कफेन समतायां पीतम् । शोणितबाहु-
ल्येन लोहितम् । वैद्यकाद्वा वर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः कथं
भवन्तीति । श्रुतिस्त्वाह—आदित्यसंबन्धादेव तत्तेजसो ना-
डीष्वनुगतस्यैते वर्णविशेषा इति । कथम्? असौ वा आ-
दित्यः पिङ्गलो वर्णतः, एष आदित्यः शुक्लोऽप्येष नील एष
पीत एष लोहित आदित्य एव ॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ
गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य
रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं
चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु ना-
डीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते
तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

तस्याध्यात्मं नाडीभिः कथं संबन्ध इति, अत्र दृष्टा-
न्तमाह— तत् तत्र यथा लोके महान् विस्तीर्णः पन्था
महापथः आततः व्याप्तः उभौ ग्रामौ गच्छति इमं च संनि-
हितम् अमुं च विप्रकृष्टं दूरस्थम्, एवं यथा दृष्टान्तः महा-
पथः उभौ ग्रामौ प्रविष्टः, एवमेवैताः आदित्यस्य रश्मयः

उभौ लोकौ अमुं च आदित्यमण्डलम् इमं च पुरुषं गच्छ-
न्ति उभयत्र प्रविष्टाः । यथा महापथः । कथम् ? अमुष्मा-
दादित्यमण्डलात् प्रतायन्ते संतता भवन्ति । ता अध्यात्म-
मासु पिङ्गलादिवर्णासु यथोक्तासु नाडीषु सृप्ताः गताः
प्रविष्टा इत्यर्थः । आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते प्रवृत्ताः संता-
नभूताः सत्यः ते अमुष्मिन् । रश्मीनामुभयलिङ्गत्वात् ते
इत्युच्यन्ते ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं
न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भ-
वति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा
हि तदा संपन्नो भवति ॥ ३ ॥

तत् तत्र एवं सति यत्र यस्मिन्काले एतत् स्वपनम् अयं
जीवः सुप्तो भवति । स्वापस्य द्विप्रकारत्वाद्विशेषणं समस्त
इति । उपसंहृतसर्वकरणवृत्तिरित्येतत् । अतः बाह्यविषयसंपर्क-
जनितकालुष्याभावात् सम्यक् प्रसन्नः संप्रसन्नो भवति । अत
एव स्वप्नं विषयाकाराभासं मानसं स्वप्नप्रत्ययं न विजानाति
नानुभवतीत्यर्थः । यदैवं सुप्तो भवति, आसु सौरतेजःपूर्णासु
यथोक्तासु नाडीषु तदा सृप्तः प्रविष्टः, नाडीभिर्द्वारभूताभिः
हृदयाकाशं गतो भवतीत्यर्थः । न हि अन्यत्र सत्संपत्तेः

स्वप्नादर्शनमस्तीति सामर्थ्यात् नाडीष्विति सप्तमी तृतीयया परिणम्यते । तं सता संपन्नं न कश्चन न कश्चिदपि धर्माधर्मरूपः पाप्मा स्पृशतीति, स्वरूपावस्थितत्वात् तदा आत्मनः । देहेन्द्रियविशिष्टं हि सुखदुःखकार्यप्रदानेन पाप्मा स्पृशतीति, न तु सत्संपन्नं स्वरूपावस्थं कश्चिदपि पाप्मा स्पृष्टुमुत्सहते, अविषयत्वात् । अन्यो हि अन्यस्य विषयो भवति, न त्वन्यत्वं केनचित्कुतश्चिदपि सत्संपन्नस्य । स्वरूपप्रच्यवनं तु आत्मनो जाग्रत्स्वप्नावस्थां प्रति गमनं बाह्यविषयप्रतिबोधः अविद्याकामकर्मबीजस्य ब्रह्मविद्याहुताशादाहनिमित्तमित्यवोचाम षष्ठे एव ; तदिहापि प्रत्येतव्यम् । यदैवं सुप्तः, सौरेण तेजसा हि नाड्यन्तर्गतेन सर्वतः संपन्नः व्याप्तः भवति । अतः विशेषेण चक्षुरादिनाडीद्वारैर्बाह्यविषयभोगाय अप्रसृतानि करणानि अस्य तदा भवन्ति । तस्मादयं करणानां निरोधात् स्वात्मन्येवावस्थितः स्वप्नं न विजानातीति युक्तम् ॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति
तमभित आसीना आहुर्जानासि मां
जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरा-
दनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

तत्र एवं सति, अथ यत्र यस्मिन्काले अबलिमानम्

अवलभावं देहस्य रोगादिनिमित्तं जरादिनिमित्तं वा कृशी-
भावम् एतत् नयनं नीतः प्रापितः देवदत्तो भवति मुमूर्षुर्यदा
भवतीत्यर्थः । तमभितः सर्वतो वेष्टयित्वा आसीना ज्ञातयः
आहुः— जानासि मां तव पुत्रं जानासि मां पितरं च
इत्यादि । स मुमूर्षुः यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तः अनिर्गतः
भवति तावत्पुत्रादीजानाति ॥

अथ यत्तैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथै-
तैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति
वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्ता-
वदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं
विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

अथ यत्र यदा, एतत्क्रियाविशेषणमिति, अस्माच्छरीरादु-
त्क्रामति, अथ तदा एतैरेव यथोक्ताभिः रश्मिभिः ऊर्ध्व-
माक्रमते यथाकर्मजितं लोकं प्रैति अविद्वान् । इतरस्तु
विद्वान् यथोक्तसाधनसंपन्नः स ओमिति ओंकारेण आत्मानं
ध्यायन् यथापूर्वं वा ह एव, उद्वा ऊर्ध्वं वा विद्वान्श्चेत् इतर-
स्तिर्यङ्म्यभिप्रायः । मीयते प्रमीयते गच्छतीत्यर्थः । स वि-
द्वान् उत्क्रमिष्यन् यावत्क्षिप्येन्मनः यावता कालेन मनसः
क्षेपः स्यात्, तावता कालेन आदित्यं गच्छति प्राप्नोति क्षिप्रं

गच्छतीत्यर्थः, न तु तावतैव कालेनेति विवक्षितम् । किमर्थमादित्यं गच्छतीति, उच्यते— एतद्वै खलु प्रसिद्धं ब्रह्मलोकस्य द्वारं य आदित्यः ; तेन द्वारभूतेन ब्रह्मलोकं गच्छति विद्वान् । अतः विदुषां प्रपदनम्, प्रपद्यते ब्रह्मलोकमनेन द्वारेणेति प्रपदनम् । निरोधनं निरोधः अस्मादादित्यादविदुषां भवतीति निरोधः, सौरेण तेजसा देहे एव निरुद्धाः सन्तः मूर्धन्यया नाड्या नोत्क्रमन्त एवेत्यर्थः, 'विष्वङ्ङन्या' इति श्लोकात् ॥

तदेष श्लोकः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

तत् तस्मिन् यथोक्तेऽर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति—शतं च एका एकोत्तरशतं नाड्यः हृदयस्य मांसपिण्डभूतस्य संबन्धिन्यः प्रधानतो भवन्ति, आनन्त्याद्देहनाडीनाम् । तासामेका मूर्धानमभिनिःसृता विनिर्गता । तयोर्ध्वमायन्नं गच्छन् अमृतत्वम् अमृतभावमेति । विष्वक् नानागतयः तिर्यग्विसर्पिण्य ऊर्ध्वगाश्च अन्या नाड्यः भवन्ति संसारगमनद्वारभूताः ; न त्वमृतत्वाय ; किं तर्हि, उत्क्रमणे एव उत्क्रान्त्यर्थमेव भवन्तीत्यर्थः । द्विरभ्यासः प्रकरणसमाप्त्यर्थः ॥

इति षष्ठ्यखण्डभाष्यम् ॥

सप्तमः खण्डः ॥

‘अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति हो-
वाचैतदमृतभयमेतद्ब्रह्म’ इत्युक्तम् । तत्र कोऽसौ संप्रसादः ?
कथं वा तस्याधिगमः, यथा सोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं
ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ? येन स्वरूपेणाभि-
निष्पद्यते सं किंलक्षण आत्मा ? संप्रसादश्च च देहसंबन्धीनि
पररूपाणि, ततो यदन्यत्कथं स्वरूपम् ? इति एतेऽर्था वक्तव्या
इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । आख्यायिका तु विद्याग्रहणसं-
प्रदानविधिप्रदर्शनार्था विद्यास्तुत्यर्था च— राजसेवितं पा-
नीयमिति वत् ।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृ-
त्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्य-
कामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स वि-
जिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकाना-
प्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनु-
विद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि-
घत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः, यस्योपासनाय

उपलब्ध्यर्थं हृदयपुण्डरीकमभिहितम्, यस्मिन्कामाः समा-
हिताः सत्याः अनृतापिधानाः, यदुपासनसहभावि ब्रह्मचर्यं
साधनमुक्तम्, उपासनफलभूतकामप्रतिपत्तये च मूर्धन्यया
नाड्या गतिरभिहिता, सोऽन्वेष्टव्यः शास्त्राचार्योपदेशैर्ज्ञा-
तव्यः स विशेषेण ज्ञातुमेष्टव्यः विजिज्ञासितव्यः स्वसंवेद्यता-
मापादयितव्यः । किं तस्यान्वेषणाद्विजिज्ञासनाच्च स्यादिति,
उच्यते— स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्; यः
तमात्मानं यथोक्तेन प्रकारेण शास्त्राचार्योपदेशेन अन्विष्य
विजानाति स्वसंवेद्यतामापादयति, तस्य एतत्सर्वलोककामा-
वाप्तिः सर्वात्मता फलं भवतीति ह किल प्रजापतिरुवाच ।
अन्वेष्टव्यः विजिज्ञासितव्य इति च एष नियमविधिरेव, न
अपूर्वविधिः । एवमन्वेष्टव्यो विजिज्ञासितव्य इत्यर्थः, दृष्टा-
र्थत्वादन्वेषणविजिज्ञासनयोः । दृष्टार्थत्वं च दर्शयिष्यति
'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' इत्यनेन असकृत् । पररूपेण च
देहादिधर्मैरवगम्यमानस्य आत्मनः स्वरूपाधिगमे विपरी-
ताधिगमनिवृत्तिर्दृष्टं फलमिति नियमार्थतैव अस्य विधेर्युक्ता,
न त्वग्निहोत्रादीनामिव अपूर्वविधित्वमिह संभवति ॥

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते
होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमा-

त्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति
 सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानाम-
 भिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासं-
 विदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसका-
 शमाजग्मतुः ॥ २ ॥

तद्धोभये इत्याद्याख्यायिकाप्रयोजनमुक्तम् । तद्ध किल
 प्रजापतेर्वचनम् उभये देवासुराः देवाश्चासुराश्च देवासुराः
 अनु परम्परागतं स्वकर्णगोचरापन्नम् अनुबुबुधिरे अनुबुद्धव-
 न्तः । ते च एतत्प्रजापतिवचो बुद्ध्वा किमकुर्वन्निति, उच्यते—
 ते ह ऊचुः उक्तवन्तः अन्योन्यं देवाः स्वपरिषदि असुरा-
 श्च—हन्त यदि अनुमतिर्भवताम्, प्रजापतिनोक्तं तमात्मा-
 नमन्विच्छामः अन्वेषणं कुर्मः, यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च
 लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्— इत्युक्त्वा इन्द्रः हैव राजैव
 स्वयं देवानाम् इतरान्देवांश्च भोगपरिच्छदं च सर्वं स्थापयित्वा
 शरीरमात्रेणैव प्रजापतिं प्रति अभिप्रवव्राज प्रगतवान्, तथा
 विरोचनः असुराणाम् । विनयेन गुरवः अभिगन्तव्या
 इत्येतद्दर्शयति, त्रैलोक्यराज्याच्च गुरुतरा विद्येति, यतः देवा-
 सुरराजौ महार्हभोगाहौ सन्तौ तथा गुरुमभ्युपगतवन्तौ ।
 तौ ह किल असंविदानावेव अन्योन्यं संविदमकुर्वाणौ विद्या-

फलं प्रति अन्योन्यमोर्ष्यां दर्शयन्तौ समित्पाणी समिद्भार-
हस्तौ प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः आगतवन्तौ ॥

तौ ह द्वात्रिंशत् वर्षाणि ब्रह्मचर्य-
मूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छ-
न्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माप-
हतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको वि-
जिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंक-
ल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः
स सर्वांश्च लोकानामोति सर्वांश्च का-
मान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति
भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताव-
वास्तमिति ॥

तौ ह गत्वा द्वात्रिंशत् वर्षाणि शुश्रूषापरौ भूत्वा ब्रह्म-
चर्यम् ऊषतुः उषितवन्तौ । अभिप्रायज्ञः प्रजापतिः तावु-
वाच—किमिच्छन्तौ किं प्रयोजनमभिप्रेत्य इच्छन्तौ अवास्तम्
उषितवन्तौ युवामिति । इत्युक्तौ तौ ह ऊचतुः—य आत्मे-
त्यादि भगवतो वचो वेदयन्ते शिष्टाः, अतः तमात्मानं ज्ञातु-
मिच्छन्तौ अवास्तमिति । यद्यपि प्राक्प्रजापतेः समीपागम-

नात् अन्योन्यमीर्ष्यायुक्तावभूताम् , तथापि विद्याप्राप्तिप्रयोजनगौरवात् त्यक्तरागद्वेषमोहेर्ष्यादिदोषावेव भूत्वा ऊषतुः ब्रह्मचर्यं प्रजापतौ । तेनेदं प्रख्यापितमात्मविद्यागौरवम् ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि
पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतद-
मृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु
परिख्यायते यश्चायमादर्शं कतम एष
इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत
इति होवाच ॥ ४ ॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

तौ एवं तपस्विनौ शुद्धकल्मषौ योग्यौ उपलक्ष्य प्रजापतिरुवाच ह— य एषोऽक्षिणि पुरुषः निवृत्तचक्षुर्भिर्मृदितकषायैः दृश्यते योगिभिर्द्रष्टा, एष आत्मापहतपाप्मादिगुणः, यमवोचं पुरा अहं यद्विज्ञानात्सर्वलोककामावाप्तिः एतदमृतं भूमाख्यम् अत एवाभयम् , अत एव ब्रह्म वृद्धतममिति । अथैतत्प्रजापतिनोक्तम् अक्षिणि पुरुषो दृश्यते इति वचः श्रुत्वा छायारूपं पुरुषं जगृहतुः । गृहीत्वा च दृढीकरणाय प्रजापतिं पृष्ट्वन्तौ— अथ योऽयं हे भगवः अप्सु परिख्यायते परि

समन्तात् ज्ञायते, यश्चायमादर्श आत्मनः प्रतिबिम्बाकारः
परिख्यायते खङ्गादौ च, कतम एष एषां भगवद्विरुक्तः, किं
वा एक एव सर्वेष्विविति । एवं पृष्टः प्रजापतिरुवाच— एष
उ एव यश्चक्षुषि द्रष्टा मयोक्त इति । एतन्मनसि कृत्वा एषु
सर्वेष्वन्तेषु मध्येषु परिख्यायत इति ह उवाच ॥

ननु कथं युक्तं शिष्ययोर्विपरीतग्रहणमनुज्ञातुं प्रजापतेः
विगतदोषस्य आचार्यस्य सतः ? सत्यमेवम्, नानुज्ञातम् ।
कथम् ? आत्मन्यध्यारोपितपाण्डित्यमहत्त्वबोद्धृत्वौ हि इन्द्र-
विरोचनौ, तथैव च प्रथितौ लोके ; तौ यदि प्रजापतिना
'मूढौ युवां विपरीतग्राहिणौ' इत्युक्तौ स्याताम् ; ततः तयोश्चि-
त्ते दुःखं स्यात् ; तज्जनिताश्च चित्तावसादात् पुनःप्रश्नश्रवण-
ग्रहणावधारणं प्रति उत्साहविघातः स्यात् ; अतो रक्षणीयौ
शिष्याविति मन्यते प्रजापतिः । गृहीतां तावत्, तदुदशराव-
दृष्टान्तेन अपनेष्यामीति च । ननु न युक्तम् एष उ एव इत्यनृतं
वक्तुम् । न च अनृतमुक्तम् । कथम् ? आत्मनोक्तः अक्षि-
पुरुषः मनसि संनिहिततरः शिष्यगृहीताच्छायात्मनः ;
सर्वेषां चाभ्यन्तरः 'सर्वान्तरः' इति श्रुतेः ; तमेवावोचत्
एष उ एव इति ; अतो नानृतमुक्तं प्रजापतिना ॥

इति सप्तमखण्डभाष्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥

तथा च तयोर्विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थं हि आह—

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो
न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होद-
शरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच
किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमा-
वां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य
आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

उदशरावे उदकपूर्णे शरावादौ आत्मानमवेक्ष्य अनन्तरं
यत् तत्र आत्मानं पश्यन्तौ न विजानीथः तन्मे मम प्र-
ब्रूतम् आचक्षीयाथाम्— इत्युक्तौ तौ ह तथैव उदशरावे अवे-
क्षांचक्राते अवेक्षणं चक्रतुः । तथा कृतवन्तौ तौ ह प्रजापति-
रुवाच— किं पश्यथः इति । ननु तन्मे प्रब्रूतम् इत्युक्ता-
भ्याम् उदशरावे अवेक्षणं कृत्वा प्रजापतये न निवेदितम्—
इदमावाभ्यां न विदितमिति, अनिवेदिते च अज्ञानहेतौ

ह प्रजापतिरुवाच—किं पश्यथ इति, तत्र कोऽभिप्राय इति; उच्यते—नैव तयोः इदमावयोरविदितमित्याशङ्का अभूत्, छायात्मन्यात्मप्रत्ययो निश्चित एव आसीत् । येन वक्ष्यति 'तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः' इति । न हि अनिश्चिते अभिप्रेतार्थे प्रशान्तहृदयत्वमुपपद्यते । तेन नोचतुः इदमावाभ्यामविदितमिति । विपरीतग्राहिणौ च शिष्यौ अनुपेक्षणीयौ इति स्वयमेव पप्रच्छ—किं पश्यथः इति; विपरीतनिश्चयापनयाय च वक्ष्यति 'साध्वलंकृतौ' इत्येवमादि । तौ ह ऊचतुः—सर्वमेवेदम् आवां भगवः आत्मानं पश्यावः आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति, यथैव आवां हे भगवः लोमनखादिमन्तौ स्वः, एवमेवेदं लोमनखादिसहितमावयोः प्रतिरूपमुदशरावे पश्याव इति ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ
सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षे-
थामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ
परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते
तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥

तौ ह पुनः प्रजापतिरुवाच च्छायात्मनिश्चयापनयाय—

साध्वलंकृतौ यथा स्वगृहे सुवसनौ महार्हवस्त्रपरिधानौ परि-
 ष्कृतौ च्छिन्नलोमनखौ च भूत्वा उदशरावे पुनरीक्षेथामिति ।
 इह च न आदिदेश—यदज्ञातं तन्मे प्रब्रूतम् इति । कथं पुनर-
 नेन साध्वलंकारादि कृत्वा उदशरावे अवेश्रणेन तयोश्छा-
 यात्मग्रहोऽपनीतः स्यात् ? साध्वलंकारसुवसनादीनामागन्तु-
 कानां छायाकरत्वमुदशरावे यथा शरीरसंबद्धानाम्, एवं श-
 रीरस्यापि च्छायाकरत्वं पूर्वं बभूवेति गम्यते ; शरीरैकदेशा-
 नां च लोमनखादीनां नित्यत्वेन अभिप्रेतानामखण्डितानां
 छायाकरत्वं पूर्वमासीत् ; छिन्नेषु च नैव लोमनखादिच्छाया
 दृश्यते ; अतः लोमनखादिवच्छरीरस्याप्यागमापायित्वं सि-
 द्धमिति उदशरावादौ दृश्यमानस्य तन्निमित्तस्य च देहस्य
 अनात्मत्वं सिद्धम् ; उदशरावादौ छायाकरत्वात्, देहसं-
 बद्दालंकारादिवत् । न केवलमेतावत्, एतेन यावत्किंचि-
 दात्मीयत्वाभिमतं सुखदुःखरागद्वेषमोहादि च कादाचि-
 त्कत्वात् नखलोमादिवदनात्मेति प्रत्येतव्यम् । एवमशेषमि-
 थ्याग्रहापनयनिमित्ते साध्वलंकारादिदृष्टान्ते प्रजापतिनोक्ते,
 श्रुत्वा तथा कृतवतोरपि च्छायात्मविपरीतग्रहो नापजगाम
 यस्मात्, तस्मात् स्वदोषेणैव केनचित्प्रतिबद्धविवेकविज्ञानौ
 इन्द्रविरोचनौ अभूतामिति गम्यते । तौ पूर्ववदेव दृढ-

निश्चयौ पप्रच्छ—किं पश्यथः इति ॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्व-
लंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवे-
मौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परि-
ष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतम-
भयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रव-
व्रजतुः ॥ ३ ॥

तौ तथैव प्रतिपन्नौ, यथैवेदमिति पूर्ववत्, यथा साध्वलं-
कारादिविशिष्टौ आवां स्वः, एवमेवेमौ छायात्मानौ— इति
सुतरां विपरीतनिश्चयौ बभूवतुः । यस्य आत्मनो लक्षणम्
'य आत्मापहतपाप्मा' इत्युक्त्वा पुनस्तद्विशेषमन्विष्यमाणयोः
'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति साक्षादात्मनि निर्दिष्टे,
तद्विपरीतग्रहापनयाय उदशरावमाध्वलंकारदृष्टान्तेऽप्यभिहि-
ते, आत्मस्वरूपबोधाद्विपरीतग्रहो नापगतः । अतः स्वदोषेण
केनचित्प्रतिबद्धविवेकविज्ञानसामर्थ्याविति मत्वा यथाभि-
प्रेतमेव आत्मानं मनसि निधाय एष आत्मेति ह उवाच
एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति प्रजापतिः पूर्ववत् । न तु तदभिप्रे-
तमात्मानम् । 'य आत्मा' इत्याद्यात्मलक्षणश्रवणेन अक्षिपुरुष-

श्रुत्या च उदशरावाद्युपपत्त्या च संस्कृतौ तावत् । मद्रचनं सर्वं पुनः पुनः स्मरतोः प्रतिबन्धक्षयाच्च स्वयमेव आत्मविषये विवेको भविष्यतीति मन्वानः पुनर्ब्रह्मचर्यादेशे च तयोश्चित्तदुःखोत्पत्तिं परिजिहीर्षन् कृतार्थबुद्धितया गच्छन्तावप्युपेक्षितवान्प्रजापतिः । तौ ह इन्द्रविरोचनौ शान्तहृदयौ तुष्टहृदयौ कृतार्थबुद्धी इत्यर्थः ; न तु शम एव ; शमश्चेत् तयोर्जातः विपरीतग्रहो विगतोऽभविष्यत् ; प्रवव्रजतुः गतवन्तौ ॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य ब्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥

एवं तयोः गतयोः इन्द्रविरोचनयोः राज्ञोः भोगासक्तयोः यथोक्तविस्मरणं स्यात् इत्याशङ्क्य अपत्यक्षं प्रत्यक्षवचनेन च चित्तदुःखं परिजिहीर्षुः तौ दूरं गच्छन्तौ अन्वीक्ष्य य

आत्मापहतपाप्मा इत्यादिवचनवत् एतदप्यनयोः श्रवणगोचरत्वमेष्यतीति मत्वा उवाच प्रजापतिः— अनुपलभ्य यथोक्तलक्षणमात्मानम् अननुविद्य स्वात्मप्रत्यक्षं च अकृत्वा विपरीतनिश्चयौ च भूत्वा इन्द्रविरोचनावेतौ व्रजतः गच्छेयताम् । अतः यतरे देवा वा असुरा वा किं विशेषितेन, एतदुपनिषदः आभ्यां या गृहीता आत्मविद्या सेयमुपनिषत् येषां देवानामसुराणां वा, त एतदुपनिषदः एवंविज्ञानाः एतन्निश्चयाः भविष्यन्तीत्यर्थः । ते किम् ? पराभविष्यन्ति श्रेयोमार्गात्पराभूता बहिर्भूता विनष्टा भविष्यन्तीत्यर्थः । स्वगृहं गच्छतोः सुरासुरराजयोः योऽसुरराजः, स ह शान्तहृदय एव सन् विरोचनः असुराज्जगाम । गत्वा च तेभ्योऽसुरेभ्यः शरीरात्मबुद्धिः योपनिषत् तामेतामुपनिषदं प्रोवाच उक्तवान्— देहमात्रमेव आत्मा पित्रोक्त इति । तस्मादात्मैव देहः इह लोके मह्य्यः पूजनीयः, तथा परिचर्यः परिचरणीयः, तथा आत्मानमेव इह लोके देहं मह्यन् परिचरंश्च उभौ लोकौ अवाप्नोति इमं च अमुं च । इहलोकपरलोकयोरेव सर्वे लोकाः कामाश्च अन्तर्भवन्तीति राज्ञोऽभिप्रायः ॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्धानमयज-

मानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोप-
निषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालं-
कारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं
जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

इति अष्टमः खण्डः ॥

तस्मात् तत्संप्रदायः अद्याप्यनुवर्तत इति इह लोके
अददानं दानमकुर्वाणम् अविभागशीलम् अश्रद्धानं सत्का-
र्येषु श्रद्धारहितं यथाशक्त्ययजमानम् अयजनस्वभावम् आहुः
आसुरः खल्वयं यत एवंस्वभावः बत इति खिद्यमाना आहुः
शिष्टाः । असुराणां हि यस्मात् अश्रद्धानतादिलक्षणैषोप-
निषत् । तयोपनिषदा संस्कृताः सन्तः प्रेतस्य शरीरं कुणपं
भिक्षया गन्धमाल्यान्नादिलक्षणया वसनेन वस्त्रादिनाच्छाद-
नादिप्रकारेणालंकारेण ध्वजपताकादिकरणेनेत्येवं संस्कुर्वन्ति ।
एतेन कुणपसंस्कारेण अमुं प्रेत्य प्रतिपत्तव्यं लोकं जेष्यन्तो
मन्यन्ते ॥

इति अष्टमखण्डभाष्यम् ॥

नवमः खण्डः ॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श
यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते
साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः
परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धे-
ऽन्धो भवति स्वामे स्वामः परिवृक्णे प-
रिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष न-
श्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

अथ ह किल इन्द्रः अप्राप्यैव देवान् दैव्या अक्रौर्यादि-
संपदा युक्तत्वात् गुरोर्वचनं पुनः पुनः स्मरन्नेव गच्छन् एत-
द्ब्रक्ष्यमाणं भयं स्वात्मग्रहणनिमित्तं ददर्श दृष्टवान् । उदश-
रावदृष्टान्तेन प्रजापतिना यदर्थो न्याय उक्तः, तदेकदेशो
मघवतः प्रत्यभात् बुद्धौ, येन च्छायत्मग्रहणे दोषं ददर्श ।
कथम् ? यथैव खलु अयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते छायात्मापि
साध्वलंकृतो भवति, सुवसने च सुवसनः, परिष्कृते परि-
ष्कृतः यथा नखलोमादिदेहावयवापगमे छायात्मापि परि-
ष्कृतो भवति नखलोमादिरहितो भवति, एवमेवायं छाया-

त्मापि अस्मिञ्छरीरे नखलोमादिभिर्देहावयवत्वस्य तुल्य-
त्वात् अन्धे चक्षुषोऽपगमे अन्धो भवति, स्नामे स्नामः ।
स्नामः किल एकनेत्रः तस्यान्धत्वेन गतत्वात् । चक्षुर्नासिका
वा यस्य सदा स्रवति स स्नामः । परिवृक्णः छिन्नहस्तः
छिन्नपादो वा । स्नामे परिवृक्णे वा देहे छायात्मापि तथा
भवति । तथा अस्य देहस्य नाशमनु एष नश्यति । अतः
नाहमत्र अस्मिन् छायात्मदर्शने देहात्मदर्शने वा भोग्यं फलं
पश्यामीति ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय त५ ह
प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः
प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन्पुन-
रागम इति स होवाच यथैव खल्वयं
भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलं-
कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते
परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भव-
ति स्नामे स्नामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यै-
व शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र
भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

इदं दोषं देहच्छायात्मदर्शने अध्यक्स्व स समित्प्रणिः
 ब्रह्मचर्यं वस्तु पुनरेयाय । तं ह प्रजापतिरुवाच— मघवन्
 यत् ज्ञान्तद्दयः प्राजाजीः प्रजातवानसि विरोचनेन सार्धं
 किमिच्छन्पुनरागम इति । विज्ञानन्नपि पुनः पप्रच्छ इन्द्रा-
 भिप्रायाभिव्यक्तये— ‘यद्वेत्थ तेन मोपसीद’ इति यद्वत् ।
 तथा च स्वाभिप्रायं प्रकटमकरोत्— यथैव खल्वयमित्यादि ;
 एवमेवेति च अन्वमोदत् प्रजापतिः ॥

ननु तुल्येऽक्षिपुरुषश्रवणे, देहच्छायाम् इन्द्रोऽग्रहीदा-
 त्मेति देहमेव तु विरोचनः, तर्त्किमिति ? तत्र मन्यते ।
 यथा इन्द्रस्य उदारात्वादिप्रजापतिवचनं स्मरतो देवान-
 प्राप्तस्यैव आचार्योक्तबुद्ध्या छासत्प्रहणं तत्र दोषदर्शनं
 च अभूत्, न तथा विरोचनस्य ; किं तर्हि, देहे एव आ-
 त्मदर्शनम् ; नापि तत्र दोषदर्शनं बभूव । तद्वदेव विद्याप्र-
 हणसामर्थ्यप्रतिबन्धदोषाल्पत्वबहुत्वापेक्षम् इन्द्रविरोचनयो-
 रद्वय्यात्मदेहयोर्महणम् । इन्द्रोऽल्पदोषत्वात् ‘दृश्यते’ इति
 श्रुत्यर्थमेव श्रद्धान्तया जगद् ; इतरः छायायानिमित्तं वेदं हित्वा
 श्रुत्यर्थं लक्षणया जगद्— प्रजापतिनोक्तोऽयमिति, दोषभू-
 यस्त्वात् । यथा किल नीलानीलयोरादर्शं दृश्यमानयोर्वा-
 ससोर्यनीलं तन्महार्हमिति च्छायानिमित्तं वास एवोच्यते

न च्छया—तद्वदिति विरोचनाभिप्रायः । स्वचित्तगुणदोष-
वशादेव हि शब्दार्थावधारणं तुल्येऽपि श्रवणे ख्यापितं
'दाम्यत दत्त दयध्वम्' इति दकारमात्रश्रवणाच्छ्रुत्यन्तरे ।
निमित्तान्यपि तदनुगुणान्येव सहकारीणि भवन्ति ॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव
ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि
द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वा-
त्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥

इति नवमः खण्डः ॥

एवमेवैष मघवन्, सम्यक्त्वया अवगतम्, न च्छया
आत्मा— इत्युवाच प्रजापतिः । यो मयोक्त आत्मा प्रकृतः,
एतमेवात्मानं तु ते भूयः पूर्वं व्याख्यातमपि अनुव्याख्या-
स्यामि । यस्मात्सकृद्व्याख्यातं दोषरहितानामवधारणविषयं
प्राप्तमपि नाग्रहीः, अतः केनचिद्दोषेण प्रतिबद्धग्रहणसामर्थ्य-
स्त्वम् । अतस्तत्क्षमणाय वस अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि—
इत्युक्त्वा तथोषितवते क्षपितदोषाय तस्मै ह उवाच ॥

इति नवमखण्डभाष्यम् ॥

दशमः खण्डः ॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आ-
त्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स
ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव
देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदं शरीरम-
न्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्याम-
मस्त्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

य आत्मापहतपाप्मादिलक्षणः 'य एषोऽक्षिणि' इत्या-
दिना व्याख्यात एष सः । कोऽसौ ? यः स्वप्ने महीयमानः
स्त्यादिभिः पूज्यमानश्चरति अनेकविधान्स्वप्नभोगाननुभवती-
त्यर्थः । एष आत्मेति ह उवाच इत्यादि समानम् । स ह
एवमुक्तः इन्द्रः शान्तहृदयः प्रवव्राज । स ह अप्राप्यैव
देवान् पूर्ववदस्मिन्नप्यात्मनि भयं ददर्श । कथम् ? तदिदं
शरीरं यद्यप्यन्धं भवति, स्वप्नात्मा यः अनन्धः स भवति ।
यदि स्याममिदं शरीरम्, अस्त्रामश्च स भवति । नैवैष स्वप्नात्मा
अस्य देहस्य दोषेण दुष्यति ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्याभ्येण
 स्यामो घ्नन्ति त्वेबैनं विच्छादयन्तीवाप्रि-
 यवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भो-
 ग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय त५ ह प्र-
 जापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्रा-
 ब्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स हो-
 वाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भव-
 त्यनन्धः स भवति यदि स्याममस्यामो
 नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्याभ्येण
 स्यामो घ्नन्ति त्वेबैनं विच्छादयन्तीवाप्रि-
 यवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र
 भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति हो-
 वाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि
 वसापराणि द्वात्रिंशत् वर्षाणीति स

हापराणि द्वात्रिंशत् वर्षाण्युवास तस्मै
होवाच ॥ ४ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

नापि अस्य वधेन स हन्यते छायात्मकत् । न च अस्य
स्नाम्येण स्नामः स्वप्नात्मा भवति । यदध्यायादौ आगममा-
त्रेणोपन्यस्तम्— ‘नास्य जरयैतज्जीर्यति’ इत्यादि, तदिह
न्यायेनोपपादयितुमुपन्यस्तम् । न तावदयं छायात्मवद्देहदो-
षयुक्तः, किं तु घ्नन्ति त्वेव एनम् । एव-शब्दः इवार्थे । घ्न-
न्तीवैनं केचनेति द्रष्टव्यम्, न तु घ्नन्त्येवेति, उत्तरेषु स-
र्वेष्विवशब्ददर्शनात् । नास्य वधेन हन्यत इति विशेषणात्
घ्नन्ति त्वेवेति चेत्, नैवम् । प्रजापतिं प्रमाणीकुर्वतः अनृत-
वादित्वापादनानुपपत्तेः । ‘एतदमृतम्’ इत्येतत्प्रजापतिवचनं
कथं मृषा कुर्यादिन्द्रः तं प्रमाणीकुर्वन् । ननु च्छायापुरुषे प्र-
जापतिनोक्ते ‘अस्य शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति’ इति दोष-
मभ्यदधात्, तथेहापि स्यात् । नैवम् । कस्मात् ? ‘य एषोऽ-
क्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इति न च्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति
मन्यते मघवान् । कथम् ? अथहतपाप्मादिलक्षणे पृष्टे यदि
च्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति मन्यते, तदा कथं प्रजापतिं प्र-
माणीकृत्य पुनः श्रवणाय समित्पाणिर्गच्छेत् ? जगाम च ।

तस्मात् न च्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति मन्यते । तथा च व्याख्यातम्—द्रष्टा अक्षिणि दृश्यत इति । तथा विच्छादयन्तीव विद्रावयन्तीव, तथा च पुत्रादिमरणनिमित्तमप्रियवेत्तेव भवति । अपि च स्वयमपि रोदितीव । ननु अप्रियं वेत्त्येव, कथं वेत्तेवेति, उच्यते—न, अमृताभयत्ववचनानुपपत्तेः, ‘ध्यायतीव’ इति च श्रुत्यन्तरात् । ननु प्रत्यक्षविरोध इति चेत्, न, शरीरात्मत्वप्रत्यक्षवद्भ्रान्तिसंभवात् । तिष्ठतु तावदप्रियवेत्तेव न वेति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामि । स्वप्नात्मज्ञानेऽपि इष्टं फलं नोपलभे इत्यभिप्रायः । एवमेवैषः तवाभिप्रायेणेति वाक्यशेषः, आत्मनोऽमृताभयगुणवत्त्वस्याभिप्रेतत्वात् । द्विरुक्तमपि न्यायतो मया यथावन्नावधारयति; तस्मात्पूर्ववत् अस्य अद्यापि प्रतिबन्धकारणमस्तीति मन्वानः तत्क्षपणाय वस अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यम् इत्यादिदेश प्रजापतिः । तथा उषितवते क्षपितकल्मषाय आह ॥

इति दशमखण्डभाष्यम् ॥

एकादशः खण्डः ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं
न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृत-
मभयमेतद्ब्रूयेति स ह शान्तहृदयः प्रव-
व्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श
नाह खल्वयमेव५ संप्रत्यात्मानं जाना-
त्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि
विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं
पश्यामीति ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय त५ ह
प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्रा-
व्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स हो-
वाच नाह खल्वयं भगव एव५ संप्रत्या-
त्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवे-

मानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति
नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

पूर्ववदेतं त्वेव त इत्याद्युक्त्वा तद्यत्रैतत्सुप्त इत्यादि व्याख्यातं वाक्यम् । अक्षिणि यो द्रष्टा स्वप्ने च महीयमानश्चरति स एषः सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, एष आत्मेति ह उवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स्वाभिप्रेतमेव । मघवान् तत्रापि दोषं ददर्श । कथम् ? नाह नैव सुषुप्तस्थोऽप्यात्मा स्वस्वयं संप्रति सम्यगिदानीं च आत्मानं जानाति नैवं जानाति । कथम् ? अयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि चेति । यथा जाग्रति स्वप्ने वा । अतो विनाशमेव विनाशमिवेति पूर्ववद्ब्रष्टव्यम् । अपीतः अपिगतो भवति, विनष्ट इव भवतीत्यभिप्रायः । ज्ञाने हि सति ज्ञातुः सद्भावोऽवगम्यते, न असति ज्ञाने । न च सुषुप्तस्य ज्ञानं दृश्यते; अतो विनष्ट इवेत्यभिप्रायः । न तु विनाशमेव आत्मनो मन्यते अमृताभयवचनस्य प्रामाण्यमिच्छन् ॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते
भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्तैत-
स्मादसापराणि यश्च वर्षाणीति स हाप-

राणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतं संपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मधवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

इति एकादशः खण्डः ॥

पूर्ववदेवमेवेत्युक्त्वा आह—यो मया उक्तः त्रिभिः पर्यायैः तमेवैतं नो एवान्यत्रैतस्मादात्मनः अन्यं कंचन, किं तर्हि, एतमेव व्याख्यास्यामि । स्वल्पस्तु दोषस्तवावशिष्टः, तत्क्षपणाय वस अपराणि अन्यानि पञ्च वर्षाणि— इत्युक्तः सः तथा चकार । तस्मै मृदितकषायादिदोषाय स्थानत्रयदोषसंबन्धरहितमात्मनः स्वरूपम् अपहतपाप्मत्वादिलक्षणं मधवते तस्मै ह उवाच । तान्येकशतं वर्षाणि संपेदुः संपन्नानि बभूवुः । यदाहुर्लोके शिष्टाः— एकशतं ह वै वर्षाणि मधवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास इति । तदेतद्वात्रिंशतमित्यादिना दर्शितमित्याख्यायिकातः अपसृत्य श्रुत्या उच्यते । एवं किल तदिन्द्रत्वादपि गुरुतरम् इन्द्रेणापि महता यत्नेन एकोत्तरवर्षशतकृतायासेन प्राप्तमात्मज्ञानम् । अतो नातः परं पुरुषार्थान्तरमस्तीत्यात्मज्ञानं स्तौति ॥

इति एकादशखण्डभाष्यम् ॥

द्वादशः खण्डः ॥

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

मघवन् मर्त्यं वै मरणधर्मादिं शरीरम् । यन्मन्यसेऽक्ष्याधारादिलक्षणः संप्रसादलक्षण आत्मा मयोक्तो विनाशमेवापीतो भवतीति, शृणु तत्र कारणम्— यदिदं शरीरं वै यत्पश्यसि तदेतत् मर्त्यं विनाशि । तच्च आत्तं मृत्युना ग्रस्तं सततमेव । कदाचिदेव म्रियत इति मर्त्यमित्युक्ते न तथा संत्रासो भवति, यथा ग्रस्तमेव सदा व्याप्तमेव मृत्युनेत्युक्ते—इति वैराग्यार्थं विशेष इत्युच्यते— आत्तं मृत्युनेति । कथं नाम देहाभिमानतो विरक्तः सन् निवर्तत इति । शरीरमित्यत्र सहेन्द्रियमनोभिरुच्यते । तच्छ-

रीरमस्य संप्रसादस्य त्रिस्थानतया गम्यमानस्य अमृतस्य मरणादिदेहेन्द्रियमनोधर्मवर्जितस्येत्येतत् ; अमृतस्येत्यनेनैव अशरीरत्वे सिद्धे पुनरशरीरस्येति वचनं वाय्वादिवत् साव-
यवत्वमूर्तिमत्त्वे मा भूतामिति ; आत्मनो भोगाधिष्ठानम् ; आत्मनो वा सत ईक्षितुः तेजोबन्नादिक्रमेण उत्पन्न-
मधिष्ठानम् ; जीवरूपेण प्रविश्य सदेवाधितिष्ठत्यस्मिन्निति वा अधिष्ठानम् । यस्येदमीदृशं नित्यमेव मृत्युप्रस्तं धर्मा-
धर्मजनितत्वात्प्रियाप्रियवदधिष्ठानम्, तदधिष्ठितः तद्वान् सशरीरो भवति । अशरीरस्वभावस्य आत्मनः तदेवाहं शरीरं शरीरमेव च अहम्—इत्यविवेकादात्मभावः सशरीर-
त्वम् ; अत एव सशरीरः सन् आत्तः प्रस्तः प्रियाप्रिया-
भ्याम् । प्रसिद्धमेतत् । तस्य च न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः बाह्यविषयसंयोगवियोगनिमित्तयोः बाह्यविष-
यसंयोगवियोगौ ममेति मन्यमानस्य अपहृतिः विनाशः उच्छेदः संततिरूपयोर्नास्तीति । तं पुनर्देहाभिमानादशरीरस्व-
रूपविज्ञानेन निवर्तिताविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः । स्पृशिः प्रत्येकं संबध्यत इति प्रियं न स्पृशति अप्रियं न स्पृशतीति वाक्यद्वयं भवति । ‘न म्लेच्छाशुच्य-
धार्मिकैः सह संभाषेत’ इति यद्वत् । धर्माधर्मकार्ये हि ते ;

अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मयोरसंभवात् तत्कार्यभाक्तेरदूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥

ननु यदि प्रियमप्यशरीरं न स्पृशतीति, यन्मघवतोक्तं सुषुप्तस्थो विनाशमेवापीतो भवतीति, तदेवेहाप्यापन्नम् । नैष दोषः, धर्माधर्मकार्ययोः शरीरसंबन्धिनोः प्रिया-प्रिययोः प्रतिषेधस्य विवक्षितत्वात्— अशरीरं न प्रिया-प्रिये स्पृशत इति । आगमापायिनोर्हि स्पर्शशब्दो दृष्टः— यथा शीतस्पर्श उष्णस्पर्श इति, न त्वग्नेरुष्णप्रकाशयोः स्वभावभूतयोरग्निना स्पर्श इति भवति ; तथा अग्नेः स-वितुर्वा उष्णप्रकाशवत् स्वरूपभूतस्य आनन्दस्य प्रियस्यापि नेह प्रतिषेधः, ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ ‘आनन्दो ब्रह्म’ इत्यादिश्रुतिभ्यः । इहापि भूमैव सुखमित्युक्तत्वात् । ननु भूम्नः प्रियस्य एकत्वे असंवेद्यत्वात् स्वरूपेणैव वा नित्यसंवेद्यत्वात् निर्विशेषतेति न इन्द्रस्य तदिष्टम्, ‘नाहं खल्वयं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि’ इत्युक्तत्वात् । तद्धि इन्द्रस्येष्टम्—यद्भूतानि च आत्मानं च जानाति, न च अप्रियं किञ्चिद्वेत्ति, स सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वाश्च कामान् येन ज्ञानेन । सत्यमेतदिष्टमिन्द्रस्य— इमानि भूतानि मत्तोऽन्यानि, लोकाः

कामाश्च सर्वे मत्तो अन्ये, अहमेषां स्वामीति । न त्वेतदिन्द्र-
 स्थ हितम् । हितं च इन्द्रस्य प्रजापतिना वक्तव्यम् । व्यो-
 मब्रह्मशरीरात्मतया सर्वभूतलोककामात्मत्वोपगमेन या प्रा-
 पिः, तद्धितमिन्द्राय वक्तव्यमिति प्रजापतिना अभिप्रेतम् ।
 न तु राज्ञो राज्यापिवदन्यत्वेन । तत्रैवं सति कं
 केन विजानीयादात्मैकत्वे इमानि भूतान्यग्रमहसस्मीति ।
 तन्वस्मिन्पक्षे 'स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' 'स यदि पितृलोक-
 काश्रमः' 'स एकधा भवति' इत्याद्यैश्वर्यश्रुतयोऽनुपपन्नाः;
 न, सर्वात्मनः सर्वफलसंबन्धोपपत्तेरविरोधात्— मृद इव
 सर्वघटकरककुण्डाद्यापिः । ननु सर्वात्मत्वे दुःखसंबन्धोऽपि
 स्यादिति चेत्, न, दुःखस्याप्यात्मत्वोपगमादविरोधः । आ-
 त्मन्यविद्याकल्पनानिमित्तानि दुःखानि— रज्ज्वाग्निव सर्पा-
 दिकल्पनानिमित्तानि । सा च अविद्या अशरीरात्मैकत्वस्वरू-
 पदर्शनेन दुःखनिमित्ता उच्छिन्नेति दुःखसंबन्धाशङ्का न सं-
 भवति । शुद्धसत्त्वसंकल्पनिमित्तानां तु कामानाम् ईश्वरदेह-
 संबन्धः सर्वभूतेषु मानसानाम् । पर एव सर्वसत्त्वोपाधि-
 द्वारेण भोक्तेति सर्वाविद्याकृतसंव्यवहाराणां पर एव आत्मा
 आस्पदं नान्योऽस्तीति वेदान्तसिद्धान्तः ॥

‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इति च्छायापुरुष एव

प्रजापतिना उक्तः, स्वप्नसुषुप्तयोश्च अन्य एव, न परो-
 ऽपहतपाप्मत्वादिलक्षणः, विरोधात् इति केचिन्मन्यन्ते । छा-
 याद्यात्मनां च उपदेशे प्रयोजनमाचक्षते । आदावेव उच्य-
 माने किल दुर्विज्ञेयत्वात्परस्य आत्मनः अत्यन्तबाह्यविषया-
 सक्तचेतसः अत्यन्तसूक्ष्मवस्तुश्रवणे व्यामोहो मा भूदिति ।
 यथा किल द्वितीयायां सूक्ष्मं चन्द्रं दिदर्शयिषुः वृक्षं कंचि-
 त्प्रत्यक्षमादौ दर्शयति— पश्य अमुमेष चन्द्र इति, ततोऽन्यं
 ततोऽप्यन्यं गिरिमूर्धानं च चन्द्रसमीपस्थम्— एष चन्द्र इति,
 ततोऽसौ चन्द्रं पश्यति, एवमेतत् ‘य एषोऽक्षिणि’ इत्याद्युक्तं
 प्रजापतिना त्रिभिः पर्यायैः, न पर इति । चतुर्थे तु पर्याये देहा-
 न्मर्त्यात्समुत्थाय अशरीरतामापन्नो ज्योतिःस्वरूपम् । यस्मि-
 न्नुत्तमपुरुषे स्त्र्यादिभिर्जक्षत्क्रीडन्नममाणो भवति, स उत्तमः
 पुरुषः पर उक्त इति च आहुः । सत्यम्, रमणीया तावदियं
 व्याख्या श्रोतुम् । न तु अर्थोऽस्य ग्रन्थस्य एवं संभव-
 ति । कथम् ? ‘अक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ इत्युपन्यस्य शिष्या-
 भ्यां छायात्मनि गृहीते तयोस्तद्विपरीतग्रहणं मत्वा तदपन-
 याय उदशरावोपन्यासः ‘किं पश्यथः’ इति च प्रश्नः साध्व-
 लंकारोपदेशश्च अनर्थकः स्यात्, यदि छायात्मैव प्रजाप-
 तिना ‘अक्षिणि दृश्यते’ इत्युपदिष्टः । किंच यदि स्वयमुप-

दिष्ट इति ग्रहणस्याप्यपनयनकारणं वक्तव्यं स्यात् । स्वप्न-
 सुषुप्तात्मग्रहणयोरपि तदपनयकारणं च स्वयं ब्रूयात् ।
 न च उक्तम् । तेन मन्यामहे न अक्षिणि च्छायात्मा
 प्रजापतिना उपदिष्टः । किं चान्यत्, अक्षिणि द्रष्टा चेत्
 ‘दृश्यते’ इत्युपदिष्टः स्यात्, तत इदं युक्तम् । ‘एतं त्वेव
 ते’ इत्युक्त्वा स्वप्नेऽपि द्रष्टुरेवोपदेशः । स्वप्ने न द्रष्टोपदिष्ट
 इति चेत्, न, ‘अपि रोदितीव’ ‘अप्रियवेत्तेव’ इत्युपदे-
 शात् । न च द्रष्टुरन्यः कश्चित्स्वप्ने महीयमानश्चरति ।
 ‘अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः’ इति न्यायतः श्रुत्यन्तरे सि-
 द्धत्वात् । यद्यपि स्वप्ने सधीर्भवति, तथापि न धीः
 स्वप्नभोगोपलब्धिं प्रति करणत्वं भजते । किं तर्हि,
 पटचित्रवज्जाग्रद्व्यासनाश्रया दृश्यैव धीर्भवतीति न द्रष्टुः
 स्वयंज्योतिष्प्रबाधः स्यात् । किंचान्यत्, जाग्रत्स्वप्नयोर्भू-
 तानि च आत्मानं च जानाति— इमानि भूतान्ययमह-
 मस्मीति । प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधो युक्तः स्यात्—नाह स्वत्व-
 यमित्यादि । तथा चेतनस्यैव अविद्यानिमित्तयोः सशरी-
 रत्वे सति प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्तीत्युक्त्वा तस्यैवाशरी-
 रस्य सतो विद्यायां सत्यां सशरीरत्वे प्राप्तयोः प्रतिषेधो
 युक्तः ‘अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः’ इति ।

एकश्चात्मा स्वप्रबुद्धान्त्योर्महत्सत्त्ववदसङ्गः संचरतीति श्रु-
त्यन्तरे सिद्धम् । वचोक्तं संप्रसादः शरीरस्य सुस्थाय य-
स्मिन्स्व्यादिभिः समभाजो भवति सोऽन्यः संप्रसादादधि-
करणनिर्दिष्ट उत्तमः पुरुष इति, तदप्यसत् । चतुर्थेऽपि
पर्याये 'एतं त्वेव ते' इति वचनात् । यदि ततोऽन्योऽभि-
प्रेतः स्यात्, पूर्ववत् 'एतं त्वेव ते' इति न ब्रूयान्मृषा प्रजा-
पतिः । किंचान्यत्, तेजोबन्नादीनां स्रष्टुः सतः स्वविका-
रदेहशुक्ले प्रवेशं दर्शयित्वा प्रविष्टाय पुनः तत्त्वमसीत्युप-
देशः मृषा प्रसज्येत । तस्मिंस्त्वं स्व्यादिभिः रन्ता भवि-
ष्यसीति युक्त उपदेशोऽभविष्यत् यदि संप्रसादादन्य उत्तमः
पुरुषो भवेत् । तथा भूमि 'अहमेव' इत्यादिश्य 'आत्मैवेदं
सर्वम्' इति नोपसमहरिष्यत्, यदि भूमा जीवादन्योऽभवि-
ष्यत्, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च । सर्व-
श्रुतिषु च परस्मिन्नात्मशब्दप्रयोगो नाभविष्यत् प्रत्यगात्मा
चेत्सर्वजन्तूनां पर आत्मा न भवेत् । तस्मादेक एव आत्मा
प्रकरणी सिद्धः ॥

न च आत्मनः संसारित्वम्, अविद्याध्यस्तत्वादात्मनि
संसारस्य । न हि रज्जुशुक्तिकागगनादिषु सर्परजतमलादीनि
मिथ्याज्ञानाध्यस्तानि तेषां भवन्तीति । एतेन सशरीरस्य

प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्तीति व्याख्यातम् । यच्च स्थित-
 मप्रियवेत्तेवेति नाप्रियवेत्तैवेति सिद्धम् । एवं च सति सर्व-
 पर्यायेषु 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति प्रजापतेर्वचनम्, यदि
 वा प्रजापतिच्छब्दरूपायाः श्रुतेर्वचनम्, सत्यमेव भवेत् । न
 च तत्कुतर्कबुद्ध्या मृषा कर्तुं युक्तम्, ततो गुरुतरस्य प्रमा-
 णान्तरस्यानुपपत्तेः । ननु प्रत्यक्षं दुःखाद्यप्रियवेत्तृत्वमव्यभि-
 चार्यनुभूयत इति चेत्, न, जरादिरहितो जीर्णोऽहं जातो-
 ऽहमायुष्मान्गौरः कृष्णो मृतः—इत्यादिप्रत्यक्षानुभववत्तदुपप-
 त्तेः । सर्वमप्येतत्सत्यमिति चेत्, अस्त्येवैतदेवं दुरवगमम्,
 येन देवराजोऽप्युदशरावादिदर्शिताविनाशयुक्तिरपि मुमोहैवात्र
 'विनाशमेवापीतो भवति' इति । तथा विरोचनो महाप्राज्ञः
 प्राजापत्योऽपि देहमात्रात्मदर्शनो बभूव । तथा इन्द्रस्य आत्म-
 विनाशभयसागरे एव वैनाशिका न्यमज्जन् । तथा सांख्या
 द्रष्टारं देहादिव्यतिरिक्तमवगम्यापि त्यक्तागमप्रमाणत्वात् मृ-
 त्युविषये एव अन्यत्वदर्शने तस्थुः । तथा अन्ये काणादा-
 दिदर्शनाः कषायरक्तमिव क्षारादिभिर्वर्चं नवभिरात्मगुणै-
 युक्तमात्मद्रव्यं विशोधयितुं प्रवृत्ताः । तथा अन्ये कर्मिणो
 बाह्यविषयापहृतचेतसः वेदप्रमाणा अपि परमार्थसत्यमात्मै-
 कत्वं सविनाशमिव इन्द्रवन्मन्यमाना घटीयन्त्रवत् आरोहाव-

रोहप्रकारैरनिशं बम्भ्रमन्ति ; किमन्ये क्षुद्रजन्तवो विवेक-
हीनाः स्वभावत एव बहिर्विषयापहृतचेतसः । तस्मादिदं
त्यक्तसर्वबाह्यैषणैः अनन्यशरणैः परमहंसपरिव्राजकैः अत्या-
श्रमिभिर्वेदान्तविज्ञानपरैरेव वेदनीयं पूज्यतमैः प्राजापत्यं
च इमं संप्रदायमनुसरद्भिः उपनिबद्धं प्रकरणचतुष्टयेन ।
तथा अनुशासति अद्यापि 'त एव नान्ये' इति ॥

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयिन्नुर-
शरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाका-
शात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन
रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

तत्र अशरीरस्य संप्रसादस्य अविद्यया शरीरेणाविशेषतां
सशरीरतामेव संप्राप्तस्य शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेण यथा
अभिनिष्पत्तिः, तथा वक्तव्येति दृष्टान्त उच्यते— अशरी-
रो वायुः अविद्यमानं शिरःपाण्यादिमच्छरीरमस्येत्यशरीरः ।
किं च अभ्रं विद्युत्स्तनयिन्नुरित्येतानि च अशरीराणि । तत्
तत्रैवं सति वर्षादिप्रयोजनावसाने यथा, अमुष्मादिति
भूमिष्ठा श्रुतिः द्युलोकसंबन्धिनमाकाशदेशं व्यपदिशति, ए-
तानि यथोक्तान्याकाशसमानरूपतामापन्नानि स्वेन वाय्वादि-
रूपेणागृह्यमाणानि आकाशाख्यतां गतानि— यथा संप्रसादः

अविद्यावस्थायां शरीरात्मभावमेव आपन्नः, तानि च तथा-
भूतान्यमुष्मात् द्युलोकसंबन्धिन आकाशदेशात्समुत्तिष्ठन्ति
वर्षणादिप्रयोजनाभिनिर्वृत्तये । कथम्? शिशिरापाये सावित्रं
परं ज्योतिः प्रकृष्टं ग्रैष्मकमुपसंपद्य सावित्रमभितापं प्राप्ये-
त्यर्थः । आदित्याभितापेन पृथग्भावमापादिताः सन्तः स्वेन
स्वेन रूपेण पुरोवातादिवायुरूपेण स्तिमितभावं हित्वा अभ्र-
मपि भूमिपर्वतहस्त्यादिरूपेण विद्युदपि स्वेन ज्योतिर्लतादि-
चपलरूपेण स्तनयिद्वुरपि स्वेन गर्जिताशनिरूपेणेत्येवं प्रा-
वृद्धागमे स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समु-
त्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणा-
भिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः स तत्र प-
र्येति जक्षत्क्रीडन्नममाणः स्त्रीभिर्वा या-
नैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनः स्मरन्निदः
शरीरः स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त
एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥३॥

यथा अयं दृष्टान्तो वाय्वादीनामाकाशादिसाम्यगमनवद-
विद्यया संसारावस्थायां शरीरसाम्यमापन्नः अहममुष्य पुत्रो

जातो जीर्णो मरिष्ये—इत्येवंप्रकारं प्रजापतिनेव मघवान् यथो-
 क्तेन क्रमेण नासि त्वं देहेन्द्रियादिधर्मा तत्त्वमसीति प्रति-
 बोधितः सन् स एष संप्रसादो जीवोऽस्माच्छरीरादाकाशा-
 दिव वाय्वादयः समुत्थाय देहादिविलक्षणमात्मनो रूपम-
 वगम्य देहात्मभावनां हित्वेत्येतत्, स्वेन रूपेण मदात्मनै-
 वाभिनिष्पद्यत इति व्याख्यातं पुरस्तात् । स येन स्वेन
 रूपेण संप्रसादोऽभिनिष्पद्यते—प्राक्प्रतिबोधात् तद्भ्रान्तिनि-
 मित्तात्सर्पो भवति यथा रज्जुः, पश्चात्कृतप्रकाशा रज्ज्वात्म-
 ना स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, एवं च स उत्तमपुरुषः उत्तम-
 श्चासौ पुरुषश्चेत्युत्तमपुरुषः स एव उत्तमपुरुषः । अक्षिस्वप्नपु-
 रुषौ व्यक्तौ अव्यक्तश्च सुषुप्तः समस्तः संप्रसन्नः अशरीरश्च
 स्वेन रूपेणेति । एषामेव स्वेन रूपेणावस्थितः क्षराक्षरौ व्याकृ-
 ताव्याकृतावपेक्ष्य उत्तमपुरुषः ; कृतनिर्वचनो हि अयं गीतासु ।
 सः संप्रसादः स्वेन रूपेण तत्र स्वात्मनि स्वस्थतया सर्वात्मभूतः
 पर्येति कचिदिन्द्राद्यात्मना जक्षत् हसन् भक्षयन् वा भक्ष्यान्
 उच्चावचान ईप्सितान् कचिन्मनोमात्रैः संकल्पादेव समुत्थितै-
 ब्राह्मलौकिकैर्वा क्रीडन् मृग्यादिभिः रममाणश्च मनसैव, नो-
 पजनम्, स्त्रीपुंसयोरन्योन्योपगमेन जायत इत्युपजनम् आ-
 त्मभावेन वा आत्मसामीप्येन जायत इत्युपजनमिदं शरीरम् ,

तन्न स्मरन् । तत्स्मरणे हि दुःखमेव स्यात्, दुःखात्मकत्वात् तस्य । नन्वनुभूतं चेत् न स्मरेत् असर्वज्ञत्वं मुक्तस्य ; नैष दोषः । येन मिथ्याज्ञानादिना जनितम् तच्च मिथ्याज्ञानादि विद्यया उच्छेदितम्, अतस्तन्नानुभूतमेवेति न तदस्मरणे सर्वज्ञत्वहानिः । न हि उन्मत्तेन ग्रहगृहीतेन वा यदनुभूतं तदुन्मादाद्यपगमेऽपि स्मर्तव्यं स्यात् ; तथेहापि संसारिभिरविद्यादोषवद्भिः यदनुभूयते तत्सर्वात्मानमशरीरं न स्पृशति, अविद्यानिमित्ताभावात् । ये तु उच्छिन्नदोषैर्मृदितकषायैः मानसाः सत्याः कामा अनृतापिधाना अनुभूयन्ते विद्याभिव्यङ्ग्यत्वात्, त एव मुक्तेन सर्वात्मभूतेन संबध्यन्त इति आत्मज्ञानस्तुतये निर्दिश्यन्ते ; अतः साध्वेतद्विशिनष्टि—‘य एते ब्रह्मलोके’ इति । यत्र क्वचन भवन्तोऽपि ब्रह्मण्येव हि ते लोके भवन्तीति सर्वात्मत्वाद्ब्रह्मण उच्यन्ते ॥

ननु कथमेकः सन् नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा कामांश्च ब्राह्मलौकिकान्पश्यन्नमते इति च विरुद्धम्, यथा एको यस्मिन्नेव क्षणे पश्यति स तस्मिन्नेव क्षणे न पश्यति च इति । नैष दोषः, श्रुत्यन्तरे परिहृतत्वात् । द्रष्टुर्दृष्टेरविपरिलोपात्पश्यन्नेव भवति ; द्रष्टुरन्यत्वेन कामानामभावान्न पश्यन्ति च इति । यद्यपि

सुषुप्ते तदुक्तम्, मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात्समानो द्वितीयाभावः ।
 'केन कं पश्येत्' इति च उक्तमेव । अशरीरस्वरूपोऽपहतपा-
 ष्मादिलक्षणः सन् कथमेष पुरुषोऽक्षिणि दृश्यत इत्युक्तः
 प्रजापतिना ? तन्न यथा असावक्षिणि साक्षाद्दृश्यते तद्वक्त-
 व्यमितीदमारभ्यते । तत्र को हेतुरक्षिणि दर्शने इति, आह—
 स दृष्टान्तः यथा प्रयोग्यः, प्रयोग्यपरो वा स-शब्दः, प्रयु-
 ज्यत इति प्रयोगः, अश्वो बलीवर्दो वा यथा लोके आच-
 रत्यनेनेत्याचरणः रथः अनो वा तस्मिन्नाचरणे युक्तः तदा-
 कर्षणाय, एवमस्मिञ्छरीरे रथस्थानीये प्राणः पञ्चवृत्तिरि-
 न्द्रियमनोबुद्धिसंयुक्तः प्रज्ञात्मा विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयसंमूर्छि-
 तात्मा युक्तः स्वकर्मफलोपभोगानिमित्तं नियुक्तः, 'कस्मिन्व-
 हमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रति-
 ष्ठास्यामीति' ईश्वरेण राज्ञेव सर्वाधिकारी दर्शनश्रवणचे-
 ष्टाव्यापारेऽधिकृतः । तस्यैव तु मात्रा एकदेशश्चक्षुरिन्द्रियं
 रूपोपलब्धिद्वारभूतम् ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः
 स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो
 वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्रा-
 णमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स

आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं
शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रो-
त्रम् ॥ ४ ॥

अथ यत्र कृष्णतारोपलक्षितम् आकाशं देहच्छिद्रम्
अनुविषण्णम् अनुषक्तम् अनुगतम्, तत्र स प्रकृतः अशरीर
आत्मा चाक्षुषः चक्षुषि भव इति चाक्षुषः तस्य दर्शनाय रू-
पोपलब्धये चक्षुः करणम्; यस्य तत् देहादिभिः संहतत्वात्
परम्य द्रष्टुरर्थे, सोऽत्र चक्षुषि दर्शनेन लिङ्गेन दृश्यते परः
अशरीरोऽसंहतः । ‘अक्षिणि दृश्यते’ इति प्रजापतिनोक्तं स-
र्वेन्द्रियद्वारोपलक्षणार्थम्; सर्वविषयोपलब्धा हि स एवेति ।
स्फुटोपलब्धिहेतुत्वात्तु ‘अक्षिणि’ इति विशेषवचनं सर्वश्रुतिषु ।
‘अहमदर्शमिति तत्सत्यं भवति’ इति च श्रुतेः । अथापि योऽ-
स्मिन्देहे वेदः; कथम्? इदं सुगन्धि दुर्गन्धि वा जिघ्राणीति
अस्य गन्धं विजानीयामिति, स आत्मा, तस्य गन्धाय गन्ध-
विज्ञानाय घ्राणम् । अथ यो वेद इदं वचनम् अभिव्याह-
राणीति वदिष्यमीति, स आत्मा, अभिव्याहरणक्रियासिद्धये
करणं वागिन्द्रियम् । अथ यो वेद— इदं शृणवानीति, स
आत्मा, श्रवणाय श्रोत्रम् ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा
मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दै-
वेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन्नमते
य एते ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

अथ यो वेद— इदं मन्वानीति मननव्यापारमिन्द्रियासं-
स्पृष्टं केवलं मन्वानीति वेद, स आत्मा, मननाय मनः ।
यो वेद स आत्मेत्येवं सर्वत्र प्रयोगात् वेदनमस्य स्वरूपमि-
त्यवगम्यते— यथा यः पुरस्तात्प्रकाशयति स आदित्यः, यो
दक्षिणतः यः पश्चात् उत्तरतो य ऊर्ध्वं प्रकाशयति स
आदित्यः— इत्युक्ते प्रकाशस्वरूपः स इति गम्यते । दर्शनादि-
क्रियानिर्वृत्त्यर्थानि तु चक्षुरादिकरणानि । इदं च अस्य
आत्मनः सामर्थ्यादवगम्यते— आत्मनः सत्तामात्र एव
ज्ञानकर्तृत्वम्, न तु व्यापृततया— यथा सवितुः सत्ता-
मात्र एव प्रकाशनकर्तृत्वम्, न तु व्यापृततयेति— तद्वत् ।
मनोऽस्य आत्मनो दैवमप्राकृतम् इतरेन्द्रियैरसाधारणं चक्षुः
चष्टे पश्यत्यनेनेति चक्षुः । वर्तमानकालविषयाणि च इन्द्रि-
याणि अतो अदैवानि तानि । मनस्तु त्रिकालविषयोपल-
ब्धिकरणं मृदितदोषं च सूक्ष्मव्यवहितादिसर्वोपलब्धिकरणं
च इति दैवं चक्षुरुच्यते । स वै मुक्तः स्वरूपापन्नः अवि-

याकृतदेहेन्द्रियमनोवियुक्तः सर्वात्मभावमापन्नः सन् एष
व्योमवद्विशुद्धः सर्वेश्वरो मनउपाधिः सन् एतेनैवेश्वरेण
मनसा एतान्कामान् सवितृप्रकाशवत् नित्यप्रततेन दर्शनेन
पश्यन् रमते । कान्कामानिति विशिनष्टि— य एते ब्रह्म-
णि लोके हिरण्यनिधिवत् बाह्यविषयासङ्गानृतेनापिहिताः
संकल्पमात्रलभ्याः तानित्यर्थः ॥

तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते त-
स्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च
कामाः स सर्वाश्च लोकानामोति सर्वाश्च
कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजाना-
तीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

यस्मादेष इन्द्राय प्रजापतिनोक्त आत्मा, तस्मात् ततः
श्रुत्वा तमात्मानमद्यत्वेऽपि देवा उपासते । तदुपासनाच्च
तेषां सर्वे च लोका आत्ताः प्राप्ताः सर्वे च कामाः ।
यदर्थं हि इन्द्रः एकशतं वर्षाणि प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास,
तत्फलं प्राप्तं देवैरित्यभिप्रायः । तद्युक्तं देवानां महाभा-
ग्यत्वान्, न त्विदानीं मनुष्याणामल्पजीवितत्वान्मन्दतरप्र-

ज्ञत्वाच्च संभवतीति प्राप्ते, इदमुच्यते—स सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वाश्च कामान् इदानीं तनोऽपि । कोऽसौ ? इन्द्रादिवत् यः तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह सामान्येन किल प्रजापतिरुवाच । अतः सर्वेषामात्मज्ञानं तत्फलप्राप्तिश्च तुल्यैव भवतीत्यर्थः । द्विर्वचनं प्रकरणसमाप्त्यर्थम् ॥

इति द्वादशखण्डभाष्यम् ॥

त्रयोदशः खण्डः ॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छयामं
प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र
इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं
कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभि-
संभवामीति ॥ १ ॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

श्यामात् शबलं प्रपद्ये इत्यादिमन्त्राग्रायः पावनः जपा-
र्थश्च ध्यानार्थो वा । श्यामः गम्भीरो वर्णः श्याम इव
श्यामः हार्दं ब्रह्म अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात् तत् हार्दं ब्रह्म
ज्ञात्वा ध्यानेन तस्माच्छयामात् शबलं शबल इव शबलः
अरण्याद्यनेककाममिश्रत्वाद्ब्रह्मलोकस्य शाबल्यं तं ब्रह्मलोकं
शबलं प्रपद्ये मनसा शरीरपाताद्वा ऊर्ध्वं गच्छेयम् । यस्मा-
दहं शबलाद्ब्रह्मलोकात् नामरूपव्याकरणाय श्यामं प्रपद्ये
हार्दभावं प्रपन्नोऽस्मीत्यभिप्रायः । अतः तमेव प्रकृतिस्वरू-
पमात्मानं शबलं प्रपद्ये इत्यर्थः । कथं शबलं ब्रह्मलोकं

प्रपद्ये इति, उच्यते—अश्व इव स्वानि लोमानि विधूय
 कम्पनेन श्रमं पांस्वादि च रोमतः अपनीय यथा निर्मलो
 भवति, एवं हार्दब्रह्मज्ञानेन विधूय पापं धर्माधर्माख्यं चन्द्र
 इव च राहुग्रस्तः तस्माद्राहोर्मुखात्प्रमुच्य भास्वरो भवति
 यथा—एवं धूत्वा प्रहाय शरीरं सर्वानर्थाश्रयम् इहैव ध्यानेन
 कृतात्मा कृतकृत्यः सन् अकृतं नित्यं ब्रह्मलोकम् अभि-
 संभवामीति । द्विर्वचनं मन्त्रसमाप्त्यर्थम् ॥

इति त्रयोदशखण्डभाष्यम् ॥

चतुर्दशः खण्डः ॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता
ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा
प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं
भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो
विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यश-
सां यशः श्येतमदत्कमदत्कं श्येतं
लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम् ॥ १ ॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

आकाशो वा इत्यादि ब्रह्मणो लक्षणनिर्देशार्थम् आध्या-
नाय । आकाशो वै नाम श्रुतिषु प्रसिद्ध आत्मा । आकाशं
इव अशरीरत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च । स च आकाशः नामरूपयोः
स्वात्मस्थयोर्जगद्बीजभूतयोः सलिलस्येव फेनस्थानीययोः नि-
र्वहिता निर्वोढा व्याकर्ता । ते नामरूपे यदन्तरा यस्य ब्र-
ह्मणो अन्तरा मध्ये वर्तेते, तयोर्वा नामरूपयोरन्तरा मध्ये
यन्नामरूपाभ्यामस्पृष्टं यदित्येतत्, तद्ब्रह्म नामरूपविलक्षणं
नामरूपाभ्यामस्पृष्टं तथापि तयोर्निर्वोढु एवंलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः ।

इदमेव मैत्रेयीब्राह्मणेनोक्तम् ; चिन्मात्रानुगमात्सर्वत्र चित्स्वरूपतैवेति गम्यते एकवाक्यता । कथं तदवगम्यत इति, आह — स आत्मा । आत्मा हि नाम सर्वजन्तूनां प्रत्यक्चेतनः स्वसंवेद्यः प्रसिद्धः तेनैव स्वरूपेणोग्नीय अशरीरो व्योमवत्सर्वगत आत्मा ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम् । तच्च आत्मा ब्रह्म अमृतम् अमरणधर्मा । अत ऊर्ध्वं मन्त्रः । प्रजापतिः चतुर्मुखः तस्य सभां वेश्म प्रभुविमितं वेश्म प्रपद्ये गच्छेयम् । किंच यशोऽहं यशो नाम आत्मा अहं भवामि ब्राह्मणानाम् । ब्राह्मणा एव हि विशेषतस्तमुपासते ततस्तेषां यशो भवामि । तथा राज्ञां विशां च । तेऽप्यधिकृता एवेति तेषामप्यात्मा भवामि । तद्यशोऽहमनुप्रापत्सि अनुप्राप्तुमिच्छामि । स ह अहं यशसामात्मनां देहेन्द्रियमनोबुद्धिलक्षणानामात्मा । किमर्थमहमेवं प्रपद्ये इति, उच्यते— श्येतं वर्णतः पक्वदरसमं रोहितम् । तथा अदत्तं दन्तरहितमप्यदत्तं भक्षयितृ स्त्रीव्यञ्जनं तत्सेविनां तेजोबलवीर्यविज्ञानधर्माणाम् अपहन्तृ विनाशयित्रित्येतत् । यदेवलक्षणं श्येतं लिन्दु पिच्छलं तन्मा अभिगां मा अभिगच्छेयम् । द्विर्वचनमत्यन्तानर्थहेतुत्वप्रदर्शनार्थम् ॥

इति चतुर्दशखण्डभाष्यम् ॥

पञ्चदशः खण्डः ॥

तद्वैतब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजाप-
तिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेद-
मधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषे-
णाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वा-
ध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि
सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्व-
भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तय-
न्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च
पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

तद्वैतत् आत्मज्ञानं सोपकरणम् 'ओमित्येतदक्षरम्'
इत्याद्यैः सहोपासनैः तद्वाचकेन ग्रन्थेन अष्टाध्यायीलक्षणेन
सह ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्वारेण प्रजापतये
कश्यपाय उवाच ; असावपि मनवे स्वपुत्राय ; मनुः प्रजा-
भ्यः इत्येवं श्रुत्यर्थसंप्रदायपरम्परयागतम् उपनिषद्विज्ञानम्
अद्यापि विद्वत्सु अवगम्यते । यथेह षष्ठाद्यध्यायत्रये प्रका-
शिता आत्मविद्या सफला अवगम्यते, तथा कर्मणां न क-

श्रनार्थ इति प्राप्ते, तदानर्थक्यप्राप्तिपरिजिहीर्षया इदं कर्मणो
 विद्वद्भिरनुष्ठीयमानस्य विशिष्टफलवत्त्वेन अर्थवत्त्वमुच्यते—
 आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य सहार्थतः अध्ययनं कृत्वा यथाविधानं
 यथास्मृत्युक्तैर्नियमैर्युक्तः सन् इत्यर्थः । सर्वस्यापि विधेः
 स्मृत्युक्तस्य उपकुर्वाणकं प्रति कर्तव्यत्वे गुरुशुश्रूषायाः प्राधा-
 न्यप्रदर्शनार्थमाह— गुरोः कर्म यत्कर्तव्यं तत्कृत्वा कर्मशू-
 न्यो योऽतिशिष्टः कालः तेन कालेन वेदमधीत्येत्यर्थः । एवं
 हि नियमवता अधीतो वेदः कर्मज्ञानफलप्राप्तये भवति, ना-
 न्यथेत्यभिप्रायः । अभिसमावृत्य धर्मजिज्ञासां समापयि-
 त्वा गुरुकुलान्निवृत्य न्यायतो दारानाहत्य कुटुम्बे स्थित्वा
 गार्हस्थ्ये विहिते कर्मणि तिष्ठन् इत्यर्थः । तत्रापि गार्हस्थ्य-
 विहितानां कर्मणां स्वाध्यायस्य प्राधान्यप्रदर्शनार्थमुच्यते—
 शुचौ विविक्ते अमेध्यादिरहिते देशे यथावदासीनः स्वाध्याय-
 मधीयानः नैत्यकमधिकं च यथाशक्ति ऋगाद्यभ्यासं च
 कुर्वन् धार्मिकान्पुत्राञ्छिष्यांश्च धर्मयुक्तान्विदधत् धार्मिक-
 त्वेन तान्नियमयन् आत्मनि स्वहृदये हार्दे ब्रह्माणि सर्वेन्द्रि-
 याणि संप्रतिष्ठाप्य उपसंहृत्य इन्द्रियग्रहणात्कर्माणि च संन्यस्य
 अहिंसनं हिंसां परपीडामकुर्वन् सर्वभूतानि स्थावरजङ्गमानि
 भूतान्यपीडयन् इत्यर्थः । भिक्षानिमित्तमटनादिनापि पर-

पीडा स्यादित्यत आह—अन्यत्र तीर्थेभ्यः । तीर्थं नाम शा-
स्त्रानुज्ञाविषयः, ततोऽन्यत्रेत्यर्थः । सर्वाश्रमिणां च एतत्समा-
नम् । तीर्थेभ्योऽन्यत्र अहिंसैवेत्यन्ये वर्णयन्ति । कुटुम्बे एवै-
तत्सर्वं कुर्वन्, स खल्वधिकृतः, यावदायुषं यावज्जीवम् एवं
यथोक्तेन प्रकारेणैव वर्तयन् ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते देहान्ते ।
न च पुनरावर्तते शरीरग्रहणाय, पुनरावृत्तेः प्राप्तायाः प्रति-
षेधात् । अर्चिरादिना मार्गेण कार्यब्रह्मलोकमभिसंपद्य याव-
द्ब्रह्मलोकस्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति प्राक्ततो नावर्तत इत्यर्थः ।
द्विरभ्यासः उपनिषद्विद्यापरिसमार्थः ॥

इति पञ्चदशखण्डभाष्यम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगव-

त्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥

ॐ

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वा-
क्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बल-
मिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।
सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म
निराकुर्यां मा मा ब्रह्म नि-
राकरोदनिराकरणमस्त्वनि-
राकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि
निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते
मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

उपनिषन्मन्त्राणां
वर्णानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

॥ वर्णानुक्रमणिका ॥

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|--------------------------|---------|-------------------------|---------|
| अ | | अथ खलूद्रीथाक्षरा० | ३३ |
| अग्निर्हिंकारो | ११४ | अथ खल्वमुमादित्य२ | ९६ |
| अग्निष्टे प्रादं वक्तेति | २२५ | अथ खल्वात्मसंमितम० | १०१ |
| अजा हिंकारोऽवयः | ११२ | अथ खल्वशीः | ३४ |
| अतो यान्यन्यानि | ३२ | अथ खल्वेतयर्चा पच्छ | २७३ |
| अत्र यजमानः परस्ता० | १३३ | अथ जुहोति नम | १३५ |
| „ „ | १३४ | अथ जुहोति नमो | १३४ |
| अत्स्यन्नं पश्यसि प्रिय० | ३१७ | अथ जुहोति नमोऽग्नये | १३३ |
| „ „ | ३१९ | अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य | १५६ |
| „ „ | ३२० | अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ | २७२ |
| „ „ | ३२१ | अथ य आत्मा स सेतु० | ४९० |
| „ „ | ३२२ | अथ य इमे ग्राम | २९६ |
| अथ खलु य उद्रीथः स | ४३ | अथ य एतदेवं | ३३० |
| „ „ | ४१ | अथ य एतदेवं विद्वान्ताम | ५३ |
| अथ खलु व्यानमेवो० | ३० | अथ य एष संप्रसादो | ४८७ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|-------------------------|---------|-------------------------|---------|
| अथ य एषोऽन्तरिक्षिणि | ५१ | अथ यदभ्राति | १८८ |
| अथ यच्चतुर्थममृतं | १५४ | अथ यदास्य वाङ्मनसि | ४०४ |
| अथ यत्तदजायत | १९८ | अथ यदि गन्धमाल्यलो० | ४८२ |
| अथ यत्तपो दान० | १८८ | अथ यदि गीतवादित्रलो० | ४८२ |
| अथ यत्तृतीयममृतं | १५२ | अथ यदि तस्याकर्ता | ४०७ |
| अथ यत्पञ्चमममृतं | १५५ | अथ यदिदमस्मिन्त्र० | ४७२ |
| अथ यत्प्रथमास्तमिते | १०० | अथ यदि भ्रातृलोकका० | ४८१ |
| अथ यत्प्रथमोदिते | ९७ | अथ यदि महजिगमिषे० | २७१ |
| अथ यत्तैतत्पुरुषः | ३८० | अथ यदि मातृलोककामो | ४८१ |
| अथ यत्त्रैतदबलिमानं | ५०३ | अथ यदि सखिलोककामो | ४८२ |
| अथ यत्त्रैतदस्माच्छरी० | ५०४ | अथ यदि सामतो | २५४ |
| अथ यत्त्रैतदाकाश० | ५४२ | अथ यदि स्त्रीलोककामो | ४८३ |
| अथ यत्त्रोपाकृते | २५१ | अथ यदि स्वसृलोकका० | ४८२ |
| अथ यत्संगववेलाया५ | ९८ | अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं | २४६ |
| अथ यत्संप्रति मध्यंदिने | ९८ | अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिना० | ९९ |
| अथ यत्सन्नायणमित्या० | ४९४ | अथ यदूर्ध्वमपराह्णा० | ९९ |
| अथ यदतः परो दिवो | १६९ | अथ यदेतदक्षः शुक्लं | ५१ |
| अथ यदनाशकायनमि० | ४९४ | अथ यदेतदादित्यस्य | ४६ |
| अथ यदवोचं भुवः | १८२ | अथ यदेवैतदादित्यस्य | ४७ |
| अथ यदवोचं भूः | १८२ | अथ यद्वितीयममृतं | १५१ |
| अथ यदवोचं भवः | १८२ | अथ यद्वसति | १८८ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------|---------|-------------------------|---------|
| अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते | ४९३ | अथ सप्तविधस्य वाचि | ९५ |
| अथ यद्यन्नपानलोककामो | ४८२ | अथ ह२स निशायाम० | २०४ |
| अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्त० | ४५१ | अथ ह चक्षुरुद्री० | २२ |
| अथ यद्येनमूष्मसूपा० | ११९ | अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष० | २६४ |
| अथ या एता हृदयस्य | ५०० | अथ ह प्राणा अह२श्रे० | २६१ |
| अथ यां चतुर्थी | ३२९ | अथ ह मन उद्रीथ० | २२ |
| अथ यां तृतीया | ३२८ | अथ ह य एतानेवं | ३१० |
| अथ यां द्वितीया | ३२८ | अथ ह य एवायं | २३ |
| अथ यां पञ्चमी | ३२९ | अथ ह वाचमु० | २२ |
| अथ यानि चतुश्चत्वा० | १८५ | अथ ह शौनकं च | २१५ |
| अथ यान्यष्टाचत्वारि२श० | १८६ | अथ ह श्रोत्रमुद्री० | २२ |
| अथ ये चास्येह जीवा० | ४८५ | अथ हाग्रयः समूदिरे | २३५ |
| अथ येऽस्य दक्षिणा | १४३ | अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव | ५१९ |
| अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो | १४४ | अथ हैनं गार्हपत्यो | २३८ |
| अथ येऽस्योदञ्चो | १४५ | अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद | ७३ |
| अथ येऽस्योर्ध्वा | १४६ | अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद | ७१ |
| अथ यो वेदेदं मन्वानीति | ५४४ | अथ हैनं यजमान | ७० |
| अथ योऽस्य दक्षिणः | १६६ | अथ हैनं वागुवाच | २६५ |
| अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः | १६७ | अथ हैनं२श्रोत्रमुवाच | २६५ |
| अथ योऽस्योदङ्सुषिः | १६७ | अथ हैनमन्वाहार्यपचनो | २४० |
| अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः | १६८ | अथ हैनमाहवनीयो | २४१ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|----------------------------|---------|-------------------------|---------|
| अथ हैनमुद्रातोपससाद | ७२ | अन्तरिक्षोदरः कोशो | १७९ |
| अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद | २२३ | अन्नं वाव बलाद्भूय० | ४३७ |
| अथ होवाच जनः | ३२० | अन्नमयः हि सोम्य | ३६७ |
| अथ होवाच बुडिलमा० | ३२१ | ” ” | ३६४ |
| अथ होवाच सत्ययज्ञं | ३१८ | अन्नमाशितं त्रेधा विधी० | ३६३ |
| अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं | ३१९ | अन्नमिति होवाच | ७३ |
| अथ होवाचोद्दालक० | ३२२ | अन्यतरामेव वर्तनीः | २५० |
| अथात आत्मादेश | ४६३ | अपां का गतिरित्यसौ | ५७ |
| अथातः शौव उद्वीथ० | ७५ | अपाः सोम्य पीयमानाना | ३६६ |
| अथाधिदैवतं | २९ | अपाने तृप्यति वाक्तृ० | ३२८ |
| अथाध्यात्मं प्राणो | २१४ | अभिमन्यति स हिकारो | १०५ |
| अथाध्यात्मं य एवायं | ४२ | अभ्रं भूत्वा मेघो भवति | ३०२ |
| अथाध्यात्मं वागेवकर्प्राणः | ५० | अभ्राणि संप्लवन्ते | १०९ |
| अथानु किमनुशिष्टो | २७८ | अमृतत्वं देवेभ्य | ११८ |
| अथानेनैव ये चैतस्मा० | ५३ | अयं वाव लोको | ७८ |
| अथावृत्तेषु द्यौर्हिकार | ८७ | अयं वाव स योऽयमन्त० | १६३ |
| अथैतयोः पथोर्न कतरेण | ३०८ | अयं वाव स योऽयमन्तर्ह० | १६३ |
| अथोताप्याहुः साम | ८४ | अरिष्टं कोशं | १८१ |
| अधीहि भगव इति | ४१६ | अशनापिपासे मे स्तेन्य | ३७७ |
| अनिरुक्तस्त्रयोदशः | ७९ | अशरीरो वायुरभ्रं | ५३८ |
| अन्तरिक्षमेवर्वायुः | ४६ | असौ वा आदित्यो | १३९ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|-------------------------|---------|---------------------------|---------|
| असौ वाव लोको | २८२ | इति तु पञ्चम्यामाहुता० | २९० |
| अस्य यदेकाऽशाखां | ३९१ | इदं वाव तज्ज्येष्ठाय | १५८ |
| अस्य लोकस्य का गति० | ६१ | इदमिति ह प्रतिजज्ञे | २४२ |
| अस्य सोम्य महतो | ३९१ | इमाः सोम्य नद्यः | ३८९ |
| आ | | इयमेवर्गमिः साम | ४५ |
| आकाशो वाव तेजसो | ४४३ | उ | |
| आकाशो वै नाम | ५४९ | उदशराव आत्मानम० | ५१२ |
| आगाता ह वै | २८ | उदाने तृप्यति त्वक्तृ० | ३२९ |
| आत्मजानमन्तत उपसृत्य | ३६ | उद्गीथ इति व्यक्षरमु० | १०२ |
| आदिप्रज्ञस्य रेतसः | १९० | उद्दालको हारुणिः | ३७३ |
| आदित्य इति होवाच | ७३ | उद्यन्हिंकार उदितः | १०८ |
| आदित्य ऊकारो | ७९ | उपकोसलो ह वै | २३३ |
| आदित्यमथ वैश्वदेवं | १३५ | उपमन्त्रयते स हिंकारो | १०६ |
| आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश० | १९६ | ऊ | |
| आदिरिति व्यक्षरं | १०१ | ऊग्वेदं भगवोऽध्येमि | ४१६ |
| आपः पीतास्त्रेधा विधी० | ३६३ | ऊतुषु पञ्चविधऽ | ९१ |
| आपयिता ह वै | १५ | ए | |
| आपो वावान्नाद्भ्यस्त० | ४३९ | एकविंशत्यादित्य० | १०२ |
| आप्नोति हादित्यस्य | १०३ | एतऽसंयद्वाम इत्याच० | २४५ |
| आशा वाव स्मराद्भ्य० | ४४७ | एतद्भ स्म वै तद्विद्वाऽस० | ३६० |
| इ | | एतद्भ स्म वै तद्विद्वानाह | १८७ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------|---------|---------------------------|---------|
| एतमु एवाहमभ्यगासिषं | ४१ | एषां भूतानां पृथिवी | ११ |
| ” ” | ४३ | ओ | |
| एतमृग्वेदमभ्यतप५० | १४१ | ओ३मदा३मो३ | ७७ |
| एतेषां मे देहीति | ६५ | ओमित्येतदक्षरमु० | १० |
| एव५ सोम्य ते षोडशानां ३७१ | | ओमित्येतदक्षरमुद्वीथमु० | ३७ |
| एवमेव खलु सोम्य | ३९२ | औ | |
| एवमेव खलु सोम्या० | ३६६ | औपमन्यव कं त्वमा० | ३१६ |
| एवमेव खलु सोम्येमाः | ३८९ | क | |
| एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच | ६९ | कं ते काममागायानीत्येष | ५३ |
| एवमेवैष मघवन्निति | ५२२ | कतमा कतमर्कतम० | १२ |
| ” ” | ५२८ | कल्पन्ते हास्मा ऋतव | ९१ |
| एवमेवैष संप्रसादो | ५३९ | कल्पन्ते हास्मै | ८८ |
| एवमेवोद्गातारमुवा० | ६८ | का साम्नो गतिरिति | ५७ |
| एवमेषां लोकानामासां | २५४ | कुतस्तु खलु | ३४४ |
| एष उ एव भामनीरेष | २४६ | क्व तर्हि यजमानस्य | १३१ |
| एष उ एव वामनीरेष | २४५ | ग | |
| एष तु वा अतिवदति | ४५३ | गायत्री वा इद५ सर्व | १५९ |
| एष म आत्मान्तर्हृदये | १७६ | गोअश्वमिह महिमेत्या० | ४६१ |
| एष वै यजमानस्य | १३६ | च | |
| एष ह वा उदक्प्रवणो | २५५ | चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः | १९४ |
| एष ह वै यज्ञो योऽयं | २४९ | चक्षुरेवर्गात्मा साम | ५० |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|----------------------------|---------|-------------------------|---------|
| चक्षुर्होचक्राम | २६३ | त५ होवाच किंगोत्रो | २२० |
| चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो | ४२९ | त५ होवाच नैतदब्राह्मणो | २२१ |
| ज | | त५ होवाच यं वै | ३९४ |
| जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः | २०३ | त५ होवाच यथा | ३७१ |
| त | | त५ होवाच यथा सोम्य | ३६९ |
| तं चेदेतस्मिन्वयसि | १८४ | त इमे सत्याः कामाः | ४८४ |
| ” ” | १८५ | त इह व्याघ्रो वा सि५ हो | ३८७ |
| ” ” | १८६ | त एतदेव रूपमभि० | १४९ |
| तं चेद्भूयुरस्मि५ श्रेदिदं | ४७५ | ” ” | १५१ |
| तं चेद्भूयुर्यदिदमस्मि० | ४७३ | ” ” | १५२ |
| तं जायोवाच तप्तो | २३३ | ” ” | १५४ |
| तं जायोवाच हन्त | ६७ | ” ” | १५५ |
| तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद | २२९ | तत्रोद्गातृनास्तावे | ६७ |
| तं वा एतं देवा | ५४५ | तथामुष्मिँल्लोके लोक | ६३ |
| त५ ह५स उपनिपत्याभ्यु० | २२७ | तथेति ह समुपविविशुः | ५६ |
| त५ ह चिरं वसेत्या० | २८० | तदुताप्याहुः साग्नैनमु० | ८४ |
| त५ ह प्रवाहणो | ६० | तदु ह जानश्रुतिः पौ० | २०६ |
| त५ ह शिलकः | ५८ | ” ” | २०९ |
| त५ हाङ्गिरा | २६ | तदु ह शौनकः कापेयः | २१६ |
| त५ हाभ्युवाद रैकेद५ | २११ | तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म | १९२ |
| त५ हैतमतिघन्वा | ६१ | तदेतन्मिथुनमो० | १४ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|------------------------|---------|---------------------------|---------|
| तदेष श्लोकः | ५०५ | तद्यदृक्तो रिष्येद्भूः | २५३ |
| तदेष श्लोको न पश्यो | ४६६ | तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छे० | ३२६ |
| तदेष श्लोको यदा | २७५ | तद्यद्रजतं सेयं | १९८ |
| तदेष श्लोको यानि | ११६ | तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं | १५ |
| तदैक्षत बहु स्यां | ३४७ | तद्यक्षरत्तदादित्यमभितो० | १४६ |
| तद्वैतत्सत्यकामो | २७० | „ „ | १४५ |
| तद्वैतद्वोर आङ्गिरसः | १८९ | „ „ | १४४ |
| तद्वैतद्वद्वा प्रजापतय | १५७ | „ „ | १४३ |
| „ „ | ५५१ | „ „ | १४२ |
| तद्वोभये देवासुरा | ५०७ | तमग्निरभ्युवाद सत्य० | २२५ |
| तद्य इत्थं विदुः | २९२ | तमु ह परः प्रत्युवाच | २०५ |
| तद्य इह रमणीयचरणा | ३०७ | तमु ह परः प्रत्युवाचाह | २१० |
| तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं | ४९२ | तयोरन्यतरां मनसा | २५० |
| तद्य एवैतावरं च | ४९६ | तस्मा आदित्याश्च | १३६ |
| तद्यत्प्रथममृतं | १४८ | तस्मा उ ह ददुस्ते | २१७ |
| तद्यन्नैतत्सुप्तः | ५०२ | तस्मादप्यग्नेहाददान० | ५१७ |
| „ „ | ५२७ | तस्मादाहुः सोष्यत्य० | १८९ |
| तद्यथा महापथ आतत | ५०१ | तस्मादु हैवंविद्यद्यपि | ३३१ |
| तद्यथा लवणेन | २५४ | तस्माद्वा एतं सेतुं | ४९१ |
| तद्यथेषीकातूलमग्नौ | ३३१ | तस्मिन्निमानि सर्वाणि | ९६ |
| तद्यथेह कर्मजितो लोकः | ४७९ | तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ | २८३ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------|---------|-------------------------------|---------|
| तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ | २८५ | ता आप ऐक्षन्त | ३४९ |
| “ “ | २८६ | तानि वा एतानि यजू२० | १४३ |
| “ “ | २८७ | तानि वा एतानि सामा० | १४४ |
| “ “ | २८८ | तानि ह वा एतानि | ४२६ |
| तस्मिन्यावत्संपातमु० | २९९ | तानि ह वा एतानि | ४२९ |
| तस्मै श्वा श्वेतः | ७५ | तानि ह वा एतानि त्री० | ४८८ |
| तस्य क मूल२ स्याद० | ३७९ | तानु तत्र मृत्युर्यथा | ३८ |
| “ “ | ३८२ | तान्यभ्यतपत्तेभ्यो | १३० |
| तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम | १८० | तान्होवाच प्रातर्वः | ३१५ |
| तस्य यथा कन्यासं | ४८ | तान्होवाचाश्वपतिर्वै | ३१३ |
| तस्य यथाभिनहनं | ३९९ | तान्होवाचेहैव | ७६ |
| तस्य ये प्राञ्चो | १४० | तान्होवाचैते वै खलु | ३२३ |
| तस्य कर्चं साम च | ४८ | तावानस्य महिमा | १६२ |
| तस्य ह वा एतस्य | १६५ | तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां | ३५५ |
| तस्य ह वा एतस्यात्मनो | ३२४ | तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकै० | ३५६ |
| तस्य ह वा एतस्यैवं | ४६५ | तेजसः सोम्याश्यमानस्य | ३६७ |
| तस्या ह मुखमुपोदृह्नु० | २११ | तेजो वावान्द्रथो भूयस्त० | ४४१ |
| तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैत० | १७१ | तेजोऽशितं त्रेधा विधी० | ३६४ |
| त्रयी विद्या हिंकार० | ११५ | तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः | ३१३ |
| त्रयो धर्मस्कन्धा | १२१ | तेन त५ ह बक्रो | २७ |
| त्रयो होद्गीथे | ५५ | तेन त५ ह बृहस्पति० | २७ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------|---------|---------------------------|---------|
| तेन त५ हायास्य | २७ | द | |
| तेनेयं त्रयीविद्या | १६ | दध्नः सोम्य मध्यमानस्य | ३६६ |
| तेनोभौ कुरुतो | १७ | दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं | ८० |
| ते यथा तत्र न विवेकं | ३८६ | ” ” | ९५ |
| ते वा एते गुह्या | १४६ | देवा वै मृत्योर्विम्यत० | ३७ |
| ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस० | १४५ | देवासुरा ह वै | १९ |
| ते वा एते पञ्चब्रह्म० | १६८ | द्यौरेवर्गादित्यः | ४६ |
| ते वा एते रसाना५ | १४६ | द्यौरेवोदन्तरिक्षं | ३३ |
| तेषां खल्वेषां भूतानां | ३५२ | ध | |
| ते ह प्राणाः प्रजापतिं | २६२ | ध्यानं वाव चित्तान्द्रूयो | ४३१ |
| ते ह नासिक्थं | २० | न | |
| ते ह यथैवेद० | ७७ | नक्षत्राण्येवकर्चन्द्रमाः | ४६ |
| ते ह संपादयांचक्रुद्धा० | ३१२ | न वधेनास्य हन्यते | ५२४ |
| ते होचुरूपकोसलैषा | २४२ | ” ” | ५२४ |
| ते होचुर्येन हैवार्थेन | ३१४ | न वै तत्र न निम्लोच | १५६ |
| तौ वा एतौ द्वौ | २१४ | न वै नूनं भगवन्तस्त० | ३३९ |
| तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि | ५०९ | न वै वाचो न चक्षूःषि | २६५ |
| तौ ह प्रजापतिरुवाच | ५१० | न स्विदेतेऽप्युच्छि० | ६५ |
| ” ” | ५१३ | न ह वा अस्मा | १५७ |
| तौ हान्वीक्ष्य प्रजापति० | ५१६ | न हाप्सु प्रैत्यप्सु० | ९० |
| तौ होचतुर्यथैवेद० | ५१५ | नान्यस्मै कस्मैचन | १५८ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|-----------------------------|---------|-------------------------------|---------|
| नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः४१९ | | प्रस्तोतर्या देवता | ६८ |
| निधनमिति त्र्यक्षरं | १०२ | प्राचीनशाल औपमन्यवः | ३११ |
| नैवैतेन सुरभि | २५ | प्राण इति होवाच | ७१ |
| न्यग्रोधफलमत आहरे० | ३९४ | प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः | १९४ |
| प | | प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति | ३२६ |
| पञ्च मा राजन्यबन्धुः | २७८ | प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः | ९३ |
| परोवरीयो हास्य | ९४ | प्राणो वा आशाया | ४४९ |
| पर्जन्यो वाव गौतमाग्नि० | २८५ | प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि | ४५२ |
| पशुषु पञ्चविधः | ९२ | प्राप हाचार्यकुलं | २३१ |
| पुरा तृतीयसवनस्यो० | १३५ | ब | |
| पुरा प्रातरनुवाकस्यो० | १३२ | बलं वाव विज्ञानाद्भूयो | ४३५ |
| पुरा माध्यंदिनस्य | १३४ | ब्रह्मणः सोम्य ते पादं | २२५ |
| पुरुषः सोम्योत | ४०६ | ,, ,, | २२७ |
| पुरुषः सोम्योतोपतापिनं | ४०४ | ,, ,, | २२९ |
| पुरुषो वाव गौतमाग्नि० | २८७ | ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति | २२३ |
| पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य | १८३ | ब्रह्मवादिनो वदन्ति | १३१ |
| पृथिवी वाव गौतमाग्नि० | २८६ | ब्रह्मविदिव वै सोम्य | २३१ |
| पृथिवी हिंकारोऽन्त० | १११ | भ | |
| प्रजापतिर्लोकानभ्य० | १२९ | भगव इति ह प्रतिशुभ्राव | २४२ |
| ,, ,, | २५२ | भगवाः स्त्वेव मे सर्वै० | ७० |
| प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो | ३१८ | भवन्ति हास्य पशवः | ९२ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|------------------------|---------|-----------------------|---------|
| मघवन्मर्त्यं वा इदं | ५३० | यथाश्मानमाखणमृत्वा | २४ |
| मटचीहतेषु कुरुष्वाम् | ६४ | यथा सोम्य पुरुषं | ३९९ |
| मद्गुष्टे पादं वक्तेति | २२९ | यथा सोम्य मधु मधुकृतो | ३८६ |
| मनो ब्रह्मेत्युपासी० | १९२ | यथा सोम्यैकेन | ३३७ |
| मनोमयः प्राणशरीरो | १७४ | यथा सोम्यैकेन नखनि० | ३३९ |
| मनो वाव वाचो भूयो | ४२३ | यथा सोम्यैकेन लोह० | ३३८ |
| मनो हिंकारो | १०४ | यथेह क्षुधिता बाला | ३३२ |
| मनो होच्चक्राम | २६३ | यदग्ने रोहितं रूपं | ३५७ |
| मानवो ब्रह्मैवैक० | २५५ | यदादित्यस्य रोहितं | ३५८ |
| मासेभ्यः पितृलोकं | २९८ | यदाप उच्छुष्यन्ति | २१४ |
| मासेभ्यः संवत्सरं | २९२ | यदा वा ऋचमाग्नो० | ३९ |
| य | | यदा वै करोत्यथ | ४५७ |
| यं यमन्तमभिकामो | ४८३ | यदा वै निस्तिष्ठत्यथ | ४५६ |
| य आत्मापहतपाप्मा | ५०६ | यदा वै मनुतेऽथ | ४५५ |
| य एष स्वप्ने महीयमान० | ५२३ | यदा वै विजानात्यथ | ४५४ |
| य एषोऽक्षिणि पुरुषो | २४४ | यदा वै श्रद्धाधात्यथ | ४५६ |
| यच्चन्द्रमसो रोहितं | ३५८ | यदा वै सुखं लभतेऽथ | ४५७ |
| यत्र नान्यत्पश्यति | ४५९ | यदुदिति स उद्रीथो | ९५ |
| यथा कृतायविजिताया० | २०५ | यदु रोहितमिवाभूदिति | ३६१ |
| ” ” | २०७ | यद्विज्ञातमिवाभूदि० | ३६१ |
| यथा विलीनमेवाङ्गास्या० | ३९६ | यद्विद्युतो रोहितं | ३५८ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|-------------------------------|---------|----------------------------|---------|
| यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं | १६१ | लो३कद्वारमपावा३र्णू | १३४ |
| यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं | १६३ | ” ” | १३२ |
| यस्तद्वेद स वेद | ११६ | ” ” | १३५ |
| यस्यामृचि तामृचं | ३५ | लोकेषु पञ्चविधः | ८६ |
| यां दिशमभिष्टोष्य० | ३६ | लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो | ११३ |
| या वाक्सर्क्तस्माद० | ३१ | व | |
| यावान्वा अयमाकाश० | ४७४ | वर्षति हास्मै | ८९ |
| या वै सा गायत्रीयं | १६० | वसन्तो हिंकारो | ११० |
| या वै सा पृथिवीयं | १६१ | वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ० | २७२ |
| येन च्छन्दसा | ३५ | वागेव ब्रह्मणश्चतुर्यः | १९३ |
| यो वै भूमा तत्सुखं | ४५८ | वागेवकर्पणः | १३ |
| योषा वाव गोतमाग्नि० | २८८ | वाग्वाव नाम्नो भूयसी | ४२१ |
| यो ह वा आयतनं | २६१ | वायुर्वाव संवर्गो | २१३ |
| यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च | २५९ | विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो | ४३३ |
| यो ह वै प्रतिष्ठां वेद | २६० | विनर्दि साम्नो वृणे | ११७ |
| यो ह वै वसिष्ठं वेद | २६० | वृष्टौ पञ्चविधः | ८९ |
| यो ह वै संपदं वेद | २६१ | वेत्थ यथासौ लोको | २७७ |
| र | | वेत्थ यदितोऽधि | २७६ |
| रैक्केमानि षट्शतानि | २०९ | व्याने तृप्यति श्रोत्रं | ३२८ |
| ल | | श | |
| लवणमेतदुदकेऽवधायाथ | ३९६ | श्यामाच्छबलं प्रपद्ये | ५४७ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|------------------------------|---------|---------------------------|---------|
| श्रुत् ५ ह्येव मे भगवद्दृशे० | २३२ | स ब्रूयान्नास्य जरयैत० | ४७६ |
| श्रोत्र ५ होच्चक्राम | २६३ | समस्तस्य खलु साम्न | ८३ |
| श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः | १९४ | समान उ एवायं | ३० |
| श्रोत्रमेवर्द्धनः साम | ५० | समाने तृप्यति मन० | ३२९ |
| श्वेतकेतुर्हारीण्यः | २७६ | स य आकाशं ब्रह्मेत्यु० | ४४४ |
| ” ” | ३३५ | स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त | ४४८ |
| श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं | ३३७ | स य इदमविद्वानग्नि० | ३३० |
| ष | | स य एतदेवं विद्वान० | ३९ |
| षोडशकलः सोम्य | ३६८ | स य एतदेवं विद्वान्साधु० | ८५ |
| स | | स य एतदेवममृतं वेद | १४९ |
| संकल्पो वाव मनमो | ४२५ | ” ” | १५१ |
| स एतां त्रयीं विद्याम० | २५२ | ” ” | १५२ |
| स एतास्तिष्ठो देवता | २५२ | ” ” | १५४ |
| स एवमेतद्वायवं | १०४ | ” ” | १५५ |
| स एवाधस्तात्स उपरि० | ४६२ | स य एतमेवं विद्वा ५ ॥ ० | २२४ |
| स एष परोवगीयानुद्धी० | ६२ | ” ” | २२६ |
| स एष ये चैतस्माद० | ५२ | ” ” | २२८ |
| स एष रसाना ५ | ११ | ” ” | २३० |
| स जातो यावदायुष | २९१ | स य एतमेवं विद्वाना० | १९९ |
| सत्यकामो ह जाबालो | २१९ | स य एतमेवं विद्वानुपास्ते | २३८ |
| सदेव सोम्येदमग्र | ३४१ | ” ” | २४० |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|------------------------------|---------|-------------------------------|---------|
| स य एतमेवं विद्वानुपास्ते | २४१ | स यथा शकुनिः सूत्रेण | ३७६ |
| स य एवमेतत्साम | ११५ | स यथोभयपाद्वज्रयो० | २५१ |
| स य एवमेतद्बृहदादित्ये | १०८ | स यदवोच्चं प्राणं | १८१ |
| स य एवमेतद्यज्ञा० | ११३ | स यदशिशिषति | १८८ |
| स य एवमेतद्रथं० | १०५ | स यदि पितरं वा मातरं | ४५० |
| स य एवमेतद्राजनं | ११४ | स यदि पितृलोककामो | ४८१ |
| स य एवमेतद्दामदेव्यं | १०६ | स यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः | २५३ |
| स य एवमेतद्वैराजं | ११० | स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते | ४३० |
| स य एवमेतद्वैरूपं | १०९ | स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते | ४४२ |
| स य एवमेताः शक्रर्यो | १११ | स यावदादित्य उत्तरत | १५५ |
| स य एवमेता रेवत्यः | ११२ | स यावदादित्यः | १५० |
| स य एषोऽणिमैतदात्म्य० | ३८४ | स यावदादित्यः पश्चाद्भु० | १५४ |
| ” ” | ३८८ | स यावदादित्यः पुर० | १५१ |
| ” ” | ३९० | स यावदादित्यो दक्षिणत | १५२ |
| ” ” | ३९५ | स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते | ४३१ |
| ” ” | ३९८ | स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते | ४२० |
| ” ” | ४०३ | स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते | ४३८ |
| ” ” | ४०५ | स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त | ४४० |
| स यः संकल्पं ब्रह्मेत्यु० | ४२७ | स यो वलं ब्रह्मेत्युपास्ते | ४३५ |
| स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते | ४४५ | स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते | ४२४ |
| स यथा तत्र नादाद्वै० | ४०७ | स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते | ४२२ |

| | पृष्ठम् | | पृष्ठम् |
|---------------------------------|---------|--------------------------|---------|
| स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते | ४३४ | स ह हारिद्रुमतं गौतम० | २२० |
| सर्वे खल्विदं ब्रह्म | १७३ | स हाशाथ हैनमुपससाद | ३७० |
| सर्वकर्मा सर्वकामः | १७७ | स हेभ्यं कुल्माषान्त्वा० | ६४ |
| सर्वास्वप्सु पञ्चविधः | ९० | स होवाच किं मेऽन्नं | २६८ |
| सर्वे स्वरा इन्द्रस्या० | ११८ | स होवाच किं मे वासो | २६९ |
| सर्वे स्वरा घोषव्रन्तो | ११९ | स होवाच भगवन्तं | ७० |
| स वा एष आत्मा हृदि | ४८६ | स होवाच महात्मनश्च० | २१५ |
| स समित्पाणिः पुनरेयाय | ५२० | स होवाच विजानाम्यहं | २३५ |
| ” ” | ५२४ | सा ह वागुच्चक्राम | २६२ |
| ” ” | ५२७ | सा हैनमुवाच नाहमे० | २१९ |
| स ह क्षत्तान्विध्य ना० | २०८ | सेयं देवतैश्चत | ३५३ |
| स ह ख्मादित्वाति० | ६६ | सैषा चतुष्पदा षड्विधा | १६२ |
| स ह गौतमो राज्ञो | २७९ | सोऽधस्ताच्छकटस्य | २०८ |
| स ह द्वादशवर्ष उपेत्य | ३३६ | सोऽहं भगवो मन्त्रत्रिदे० | ४१७ |
| स ह पञ्चदशाहानि | ३६९ | स्तेनो हिरण्यस्य सुरां | ३०९ |
| स ह प्रातः संजिहान | ६६ | स्मरो वावाकाशाद्भूयस्त० | ४४५ |
| स ह व्याधिनानशितुं | २३४ | ह | |
| स ह शिलकः | ५६ | ह२सस्ते पादं वक्तेति | २२७ |
| स ह संपादयांचकार | ३१२ | हन्ताहमेतद्भगवत्तो | ५९ |

72401





Central Archaeological Library,

NEW DELHI.

72401

Call No. Sa 2. Bh
Sam / Sac.

Author— शंकराचार्य

Title— श्रीशंकर ग्रंथावलि
Vol 9

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.

S. B., 148. N. DELHI.